द्वैमासिक, जुलाई-अक्टूबर '97 • पन्द्रह रुपये

दायित्वबोध

उन बुद्धिजीवियों की पत्रिका जिन्होंने जनता का पक्ष चुना है

माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य

कला का मनोविज्ञान
-सेर्गेई आइजेंस्ताइन

सर्वहारा का सर्वतोमुखी अधिनायकत्व
-चाङ चुन चियाओ

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त

नया वर्ष
नयी उम्मीदें
नयी तैयारियों
नयी शुरुआतों के नाम,
पराजय की घड़ी में भी
विजय के स्वप्नों के नाम,
लगातार लड़ते रहने की
जिद के नाम
संकल्पों के नाम
जीवन, संघर्ष और सृजन के नाम

निराशा, पस्तहिम्मती, अनिश्चय और अविवेक के
कुहासे भरे इस माहौल में
अपने अपनों को
आशा, उत्साह और जीवन को बेहतर बनाने के प्रण
से लबरेज़ पैग़ाम भेजिए

सुन्दर, सुरुचिपूर्ण और सोद्देश्य बधाई कार्ड

निराला, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, फैज, बेणु गोपाल, मायकोवस्की, जोस दि दिएगो, कात्यायनी आदि की कविताओं और कलात्मक चित्रांकनों से सज्जित रंगीन आकर्षक कार्ड

छोटे बड़े कार्ड्स का सेट 30 नवम्बर से उपलब्ध

छोटे कार्ड 3 रुपये बड़े कार्ड (लिफाफे के साथ) - 8 रुपये*

सम्पर्क करें : ➲ प्रांजल स्क्रीन प्रिण्टर्स ऐण्ड डिजाइनर्स, 3/274, विश्वासखण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010 ☎ 393896 ➲ जनचेतना स्टाल, निकट काफी हाउस, हजरतगंज, लखनऊ ➲ जनचेतना, जाफरा बाजार गोरखपुर, संस्कृतिकुटीर, कल्याणपुर, गोरखपुर-273001 ☎ 338922

मनीआर्डर और बैंक ड्राफ्ट **कविता श्रीवास्तव** के नाम निम्न पते पर भेजें : प्रांजल, 3/274, विश्वासखण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226010

** आप ये कार्ड खरीद कर जनपक्षधर, प्रगतिशील पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों के प्रकाशन में सहयोग भी करेंगे।*

इस कठिन अंधेरे दौर में, क्रान्तिकारी प्रबोधन की नयी मुहिम के सहभागी बनें!

दायित्वबोध के सहयोगी बनें!!

हम सभी परिवर्तनकामी बुद्धिजीवियों का आह्वान करते हैं
दायित्वबोध को एक बौद्धिक-सांस्कृतिक आन्दोलन का वाहक बनाने में सहयोग दें!

- ➢ इसे ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुचायें!
- ➢ प्रतिक्रिया, सुझाव रचनाएं भेजें!
- ➢ अपने-अपने क्षेत्र में व्यापक समदस्यता-अभियान चलायें और इसके वितरण का दायित्व सम्भालें!
- ➢ इसके लिए विज्ञापन जुटायें!

विशेष सूचना :
दायित्वबोध के कुछ पुराने एवं महत्वपूर्ण अंकों का सेट उपलब्ध है इच्छुक पाठक लिखें या सम्पादकीय कार्यालय पर सम्पर्क करें।

सम्पर्क करें : प्रसार व्यवस्थापक, 3/274, विश्वासखण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226010 फोन : 393896

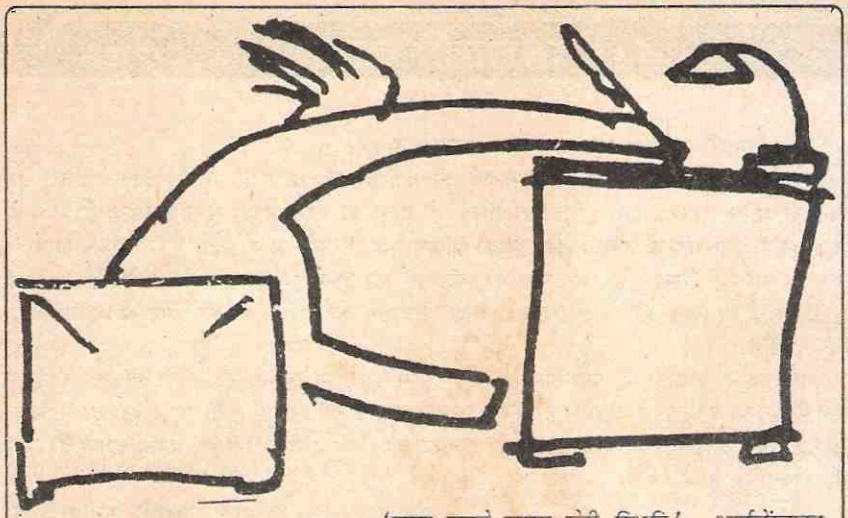

'काम करते समय मेरी स्थिति' : आईजेंस्टाइन

26 कला का मनोविज्ञान

• सेर्गेई मिखाइलोविच आइजेंस्ताइन

कला की पद्धति का रहस्य क्या है? वह रहस्यमयी प्रक्रिया क्या है जिसके तहत प्रकृति की कोई परिघटना कला का तथ्य बन जाती है? जीवन का तथ्य कला के तथ्य में किस प्रकार रूपान्तरित हो जाता है? कला में मौजूद प्रभावोत्पादकता के मूल स्रोत क्या हैं? - आइजेंस्तांइन ने इन मूलभूत प्रश्नों पर विचार करते हुए अपने इस निबन्ध में कला की रचना-प्रक्रिया सम्बन्धी मूलभूत सूत्रों को उद्घाटित करने की कोशिश की है।

एक ऐतिहासिक विश्वासघात और उसके बाद की अंधकारमय अर्द्धशताब्दी 5

आजादी कोई वर्ग-निरपेक्ष शब्द नहीं है। भारत को जो आजादी मिली, उसका अलग-अलग वर्गों के लिए अलग-अलग अर्थ था। जनता की वास्तविक स्वतंत्रता हासिल करने का काम अब केवल ऐसी नई सर्वहारा क्रान्ति ही कर सकती है जो मुनाफे और बाजार के लिए उत्पादन की पूरी व्यवस्था को ही नष्ट कर एक नई प्रणाली कायम करे जिसमें उत्पादन सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हो और उत्पादों का समानतापूर्ण बंटवारा हो।

35 माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य

• रेमण्ड लोट्टा

क्या समाज को एक ऐसे आधार पर संगठित किया जो सकता हे जो शोषण, प्रतियोगिता और व्यक्तिगत लाभ के आधार से भिन्न हो? क्या सामाजिक अलगाव, सामाजिक विघटन, नौकरशाहाना प्रभुत्व और पर्यावरणीय इस आर्थिक और तकनोलॉजिकीय विकास के अपरिहार्य परिणाम है?

क्रान्तिकारी चीन में 1949 से 1976 तक रहे मुक्तिदायी समाजवाद के ठोस उदाहरण से इन प्रश्नों के उत्तर देते हुए एक मुक्तिदायी अर्थशास्त्र से परिचय कराने वाला एक अत्यन्त महत्वपूर्ण लेख

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के चुने हुए दस्तावेज और लेख - तीन 20

बुर्जुआ वर्ग के ऊपर
सर्वतोमुखी अधिनायकत्व
लागू करने के बारे में

- चाङ चुन-चियाओ

इस अंक में

आपकी बात 4

अपनी बात

एक ऐतिहासिक विश्वासघात और उसके बाद की अंधकारमय अर्द्धशताब्दी....5

टिप्पणियां

○ 'एशियन टाइगर्स' अब भीगी बिल्ली बनने की राह पर : भारत के लिए सबक ○ आर्थिक नव-उपनिवेशवाद की लुटेरी नीतियां कैसे काम कर रही हैं ○ तमाम महत्वपूर्ण योजनाओं को "फालतू" और "गैर-जरूरी" कहकर खत्म कर देने की साजिश ○ निर्यातोन्मुख कृषि की अन्धी दौड़ यानी छोटे किसानों की तबाही ○ "खाद्य गलियारा" : उप-सहाराई अफ्रीका पर एक नया साम्राज्यवादी हमला ○ भारतीय जैव-सम्पदा और जैव-विविधता की भारी लूट....12-17

विचारधारात्मक प्रश्न

मार्क्सवाद के विरोध में "नव" -दक्षिणपंथी लोकरंजकतावाद के नये-नये मिथक — *विश्वनाथ मिश्र*....18

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के चुने हुए दस्तावेज और लेख - तीन

बुर्जुआ वर्ग के ऊपर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में — *चाङ चुन-चियाओ*....20

कला-चिन्तन

कला का मनोविज्ञान — *सेर्गेई मिखाइलोविच आइजेंस्ताइन*....26

पुस्तक चर्चा

माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य — *रेमण्ड लोट्टा*....35

शिक्षानीति

उच्च *शिक्षा : रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट* — शिक्षकों को परेशान करने और उनकी समस्त रचनात्मकता को कुन्द कर लालफीताशाही में जकड़ डालने का एक गहरा साजिशाना इन्तजाम....53

कृषि नीति

○ "टिकाऊ खेती" : साम्राज्यवादी सुरक्षा ल — *अरुण किशोर नवल*....56

○ भारतीय कृषि का भूमण्डलीकरण — *ए.सी. मिनोचा*....58

पर्यावरण

रियो सम्मेलन के पांच वर्ष : पर्यावरणीय विनाश की तान पर पर्यावरणीय सुरक्षा का भ्रमर-गुंजन....60

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (बारहवीं किस्त)

समाजवादी समाज मानव इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात करता है....61

इस अंक के सभी रेखाचित्र : सेर्गेई मिखाइलोविच आइजेंस्ताइन

"समाजवाद के निर्माण का अर्थ केवल विशालकाय फैक्टरियों और आटे की मिलों का निर्माण करना नहीं है। ये चीजें जरूरी हैं, किन्तु समाजवाद का निर्माण इतने से ही नहीं हो सकता। आवश्यक है कि लोगों के मस्तिष्कों और हृदयों का भी विकास किया जाये। और प्रत्येक व्यक्ति की इस वैयक्तिक उन्नति के आधार पर, अन्ततोगत्वा एक, नये प्रकार की बलशाली समाजवादी सामूहिक इच्छा की सृष्टि की जाये जिसके अन्दर "मैं" और "हम" अभिन्न रूप में मिलकर एकाकार हो जायें। इस तरह की सामूहिक इच्छा का विकास गहरी वैचारिक एकता तथा उतने ही गहरे पारस्परिक सौहार्दभाव एवं आपसी समझदारी के आधार पर ही किया जा सकता है।"

– नदेज़्दा क्रुप्सकाया

दायित्वबोध

वर्ष-4 अंक 5-6; जुलाई-अक्टूबर, 1997

प्रधान सम्पादक : **विश्वनाथ मिश्र**
सहायक सम्पादक : **अरविन्द सिंह**
संयुक्त सम्पादक : **ओमप्रकाश सिन्हा**
सत्यम वर्मा
आवरण : **रामबाबू**

सम्पादकीय कार्यालय :
3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010 फोन : 393896

एक प्रति : 15 रुपये
वार्षिक : 90 रुपये
आजीवन : 1000 रुपये

●

सम्पादन एवं संचालन
पूर्णत: अवैतनिक एवं अव्यावसायिक

कम्पोजिंग : **कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010**

स्वत्वाधिकारी विश्वनाथ मिश्र द्वारा एम. डब्ल्यू, 6/221, बेनीगंज, गोरखपुर से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा आफसेट प्रेस, नखास, गोरखपुर से मुद्रित

आपकी बात

–'दायित्वबोध' का मार्च-जून' 97 अंक मिला। धन्यवाद।

सम्पादकीय में मजदूर सर्वेश के आत्मदाह की कोशिश की घटना के मार्फत आपने मौजूदा ट्रेड यूनियनों के चरित्र का तथा, तथाकथित वामपंथियों के छद्म का बहुत अच्छा खुलासा किया है, साथ ही नई कान्तिकारी शक्तियों के उद्भव तथा इसकी प्रक्रिया पर जो बातें आपने रखी हैं, वे स्वागतयोग्य हैं। सचमुच ही वामपंथी चिन्तन और सक्रियता की पत्रिकाएं अब इक्का-दुक्का ही निकल रही हैं। उनमें भी सही सैद्धान्तिक विवेचना और अन्तर्दृष्टि यदा-कदा ही देखने को मिलती है। इस दृष्टि से 'दायित्वबोध' महत्व रखता है।

'दायित्वबोध' लगातार मेरे पास आती है और उसे मैं पढ़ता भी रहा हूं। कई साथी लोग भी पढ़ने को ले जाते हैं। इन पर कुछ बहसें भी होती हैं। कुल मिलाकर एक ताजगी और सोच के नए आयाम इससे मिलते हैं। आपको और आपकी सारी टीम को हमारी शुभकामनाएं। हम आपको सहयोग करना चाहते हैं। बिना किसी औपचारिकता के लिखें।

– शंभु गुप्त, 130, नसियां कालोनी, गंगापुर सिटी

–'दायित्वबोध' का मार्च-जून' 97 अंक यथा समय प्राप्त हो गया। धन्यवाद। यह देखकर प्रसन्नता होती है कि 'दायित्वबोध' के जरिये आप निरन्तर पाठक-वर्ग की चेतना विकसित करने का काम कर रहे हैं।

इस अंक में आपने मई दिवस पर सर्वेश के आत्मदाह की चर्चा जिस प्रतीकात्मक ढंग से की है, वह इस बात का प्रमाण है कि ऐसे मजदूर जो आजीवन पूंजीवादी शोषण के शिकार होते रहते हैं, उनके सामने पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध एकजुट हो जाने के सिवा दूसरा कोई विकल्प नहीं है। वैसे इतिहास भी साक्षी है। आज भी शिकागो के मजदूरों से सबक लेने की जरूरत है, जिनसे मई दिवस की शुरुआत हुई। वैसे नौवी योजना के एप्रोच पर विश्वनाथ मिश्र का आलेख तथा आलोक रंजन, चक्रवर्ती राघवन, कात्यायनी, डा. रविरंजन तथा भूपेश कुमार सिंह के आलेख भी विचारोत्तेजक हैं। इनके अलावा पेरिस कम्यून की 126वीं वर्षगांठ के अवसर पर दी गई सामग्री भी महत्वपूर्ण है। पाश पर कविताएं तो महत्व की हैं ही।

– राम निहाल गुंजन, नया शीतल टोला, आरा (बिहार)

–'दायित्वबोध' का विशेष संयुक्तांक (नवम्बर' 96-फरवरी' 97) पर इतनी महत्वपूर्ण और आवश्यक सामग्री एक साथ देखकर बेहद संतोष हुआ। माओ त्से-तुङ के जन्मदिवस पर प्रस्तुत दस्तावेज माओ को समझने की सुलझी हुई दृष्टि तो देता ही है हमारे बहुत सारे वैचारिक भ्रमों को भी साफ करता है। संयोग से मेरे पास उपलब्ध प्रति में यह लेख अधूरा ही आ पाया है, इसके पांच पेज गायब हैं, संभवत: बांइडिंग के वक्त छूट गया है। अत: पूरा नहीं पढ़ सका पर आधे लेख ने ही बहुत संतुष्टि दी।

साहित्य चिंतन के अंतर्गत फ्रेडरिक एंगेल्स के दोनों पत्र महत्वपूर्ण हैं। आज उत्तर आधुनिकता के नाम पर बड़ी हायतौबा मची है पर बुनियादी सवालों पर इसके पैरोकार और विरोधी दोनों मौन रहते हैं। शाब्दिक वाग्विलास ही आज तथाकथित साहित्यिक बुद्धिजीवियों का शगल है। सक्रियता या समाज से जुड़ाव उनकी नज़र में नीचे की चीज है। यानी एक बौद्धिक पेटी बुर्जुआ वर्ग निरंतर भ्रम फैलाने में संलग्न है साम्राज्यवादियों की शह पर। इनका पर्दाफाश करना जरूरी है।

– शैलेन्द्र चौहान, सम्पादक - 'धरती', 517, सेक्टर - 17, फरीदाबाद (हरियाणा)

–'दायित्वबोध' का नया अंक प्राप्त हुआ। आपकी लगन से, पाठकों की सोयी भावना जगाकर जनता के हित में कुछ न कुछ करने की प्रेरणा मिल रही है। सच कहें तो यह पत्रिका जनता के पक्ष में काम करने वालों के हाथों में हथियार है। बस इस हथियार में देश के विभिन्न हिस्सों में चल रहे आंदोलनों के समाचार की कमी है। इसे भी स्थान मिले तो हथियार और भी तेज और बुलंद होगा। आंध्र, बिहार, दण्डाकारण्य में हो रहे जनआंदोलन को कुचलने के लिए सरकारी तौर पर हो रहे अत्याचार, हत्याएं भी पाठकों को बता सकें तो अच्छा होगा। ये दो कमी पूरी हो गयी तो पत्रिका और भी वैविध्यपूर्ण होगी। इस कमी पर भी नजर डालिएगा।

– एम. डी. नईमोद्दीन, राजनैतिक कैदी, सेन्ट्रल जेल, सिकन्दराबाद

'दायित्वबोध' (वर्ष 4, अंक 3-4) प्राप्त होते ही सूचना भेज रहा हूं। अभी तक का रिकार्ड अच्छा है और प्रतिक्रिया भी अच्छी मिल रही है, भविष्य में और भी अच्छा होगा, यही कामना करते हुए कलम रोकता हूं।

– राकेश 'गोर्खा', सिलीगुड़ी, दार्जीलिंग

'दायित्वबोध' उत्तरोत्तर विकासोन्मुख है – सामग्री और सौन्दर्य, दोनों के लिहाज से, बस इसकी नियमितता सुनिश्चित करें।

– आकाश कुमार, बौलिया रेलवे कालोनी, गोरखपुर

इस बार...

देश की आजादी के पचास साल पूरे होने पर पूरे देश में जश्न मनाये जा रहे हैं। दूरदर्शन और तमाम बुर्जुआ समाचार-पत्र तरह-तरह से आजादी के 50 स्वर्णिम वर्षों के "गौरव" के बारे में सामग्री परोस रहे हैं। संसद का एक ऐतिहासिक सत्र भी चला जिसमें आपसी भेदभाव भुलाकर सबने भारत की संसदीय प्रणाली की महिमा बखानी!

उधर दूसरी ओर पूंजीवादी अर्थनीति और राजनीति के खेल के मैदान कुछ और सिकुड़ गये हैं। संकट कुछ और गहरा हो गया है। देश ज्वालामुखी के दहाने की ओर कुछ कदम और खिसक गया है।

"स्वतंत्रता के स्वर्ण जयन्ती वर्ष" का हमारे लिए और पूरी आम जनता के लिए भी एक महत्व है! हमारे लिए यह सिंहावलोकन का समय है। उस आजादी के चरित्र और वास्तविकता की पहचान का समय है, जिसने आधी सदी के दौरान आम जनता के लिए सिर्फ तबाहियों-बर्बादियों का नर्क ही बनाया है। विकास के सभी फल मुट्ठी भर लोगों की इन्द्रपुरी, अलकापुरी में सिमट कर रह गये हैं।

'अपनी बात' स्तम्भ की अबतक की परम्परा को तोड़कर इसबार हम इस स्तम्भ के अन्तर्गत मजदूर बुलेटिन 'बिगुल' (जुलाई-सितम्बर' 97) द्वारा "स्वर्णजयन्ती वर्ष" के मौके पर प्रकाशित विशेष सम्पादकीय अग्रलेख को प्रकाशित कर रहे हैं। यह हमारी भी बात है। और हम समझते हैं कि यह हर उस आदमी के लिए सोचने की बात है जिसका इतिहास, भविष्य और जनता के प्रति कुछ सरोकार है; जो मौजूदा दौर को 'इतिहास का अंत' नहीं मानता, जिसकी जीवन, संघर्ष और सृजन में आस्था है और जो मानता है कि हार और जीत के कई चक्रों से गुजरकर क्रान्तियों की जय-यात्रा लगातार जारी रहती है, क्रान्तियां कभी मरती नहीं।

– सम्पादक

एक ऐतिहासिक विश्वासघात और उसके बाद की अंधकारमय अर्द्धशताब्दी

15 अगस्त 1997 की आधी रात को संसद के उसी हाल में 50 वर्षों पहले खेला गया नाटक दुहराया गया। आधी सदी के इस समय के दौरान इस आजादी के जो अर्थ, नतीजे और प्रभाव देश की 75 फीसदी आम आबादी को झेलने पड़े हैं, उनके मद्देनजर आधी रात का वह नाटक एक भोंडे स्वांग से अधिक कुछ भी नहीं हो सकता था। और ऐसा ही हुआ। जिस भव्य शानो-शौकत और तड़क-भड़क के साथ स्वतंत्रता के स्वर्णजयन्ती वर्ष की शुरुआत हुई, वह गरीबी, बेरोजगारी, लगातार बढ़ती मंहगाई, छंटनी-तालाबन्दी, कुपोषण-बीमारियों-महामारियों और लगातार सत्ता के दमन का कहर झेलती जनता के साथ एक क्रूर और भद्दे मजाक के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।

जिस आजादी को प्रसिद्ध शायर फ़ैज़ ने 'दाग़-दाग़ उजाला' कहा था, वह आधी सदी बीतते-बीतते अमावस के अंधेरे में तबदील हो चुकी है।

सवाल यह है कि अंग्रेजों के जाने के बाद कायम हुए देशी शासन के पचास वर्षों ने आम मेहनतकश जनता को ऐसा क्या दिया है कि वह इसका जश्न मनाये? यूं तो आंकड़ेबाजी एक उबाऊ चीज होती है, पर पूरे देश की व्यापक सच्चाइयों की एक तस्वीर सामने लाने के लिए कुछ चुनिन्दा आंकड़ों पर नजर डाल लेना एक सरल रास्ता है, अतः ऐसा करना गलत नहीं होगा। हम कुछ तथ्य आपके सामने पेश कर रहे हैं। यहां यह बता देना भी जरूरी है कि ये आंकड़े मुख्यतः सरकारी स्रोतों से, जाने-माने अर्थशास्त्रियों की पुस्तकों व लेखों से और शोध-संस्थानों की रिपोर्टों से लिये गये हैं।

आधी सदी की दुखदाई कहानी : आंकड़ों की जुबानी

15 अगस्त 1947 को भारत न सिर्फ विदेशी कर्ज से पूरी तरह मुक्त था, बल्कि उल्टे ब्रिटेन पर भारत का 16.12 करोड़ रुपये का कर्ज था। आज देश पर कुल 50 खरब (50,000 करोड़) रुपये का बोझ लदा हुआ है। इसकी गंभीरता का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि कर्ज का यह बोझ भारत सरकार की कुल सम्पत्ति के लगभग बराबर है और देश में सालाना होने वाले कुल उत्पादन की कीमत का आधा है। जो नये विदेशी कर्जे लिये जा रहे हैं उनका लगभग 40 फीसदी हिस्सा कुल विदेशी कर्जों की किश्तों और सूद के भुगतान पर ही खर्च होता है। 50 खरब रुपये के विदेशी कर्ज के अतिरिक्त देश की अर्थव्यवस्था पर 40 खरब रुपये के घरेलू कर्ज की रकम का भी बोझ है। केन्द्र सरकार द्वारा वसूले जाने वाले राजस्व की कुल रकम का लगभग आधा इन कर्जों के सूद के भुगतान पर खर्च हो रहा है।

औपनिवेशिक गुलामी के दौरान, इस सदी की शुरुआत में, देश में होने वाले कुल उत्पादन के 100 रुपये में से 5 रुपये साम्राज्यवादी शोषण के रूप में ब्रिटेन हड़प लेता था। 1947 में ब्रिटिश प्रभुत्व के खात्मे के बाद इसमें कमी आई और यह घटकर हर सौ रुपये में 23 पैसे रह गया। लेकिन फिर 1995-96 तक यह बढ़कर हर सौ रुपये में 4 रुपये हो चुका है। 1948-49 में भारत का साम्राज्यवादी शोषण 20 करोड़ रुपये था जो 1995-96 तक बढ़ते हुए 3 खरब रुपये (30,000 करोड़ रुपये) तक जा पहुंचा।

साम्राज्यवादी लूट में कुल बढ़ोत्तरी कितनी अधिक हुई है, इसका अन्दाजा लगाने के लिए ऊपर के आंकड़ों को इस तथ्य के साथ जोडकर देखना होगा कि ब्रिटिश गुलामी से मुक्ति के बाद के पचास वर्षों में हमारे देश के मेहनतकश अवाम ने उत्पादन में भारी वृद्धि की, जबकि इसके

पहले औपनिवेशिक शासन के सौ वर्षों के दौरान यह लगभग स्थिर बना रहा था। पिछले पचास सालों के दौरान (स्थिर कीमतों पर) देश का कृषि-उत्पादन 2 खरब 40 अरब रुपये से सवा तीन गुना बढ़कर 8 खरब रुपये और औद्योगिक उत्पादन 6 अरब रुपये से बारह गुना बढ़कर 7 खरब 40 अरब रुपये हो चुका है। लेकिन उत्पादन में इस भारी वृद्धि का सारा लाभ मुट्ठी भर लोगों की तिजोरियों में चला गया है और आम जनता इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर भी जिन्दगी की बुनियादी जरूरतें तक पूरा नहीं कर पा रही है।

कारण स्पष्ट है। आज देश के कुल उत्पादन के हर सौ रुपये में से 62 रुपये देशी-विदेशी पूंजी के मालिक हड़प लेते हैं जबकि आम मेहनतकश आबादी और मध्यम तबके की नौकरीपेशा आबादी के हिस्से में सिर्फ 38 रुपये ही आते हैं। इस 38 रुपये को भी अलग-अलग हिस्सों में बांटने पर पता चलता है कि इसमें से 25 रुपये संगठित क्षेत्र की श्रमशक्ति -- यानी सरकारी दफ्तरों में काम करने वाले लोगों से लेकर बड़े उद्योगों के मजदूरों के हिस्से में आता है, जो कुल श्रमशक्ति के मात्र दस प्रतिशत हैं। श्रमशक्ति के 90 प्रतिशत हिस्से को, जो असंगठित क्षेत्र और कृषि क्षेत्र में काम करता है और जिसकी आबादी 26 करोड़ के आसपास है, कुल उत्पादन के सौ रुपये में से सिर्फ 13 रुपये ही मिलते हैं।

पिछले पचास वर्षों में उत्पादन में भारी वृद्धि के चलते 1947 से 1995-96 के बीच प्रति व्यक्ति औसत आय 1126 रुपये से बढ़कर 2573 रुपये हो गई है, लेकिन गरीबी रेखा के नीचे जीने वाली आबादी लगातार बढ़ती जा रही है। आज यह देश की कुल आबादी की चालीस प्रतिशत है और गांवों में 50 प्रतिशत है। प्रति व्यक्ति औसत आय में वृद्धि आम आदमी की जिन्दगी में तरक्की का सूचक नहीं है क्योंकि जिस रफ्तार से उत्पादन बढ़ा है, उससे बहुत अधिक रफ्तार से धनी-गरीब के बीच की खाई बढ़ी है। इसका एक अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि आज सबसे ऊपर के 20 फीसदी लोग देश की कुल आमदनी के हर सौ रुपये में से 43 रुपये हड़प लेते हैं जबकि सबसे नीचे के 20 फीसदी लोगों के हिस्से सिर्फ साढ़े आठ रुपये ही आते हैं।

15 अगस्त 1947 की रात को भारतीय पूंजीपति वर्ग के नुमाइन्दे नेहरू ने ''प्रारब्ध से किये गये जिस करार'' (Tryst with destiny) के पूरा होने की बात की थी, उसके क्या नतीजे सामने आये? नेहरू की ''समाजवादी'' लफ्फाजी की असलियत आज जनता के सामने है। कहा जा सकता है कि भारतीय पूंजीपति वर्ग के योग्य प्रतिनिधि के तौर पर नेहरू ने प्रारब्ध से जो करार परदे के पीछे किया था उसे उन्होंने और फिर उनके उत्तराधिकारियों ने जरूर पूरा किया -- आम मेहनतकश अवाम को छलकर।

देश के शीर्षस्थ इजारेदार (एकाधिकारी) पूंजीपति घरानों की पूंजी में पिछली आधी सदी के दौरान चार-चार सौ गुने और पांच-पांच सौ गुने की बढ़ोत्तरी हुई है और इनकी कतारों में कुछ तो ऐसे नये पूंजीपति भी शामिल हुए हैं जिनकी पूंजी में मात्र बीस वर्षों के भीतर हजार-हजार गुने तक की बढ़ोत्तरी हुई है। कुछ वर्षों पहले तक जिसे काले धन की समानान्तर अर्थव्यवस्था की संज्ञा दी जा रही थी वह आज सफेद धन की अर्थव्यवस्था पर हावी दीख रही है। काला धन आज कुल घरेलू उत्पादन का 80 फीसदी हो चुका है। कारपोरेट घोटालों और वित्तीय क्षेत्र के घोटालों को छोड़ भी दें तो सिर्फ राजनीतिज्ञों द्वारा प्रतिवर्ष अरबों के घोटाले किये जा रहे हैं। पूंजीपतियों, व्यापारियों, भूस्वामियों, धनी किसानों, ठेकेदारों, दलालों, तस्करों आदि के साथ ही अफसरों, नेताओं, ऊंचे पदों पर आसीन प्रोफेसरों, पत्रकारों तथा मीडिया व सत्तातंत्र के सुविधाभोगी बुद्धिजीवियों की परजीवी जमात पिछले पचास वर्षों के दौरान तेजी से फली-फूली है। **आबादी के इस 15-20 फीसदी हिस्से ने अमरबेल की तरह समाज को छापकर निचोड़ डाला है। दरिद्रता के महासागर में यही लोग समृद्धि के टापू बसाये हुए हैं और उन पर विलासिता की मीनारें खड़ी करते जा रहे हैं।** देश की 95 करोड़ की आबादी में से 64 करोड़ आबादी गरीबी और बदहाली में जीने से लेकर खींचतान कर अपनी बुनियादी जरूरतें पूरी कर लेने वालों की है। जिन्हें दो जून का खाना तक नियमित नहीं मिल पाता उनकी संख्या सरकारी आंकड़ों के मुताबिक 15 करोड़ से बढ़कर 38 करोड़ हो चुकी है।

जिन्हें सरकार बेरोजगार मानती है, उनकी संख्या भी विगत आधी सदी में 33 लाख से 6 गुना बढ़कर 2 करोड़ के ऊपर पहुंच चुकी है। लेकिन अधिकांश शीर्षस्थ विशेषज्ञ अर्थशास्त्रियों की राय में बेरोजगारों की संख्या इस समय 20 करोड़ से 24 करोड़ के बीच है। उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों की ''कृपा'' से यह संख्या इक्कीसवीं सदी आते-आते दूनी हो जायेगी।

देश के हर सौ में से 53 बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। हर सौ में से 64 स्त्रियां अनपढ़ हैं। हर सौ में से 67 स्त्रियों को गर्भावस्था के दौरान इलाज की कोई सहूलियत नसीब नहीं होती। मानव विकास सूचकांक की नजर में भारत श्रीलंका से भी काफी नीचे 138 वें स्थान पर है। एक ओर तो इसे दुनिया की दस बड़ी औद्योगिक शक्तियों में शुमार किया जाता है, पर दूसरी ओर यह दुनिया के पांच निर्धनतम देशों में से भी एक है। इसमें यह भी जोड़ दिया जाये कि एक सर्वेक्षण के अनुसार, यह दुनिया का पांचवां सबसे भ्रष्ट देश है।

यही उस पचास-साला आजादी की उपलब्धियों की एक संक्षिप्त तस्वीर है जिसका जश्न मनाया जा रहा है!

देशी जनरल डायरों के गिरोह और कई-कई जालियांवाला बाग

और इतना ही क्यों? **गुलामी के दो सौ वर्षों के भीतर इस देश की जनता का जितना खून इस धरती में जज़्ब हुआ, उससे कहीं अधिक देशी हुक्मरानों ने पिछले पचास वर्षों के भीतर बहा डाला है।** आजादी मिलने से एक वर्ष पहले 1946 में **नौसेना के सिपाहियों ने विद्रोह का झण्डा बुलन्द किया था** और बम्बई के कपड़ा मजदूर एवं गोदी मजदूर उनके कंधे से कंधा जोड़कर खड़े हो गये थे। उस समय जब ब्रिटिश सत्ता इस विद्रोह को कुचलने के लिए बंबई की सड़कों को खून से लाल कर रही थी, **नेहरू, पटेल, आजाद** और **मुस्लिम लीग** के नेता एक स्वर से इस विद्रोह की निंदा कर रहे थे। इन शासकों का चरित्र तो उसी समय साफ हो चुका था।

आगे चलकर नेहरू की सरकार ने **तेलंगाना** में सेना भेजकर किसानों पर ऐतिहासिक दमन चक्र चलवाया। 1967

में **नक्सलबाड़ी उभार** से लेकर **आपातकाल** के अंत तक नक्सलवादी होने के नाम पर दसियों हजार मुक्तिकामी नौजवान क्रान्तिकारियों और किसान संगठनकर्ताओं को फर्जी मुठभेड़ों में हलाक कर दिया गया। 1974 की **ऐतिहासिक रेल हड़ताल** को बर्बरतापूर्वक कुचल दिया गया। आपातकाल के अंधकारमय उन्नीस महीनों के फासिस्ट जुल्म को भला कौन भूल सकता है? **बेलछी, बेलाडीला, पंतनगर, नारायणपुर, शेरपुर, अरवल, डाला, स्वदेशी काटन मिल, कानपुर** से लेकर **मुजफ्फरनगर** और **बबराला काण्डों** तक -- सत्ता-प्रायोजित नरसंहारों का एक लम्बा सिलसिला है। आज भी **दण्डकारण्य** से लेकर **तेलंगाना** तक अंधा दमन चक्र जारी है। छंटनी-तालाबंदी को लेकर सड़कों पर उतरने वाले मजदूरों पर, बिजली और पानी आदि की दुर्व्यवस्था को लेकर आंदोलित नागरिकों पर तथा रोजगार एवं सस्ती शिक्षा की मांग कर रहे युवाओं पर लाठियों-गोलियों की बरसात आम बात होती जा रही है। औद्योगिक क्षेत्रों की सुरक्षा-व्यवस्था मजबूत करने के नाम पर मज़दूरों की घेरेबन्दी की जा रही है। कालेजों-विश्वविद्यालयों में सशस्त्र पुलिस की स्थायी चौकियां बनाई जा रही हैं।

जिस जनतंत्र और संसदीय व्यवस्था के टिकाऊ होने की प्रशंसा करते-करते सत्ता के भाड़े के टट्टू बुद्धिजीवी और पूंजीपतियों के अखबारों के भाट और चारण मुंह से झाग फेंक रहे हैं, उसकी असलियत खुद-ब-खुद सामने आती जा रही है। वैसे जो असलियत आज पूरे देश की आम जनता के सामने खुलती जा रही है वह **जम्मू-कश्मीर** और **पूर्वोत्तर भारत** के लोगों के सामने पहले से ही बेनकाब थी, जो पिछले चालीस-पचास वर्षों से संगीनों के साये तले जी रहे हैं और जिनके लिए नागरिक आजादी और जनतांत्रिक अधिकारों का कोई मतलब नहीं रहा है। देश के इन इलाकों में विदेशी ताकतों के सक्रिय होने और विध्वंसक कार्रवाइयों का हव्वा दिखाकर अर्से से **'डिसटर्ब्ड एरिया ऐक्ट'** और **'आर्म्ड फोर्सेज़ स्पेशल पावर्स ऐक्ट'** (1950, 1972) जैसे कानूनों के तहत एक तरह का जालिमाना सेना-पुलिस राज कायम रहा है और संवैधानिक अधिकारों का कभी भी कोई मतलब नहीं रहा है। सिर्फ जम्मू-कश्मीर में ही अबतक 60 हजार लोग मारे जा चुके हैं।

पूंजीवादी व्यवस्था का संकट बढ़ने के साथ ही अब देश के अन्य क्षेत्रों में भी जहां मेहनतकश अवाम के भीतर विद्रोह की चिंगारियां छिटकती दिखाई दे रही हैं, पहले से मौजूद तरह-तरह के काले कानूनों को लागू करके या नये-नये कानून बनाकर उन क्षेत्रों में भी जनता के ऊपर सेना-पुलिस राज्य कायम कर दिया जा रहा है जैसे कि आंध्र प्रदेश में। **'प्रिवेंटिव डिटेंशन ऐक्ट'** (1950), **'डिफेन्स ऑफ इण्डिया रूल्स** (1962), **मीसा** (1971), **आर्म्ड फोर्सेज़ स्पेशल पावर्स ऐक्ट** (1950,1972), **आंध्र प्रदेश सप्रेशन ऑफ डिस्टर्बेन्सेज ऐक्ट, नेशनल सिक्योरिटी ऐक्ट** (1980), **एसेंशियल सर्विसेज़ मेण्टेनेंस ऐक्ट** (1980) और **टाडा** (1984) आदि ऐसे कुछ काले कानूनों के उदाहरण हैं जिनके लागू होते ही संविधान-प्रदत्त मूलभूत अधिकारों का वास्तव में कोई मतलब नहीं रह जाता।

दुनिया के ''सबसे बड़े जनतंत्र'' का सबसे जालिमाना और सबसे शातिराना दमनतंत्र : कपटी संविधान और काले कानून

जिसे **''दुनिया का सबसे बड़ा जनतंत्र''** कहा जाता है, उसके पास वास्तव में जनता का दमन करने वाला सबसे शातिराना और सबसे जालिमाना तंत्र है। यह भारतीय सत्ताधारी वर्ग की कुटिलता और धूर्तता की ही एक मिसाल है कि (आपातकाल के उन्नीस महीनों की ''गलती'' को छोड़कर) जनता पर लगातार दमन का कहर बरपा करते हुए भी यह लातिन अमेरिका एवं अफ्रीका के देशों, दक्षिण कोरिया और फिलीप्पींस के सैनिक तानाशाहों या स्वेच्छाचारी निरंकुश शासकों की तरह बेनकाब होने के बजाय तथाकथित जनतंत्र का मुखौटा लगातार चढ़ाये रखने में सफल रहा।

जिस आजादी को प्रसिद्ध शायर फ़ैज़ ने 'दाग़-दाग़ उजाला' कहा था, वह आधी सदी बीतते-बीतते अमावस के अंधेरे में तबदील हो चुकी है।

गहराई में जाकर देखें तो भारतीय राज्यसत्ता का जो असली निरंकुश और जनविरोधी चरित्र है, वह भारतीय संविधान और कानून-व्यवस्था के चरित्र और इतिहास के अध्ययन से ही स्पष्ट हो जाता है।

आजादी मिलने के बाद पूंजीवादी जनवाद की बुनियाद के तौर पर संविधान तैयार करने के लिए संविधान सभा का चुनाव सार्विक वयस्क मताधिकार के आधार पर देश की आम जनता ने नहीं किया था बल्कि देश की ऊपर की महज 13 फीसदी आबादी के निर्वाचक-मण्डल ने किया था।

इस संविधान सभा ने मुख्यत: ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा 1935 में बनाये गये **'गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया ऐक्ट'** को ही थोड़ा विस्तार देकर तथा कुशल पल्लवग्राहिता के साथ अमेरिका और यूरोपीय देशों के बुर्जुआ संविधानों से कुछ लोकरंजक धाराएं-उपधाराएं, शब्दावली और लफ्फाजियां उधार लेकर इस अजीबोगरीब मिश्रण को भारतीय संविधान के रूप में प्रस्तुत किया। इस संविधान के भीतर एक हाथ से जहां जनता को कुछ जनवादी अधिकार दिये गये थे, वहीं दूसरे हाथ से इन्हें छीन लेने और निलम्बित कर देने की व्यवस्था भी कर दी गई थी। **भारतीय संविधान की बनावट-बुनावट ही ऐसी है कि यहां निरंकुश बुर्जुआ अधिनायकत्व की स्थापना ''संविधान सम्मत ढंग से'' की जा सकती है। इसके लिए संविधान को मेज से उठाकर ताक पर रखने की हुक्मरानों को कोई जरूरत नहीं। दूसरी अहम बात यह है कि आम जनता को जिस कानून-व्यवस्था के जरिए न्याय और अधिकार हासिल होते हैं, उसका वही औपनिवेशिक ढांचा ज्यों का त्यों बरकरार रखा गया जो अंग्रेजों ने बनाया था।** वही आई.पी.सी., सीआर.पी.सी., और वैसी ही न्यायपालिका। संसदीय प्रणाली के दिखाने के दांत लगाकर ''जनवाद'' बहाल कर दिया गया पर खाने के दांतों को और मजबूत और धारदार बना दिया गया -- **यानी सेना-पुलिस के तंत्र को और नौकरशाही के नागपाश को**

पहले से भी अधिक व्यापक और शक्तिशाली बना दिया गया। इन सबके होते, संविधान ने आम नागरिकों को जो भी थोड़े बहुत जनवादी अधिकार दिये थे, उनका दायरा और अधिक सिकुड़ गया। और अब आजादी के पचास वर्षों बाद जब व्यवस्था का संकट बढ़ता जा रहा है और जनता के भीतर विद्रोह की चेतना फिर सुगबुगा रही है तो **जनता के रहे-सहे जनवादी अधिकारों का क्षेत्र तेजी से सिकुड़ता जा रहा है और साफ-साफ लग रहा है कि आम जनता के लिए जल्दी ही इनका कोई मतलब नहीं रह जायेगा। इतिहास अपने को एक बार फिर दुहरायेगा। संकटों और जनउभारों के आंधी-तूफान में जनवाद का रामनामी दुपट्टा उड़ जायेगा और नीचे छुपे पूंजीवादी तानाशाही के खंजर-बघनखे एकदम सामने होंगे।**

'47 का ऐतिहासिक विश्वासघात और राजनैतिक छलावे के पचास वर्ष

15 अगस्त 1947 की रात को भारतीय पूंजीपति वर्ग के नुमाइन्दे नेहरू ने "प्रारब्ध से किये गये जिस करार" (**Tryst with destiny**) के पूरा होने की बात की थी, उसके क्या नतीजे सामने आये? नेहरू की "समाजवादी', लफ्फाजी की असलियत आज जनता के सामने है। कहा जा सकता है कि भारतीय पूंजीपति वर्ग के योग्य प्रतिनिधि के तौर पर नेहरू ने प्रारब्ध से जो करार परदे के पीछे किया था उसे उन्होंने और फिर उनके उत्तराधिकारियों ने जरूर पूरा किया -- आम मेहनतकश अवाम को छलकर।

आजादी के पचास वर्षों बाद जब व्यवस्था का संकट बढ़ता जा रहा है और जनता के भीतर विद्रोह की चेतना फिर सुगबुगा रही है तो जनता के रहे-सहे जनवादी अधिकारों का क्षेत्र तेजी से सिकुड़ता जा रहा है और साफ लग रहा है कि जनता के लिए जल्दी ही इनका कोई मतलब नहीं रह जाबेगा। संकटों और जनउभारों के आंधी-तूफान में जनवाद का रामनामी दुपट्टा उड़ जायेगा और नीचे छुपे पूंजीवादी तानाशाही के खंजर-बघनखे एकदम सामने होंगे।

आम जनता की मुक्ति की आकांक्षा के साथ भारतीय पूंजीपति वर्ग द्वारा ऐतिहासिक विश्वासघात के पचास वर्ष बीत चुके हैं। ये गुजरे हुए पचास वर्ष राजनीतिक छलावे के पचास वर्ष हैं। [गुजरी हुई आधी सदी आम जनता की दुःसह पीड़ा-व्यथा की आधी सदी है, भ्रमों और मोहभंग की आधी सदी है, और अब इस विश्वास के पर्याप्त कारण मौजूद हैं कि आने वाली आधी सदी मेहनतकश जनता के उठ खड़े होने की आधी सदी है और हिसाब-किताब चुकता किये जाने की सदी है।]

15 अगस्त, 1947 को आम मेहनतकश जनता आज **किस रूप में याद करे** और इतिहास से **क्या सबक** ले? बड़ी आसान-सी बात है। शोषक-शासकों और शोषित-शासितों के त्योहार अलग होते हैं, नायक अलग होते हैं, खुशियां अलग होती हैं और प्रेरणा के स्रोत अलग होते हैं। इतिहास को देखने का उनका नजरिया परस्पर-विरोधी होता है क्योंकि उनके वर्ग-हित परस्पर-विरोधी होते हैं।

• आजादी की स्वर्णजयन्ती का जश्न शासक वर्ग जिन कारणों से मना रहा है, उन कारणों से आम जनता आज जाहिरा तौर पर शोक ही मना सकती है। वह उस ऐतिहासिक विश्वासघात को याद करेगी जो भारतीय पूंजीपतियों ने अकूत कुर्बानियां देने वाली और बहादुराना संघर्षों से गौरांग महाप्रभुओं के दांत खट्टे कर देने वाली आम जनता के साथ किया। लेकिन फिर भी इस अर्द्धशती वर्ष का आम जनता के लिए महत्व है और वह यह कि **वह शहीदों की कुर्बानियों को याद करे और उन्हें सार्थक बनाने के लिए एक ऐसी नई क्रान्ति का संकल्प ले जो 1947 के ऐतिहासिक विश्वासघात का बदला भी ले और पिछले पचास वर्षों के कचड़े की भी सफाई करे। आम जनता को भी एक करार करना है, और वह ऐसे ही एक नये प्रारब्ध के साथ करना है, और फिर उसे हर हाल में पूरा करना है।**

15 अगस्त 1947 : शासक वर्ग जिसका जश्न मना रहा है, जनता उसे किस रूप में याद करे?

निस्संदेह, 15 अगस्त, 1947 इतिहास का एक आगे बढ़ा हुआ कदम था। इस रूप में कि भारतीय किसानों-मजदूरों के बहादुराना संघर्षों के सिलसिलों और वीर क्रान्तिकारियों के संघर्षों एवं बलिदानों ने ब्रिटिश उपनिवेशवाद को पीछे हटने के लिए विवश करके पूरी दुनिया के स्तर पर उपनिवेशवाद के दौर को समाप्त करने में एक अहम भूमिका निभाई। खासकर **1946 में नाविक-विद्रोह, मजदूर आंदोलनों के देशव्यापी प्रसार, छात्र आन्दोलनों तथा तेलंगाना-तेभागा-पुनप्रा वायलार के किसान संघर्षों** ने ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के अन्त को निर्णायक तौर पर सुनिश्चित बनाने का और उसे करीब ला देने का काम किया। इस रूप में **यह जनता की एक जीत थी**। पर इसका दूसरा पहलू जो मुख्य पहलू के रूप में सामने आया वह नकारात्मक था। जनता के क्रान्तिकारी नेतृत्व की सैद्धान्तिक कमजोरियों और चूकों के कारण 1947 में राज्यसत्ता मेहनतकश वर्गों के हाथ में नहीं आ सकी और ब्रिटिश शासकों ने इसे सफलतापूर्वक भारतीय पूंजीपति वर्ग को हस्तांतरित कर दिया। देश को आजादी इन अर्थों में मिली कि प्रत्यक्ष औपनिवेशिक शासन समाप्त हो गया और यह अंग्रेजों की मर्जी नहीं, मजबूरी थी। पर इन अर्थों में आजादी नहीं मिली या कम से कम आम जनता के लिए उसका कोई मायने इन अर्थों में नहीं रहा कि **शासन सूत्र जनता के हाथों में नहीं आया, जनता के जनवाद की जगह पूंजीवादी जनवाद कायम हुआ और वह भी बीमार और विकृत किस्म का**। शोषण के तौर-तरीके गांवों से शहरों तक धीरे-धीरे बदल गये। भारत नये रूप में ही सही, लेकिन साम्राज्यवादी विश्व का अंग बना रहा।

पर यदि मुक्ति संघर्ष की रणनीति के सन्दर्भ में बात की जाये तो 15 अगस्त 1947 का आम जनता के लिए **एक विशेष अर्थ है**। इस दिन उपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद जिस देशी पूंजीपति वर्ग का शासन कायम हुआ उसने अपने हितों और साम्राज्यवादी चौधरियों के बदले हुए स्वार्थों के अनुरूप देश में धीरे-धीरे क्रमिक ढंग से एक विकृत-विकलांग किस्म के पूंजीवाद का विकास किया, भूमि सम्बन्धों का भी धीरे-धीरे पूंजीवादीकरण किया और धीरे-धीरे देश को एक

ऐसी मंजिल में ला खड़ा किया **जो एक नई क्रान्ति की मंजिल थी -- नई जनवादी क्रान्ति की जगह नई समाजवादी क्रान्ति की मंजिल, साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी जनक्रान्ति की जगह साम्राज्यवाद-पूंजीवाद विरोधी जनक्रान्ति की मंजिल। आर्थिक नवउपनिवेशवाद** के जिस नये साम्राज्यवादी दौर में भारत ने उदारीकरण-निजीकरण-भूमण्डलीकरण की आम दिशा को अपनाकर फैसलाकुन ढंग से प्रवेश किया है, उसने इस सच्चाई को और अधिक साफ कर दिया है। छोटा-बड़ा -- पूरा का पूरा भारतीय पूंजीपति वर्ग आज विश्व स्तर पर साम्राज्यवादियों का 'जूनियर पार्टनर' बन चुका है और **'खुले दरवाजे की आर्थिक नीतियों'** के अमल के बाद पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली और नई उपभोक्ता संस्कृति ने सुदूरवर्ती क्षेत्रों के सामन्ती अवशेषों को भी समाप्त करने, बदल देने और मातहत बनाने का काम तेजी से शुरू कर दिया है। मूल्यों व संस्कृति के धरातल पर जो कुछ सामन्ती तत्व मौजूद हैं, वे नये सत्ताधारियों की भी जरूरत हैं। पूंजीपति वर्ग का कोई भी हिस्सा आज साम्राज्यवाद के खिलाफ जनता के साथ नहीं खड़ा होगा और न ही पूंजीवादी किसानों का -- चाहे वे मुनाफे के बंटवारे के लिए आपस में जितना भी झगड़ा क्यों न करें!

1947 में जनता की जनवादी क्रान्ति विफल हुई और पूंजीवादी जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को भारत के पूंजीपति वर्ग ने धीरे-धीरे, प्रतिक्रियावादी ढंग से दशकों के दौरान पूरा किया, एक झटके से नहीं। कारण कि यह यूरोप के पूंजीपति वर्ग की तरह अपनी स्वाभाविक गति से, अपनी जमीन से नहीं पैदा हुआ था। यह उपनिवेशवाद के गर्भ से पैदा हुआ था और साम्राज्यवाद के विश्व ऐतिहासिक दौर में सयाना हुआ था। इसने जो आजादी हासिल की, वह अधूरी और विकलांग आजादी थी।

भारतीय पूंजीवाद के बीमार टट्टू ने पूंजीवादी सामाजिक-आर्थिक ढांचे की छकड़ा गाड़ी को घसीटते-घसीटते एक बन्द गली के आखिरी छोर पर ला खड़ा किया है। अब यहां से आगे बढ़ने के लिए सामने खड़ी दीवार को तो विस्फोट के साथ उड़ाना ही होगा, साथ ही इस जर्जर छकड़ा गाड़ी को भी बदलना होगा और अशक्त हो चुके टट्टू की भी छुट्टी करनी होगी। नई सामाजिक-आर्थिक संरचना, मेहनतकश अवाम के हाथों में सत्ता का सूत्र और सामाजिक समानता एवं पर्यावरणीय संतुलन के साथ विकास का नया रास्ता! -- अब यही एकमात्र विकल्प है।

उनके लिए जश्ने-आजादी, हमारे लिए नये मुक्ति संघर्ष का संकल्प दिवस!

आजादी कोई वर्ग-निरपेक्ष शब्द नहीं है। भारत को जो आजादी मिली, उसका अलग-अलग वर्गों के लिए अलग-अलग अर्थ था। सत्तासीन पूंजीपति वर्ग भी साम्राज्यवाद से पूरी तरह आजाद नहीं था क्योंकि उसे विश्व पूंजीवादी तंत्र में 'जूनियर पार्टनर' बनकर ही जीना था। पर वह इतनी ही आजादी हासिल कर सकता था, अतः वह संतुष्ट था। आम जनता छली गयी। पर उसके लिए आजादी का इतना अर्थ जरूर था कि सत्ताधारी पूंजीपति वर्ग पूंजीवादी उत्पादन के ढांचे को चलाने के लिए और जनवाद के स्वांग को बनाये रखने के लिए उसे सीमित जनवादी अधिकार देने के लिए मजबूर था, जिस जमीन पर खड़े होकर मजदूर और किसान अगली मंजिल की अपनी लड़ाई को व्यापक आधार पर संगठित कर सकते थे।

आज इसी नई लड़ाई के लिए संकल्प लेने का समय है। लेकिन जहां तक इस आजादी का जश्न मनाने की बात है, इसका फल जिन लोगों को मिला, वे ही इसका जश्न मनायेंगे। इस सीधी-सी बात में कोई पेंच नहीं। उपनिवेशवाद से राजनीतिक आजादी के बावजूद सत्ता जनता के हाथों में नहीं बल्कि पूंजीपति वर्ग के हाथों में आई, जिसने राष्ट्रीय आंदोलन के दौर के झूठे वायदों को तोड़कर साम्राज्यवाद-सहयोगी पूंजीवादी विकास का मार्ग चुना। और आज, आधी सदी बाद एकदम साफ हो चुका है कि यह विकृत, धीमा पूंजीवादी विकास का मार्ग दरअसल जनता के लिए विनाश का मार्ग है। इसलिए, जाहिरा तौर पर, स्वर्ण जयन्ती का जश्न तो शासक वर्ग मनायेंगे, जनता को तो अपनी वास्तविक मुक्ति के लिए नये सिरे से संघर्ष का संकल्प लेना है।

यह इतिहास का आम नियम है कि **देश आजादी चाहते हैं, राष्ट्र मुक्ति चाहते हैं और जनता क्रान्ति चाहती है।** ये तीनों प्रक्रियाएं एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। 1947 में देश को मात्र राजनीतिक आजादी ही मिली, साम्राज्यवादी देशों के आर्थिक शोषण और दबाव से आजादी नहीं मिली। भारत की विभिन्न राष्ट्रीयताओं को भी मुक्ति नहीं मिली। जारकालीन रूस की तरह बहुराष्ट्रीय देश भारत **''राष्ट्रों का कारागार''** बना रहा और जन क्रान्ति का उद्यम निष्फल हुआ। उपनिवेशवाद का स्थान देशी पूंजीवाद के शोषण और शासन ने ले लिया तथा साम्राज्यवाद का आर्थिक शोषण और दबाव न सिर्फ बरकरार रहा, बल्कि उसकी जकड़बन्दी और घेरेबन्दी लगातार बढ़ती चली गई। इस प्रक्रिया की सारी तार्किक परिणतियां आज एकदम नग्न निरंकुश रूप में हमारे सामने हैं जब हमारा देश भी भूमण्डलीकरण मुहिम का सहभागी बनकर, फैसलाकुन तौर पर आर्थिक नवउपनिवेशवाद के दौर में प्रविष्ट हो चुका है। यानी एक नई क्रान्ति के दौर में प्रविष्ट हो चुका है।

भारतीय पूंजीवाद की आधी सदी की यात्रा अब एक बंद गली के आखिरी छोर पर पहुंच चुकी है!

ऊपर उल्लिखित आंकड़ों और तथ्यों से यह बात एकदम साफ है कि भारतीय पूंजीवाद के कमजोर-बीमार टट्टू ने पूंजीवादी सामाजिक-आर्थिक ढांचे की छकड़ा गाड़ी को घसीटते-घसीटते एक बन्द गली के आखिरी छोर पर ला खड़ा किया है। अब यहां से आगे का सफर तय करने के लिए सामने खड़ी दीवार को तो एक विस्फोट के साथ उड़ाना ही होगा, साथ ही इस जर्जर छकड़ा गाड़ी को भी बदलना होगा और अशक्त हो चुके टट्टू की भी छुट्टी करनी होगी। नई सामाजिक-आर्थिक संरचना, मेहनतकश अवाम के हाथों में सत्ता का सूत्र और सामाजिक समानता एवं पर्यावरणीय संतुलन के साथ विकास का नया रास्ता! -- **अब यही एकमात्र विकल्प है।**

1947 में राजनीतिक सत्ता हासिल करने के बाद भारतीय पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद के आर्थिक-राजनीतिक

दबाव को अपनी मजबूरी और जरूरत के रूप में स्वीकार किया। साथ ही, साम्राज्यवादी लुटेरों की आपसी होड़ का लाभ उठाकर और समाजवाद का मुखौटा लगाकर पब्लिक सेक्टर के कारखानों में जनता की गाढ़ी मेहनत की कमाई निचोड़कर, पूंजी लगाकर इसने एक हद तक उद्योगों और कृषि का पूंजीवादी विकास किया, और जहां तक संभव था, अपने मुनाफे के तंत्र का फैलाव किया। **अब भारतीय पूंजीपतियों की जरूरतों और हितों का तकाजा है कि वे पब्लिक सेक्टर के तमाम उद्योगों को धीरे-धीरे निजी क्षेत्र में हस्तांतरित कर दें और दुनिया के साम्राज्यवादी चौधरी भी यही चाहते हैं। यह भारतीय पूंजीपतियों की मजबूरी और जरूरत दोनों है कि वे अपने मुनाफे और लूट के तंत्र को चलाने और फैलाने के लिए उन साम्राज्यवादियों के आगे घुटने टेक दें जिनका विश्व बाजार और उन्नत तकनोलाजी पर अधिकार है और जिनके पास पूंजी का अम्बार है। इस नई विश्व-व्यवस्था के अन्तर्गत भारत के सभी बड़े-छोटे पूंजीपति, फार्मर-भूस्वामी और अन्य परजीवी धनिक वर्ग साम्राज्यवादियों के मातहत अलग-अलग हैसियतों वाले छोटे चौधरी तथा मुसाहिब-कारकून-मुदर्रिस बनकर रह गये हैं।**

भारत की जितनी पूंजीवादी और भा.क.पा.-मा.क.पा.-भाकपा (मा.ले.) टाइप संसदीय वामपंथी पार्टियां हैं वे सभी मूलतः नई विश्व व्यवस्था की नीतियों को स्वीकार कर चुकी हैं क्योंकि पूंजीवादी दायरे के भीतर उनके पास दूसरा कोई रास्ता है ही नहीं। केन्द्र में देवगौड़ा और गुजराल सरकारों, बंगाल-केरल की ''वामपंथी'' सरकारों और महाराष्ट्र-राजस्थान की घोर दक्षिणपंथी सरकारों की कथनी-करनी ने इस बात को एकदम साफ कर दिया है!

आज सवाल सिर्फ विदेशी पूंजी की लूट के खिलाफ ''स्वदेशी'' का झण्डा लेकर लड़ने का नहीं है बल्कि देशी पूंजी के खिलाफ भी लड़ने का उतना ही है क्योंकि दोनो मिलकर जनता को निचोड़ रही हैं। ... मजदूर वर्ग के लिए जरूरी है कि वह गांधीवादी ''स्वदेशी'' शब्दजाल में फंसकर मशीन, उद्योग और वैज्ञानिक प्रगति का ही विरोधी हो जाने के बजाय मशीनों-उद्योगों और ज्ञान-विज्ञान पर निजी स्वामित्व की व्यवस्था का विरोध करे, निजी लाभ व मुनाफे के लिए इनके इस्तेमाल की व्यवस्था का विरोध करे।

जनमुक्ति का एकमात्र रास्ता - नई मजदूर क्रान्ति!

यह बात भी अब एकदम साफ है कि **नई मजदूर क्रान्ति ही अब जनमुक्ति का एकमात्र रास्ता हो सकती है।** आज सवाल सिर्फ विदेशी पूंजी की लूट के खिलाफ ''स्वदेशी'' का झण्डा लेकर लड़ने का नहीं है बल्कि देशी पूंजी के खिलाफ भी लड़ने का उतना ही है क्योंकि दोनो एक साथ मिलकर जनता को निचोड़ रही हैं। जनता को वास्तविक मुक्ति केवल तभी मिल सकती है जब सारी विदेशी पूंजी को जब्त करने और विदेशी कर्जों को मंसूख करने के साथ ही देशी पूंजीपति घरानों की पूंजी को भी जब्त किया जाये तथा उनके कारखानों का स्वामित्व मजदूरों के हाथों में सौंप दिया जाये। खेती के क्षेत्र में भी अमीर किसानों-भूस्वामियों की लूट को समाप्त करने के लिए उनके स्वामित्व को नष्ट करके उनका सामूहिकीकरण करना होगा, बड़े पूंजीवादी निजी एवं राजकीय फार्मों का नई मेहनतकश सत्ता के स्वामित्व में राजकीयकरण करना होगा तथा छोटे-मझोले किसानों को सहकारीकरण की मुहिम में शामिल करना होगा।

मुख्तसर-सा निचोड़ यह है कि **मेहनतकश वर्गों व आम जनता की वास्तविक मुक्ति के लिए मुनाफे और बाजार के लिए उत्पादन की पूरी व्यवस्था को ही नष्ट करके एक नई व्यवस्था कायम करनी होगी जिसमें उत्पादन सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हो और उत्पादों का समानतापूर्ण बंटवारा हो।**

आज पूरी दुनिया के पैमाने पर बुनियादी मुद्दा यह है कि इतिहास अब समस्त पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली, सामाजिक ढांचे और जीवन-प्रणाली को नष्ट करके ही आगे कदम बढ़ा सकता है। समाज को एक ऐसे नये आधार पर संगठित करना होगा जो शोषण, प्रतियोगिता और व्यक्तिगत लाभ के आधार से भिन्न हो।

अतीत में **पेरिस कम्यून, रूसी क्रान्ति** (1917), **चीनी क्रान्ति** (1949) और **चीनी सांस्कृतिक क्रान्ति** (1966-76) ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम बढ़ाये थे। पर वे असफल हुए। यह अप्रत्याशित नहीं था। ये सर्वहारा क्रान्तियों के प्रारम्भिक प्रयोग थे और अतीत में भी क्रान्तियों के प्राथमिक संस्करण प्रायः असफल हुए हैं। पर इससे इतिहास रुका नहीं। पूंजीवाद भी अमर नहीं है। इसे भी समाप्त होना है। नई मजदूर क्रान्तियां अवश्यंभावी हैं। वे अतीत से सबक लेकर पूंजीवाद पर अंतिम जीत हासिल करेंगी।

भावी मजदूर क्रान्तियां सतत् सर्वतोमुखी सांस्कृतिक क्रान्ति द्वारा पूंजीवादी पुनर्स्थापना को रोकेंगी। वे बाहर और भीतर की पूंजीवादी साजिशों को नाकाम करने के लिए शोषक वर्गों पर अपना अधिनायकत्व मजबूती से कायम रखेंगी, जनता की पहलकदमी को लगातार बनाये रखेंगी और उसकी चेतना को लगातार उन्नत करेंगी। वे लूट और मुनाफे के पुराने आधारों और गहरी जड़ें जमाये पूंजीवादी मानसिकता के विरुद्ध लगातार चहुंमुखी संघर्ष जारी रखेंगी।

ऐसी ही मजदूर क्रान्तियां आज इतिहास के एजेण्डे पर हैं।

नेहरूवादी ''समाजवादी'' मॉडल और गांधीवादी ''स्वदेशी'' मॉडल - अव्यावहारिक, अवैज्ञानिक, अनैतिहासिक दिवास्वप्न जो मेहनतकश जनता को भरमाने का काम करते हैं!

कुछ समाजवादी और कम्युनिस्ट नामधारी संगठन निजीकरण-उदारीकरण का विरोध करते हुए नेहरू के समय से चली आ रही मिश्रित अर्थव्यवस्था को कायम रखने की बात करते हैं। पर समाजवादी मुखौटे वाली मिश्रित अर्थव्यवस्था का नेहरूकालीन पूंजीवादी दौर अब वापस नहीं लौट सकता। वह भारतीय पूंजीपति वर्ग की कल की जरूरत था और निजीकरण-उदारीकरण आज की जरूरत है।

कुछ बुद्धिजीवी और संगठन ''स्वदेशी'' का नारा देते हुए विज्ञान, तकनोलाजी और उद्योग को ही ''पश्चिम का अभिशाप'', ''मानव-विरोधी'' और ''पर्यावरण-विरोधी'' कहकर खारिज करते हैं तथा छोटे और घरेलू पैमाने की आत्मनिर्भर, विकेन्द्रित अर्थव्यवस्थाओं की बात करते हैं। **यह एक हवाई बात है!** पहली बात तो यह कि उत्पादक

शक्तियों के इतने बड़े पैमाने के विकास और उत्पादन के इतने बड़े पैमाने के समाजीकरण के बाद छोटे, घरेलू उत्पादन-प्रणाली के अतीत की ओर वापस नहीं लौटा जा सकता। दूसरी बात, विज्ञान, तकनोलाजी, मशीन और उद्योगों का ही विरोध करना गलत है। विज्ञान-तकनोलाजी भी कला-संस्कृति की तरह इंसानियत की उपलब्धि हैं। **भुखमरी, लूट, बेरोजगारी और पर्यावरण की तबाही का कारण विज्ञान, मशीनें या उद्योग नहीं हैं, बल्कि स्वामित्व की वह व्यवस्था है जिसमें इनका इस्तेमाल मुनाफे और व्यक्तिगत लाभ के लिए किया जाता है। यदि उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व की जगह समाज को एक ऐसे आधार पर संगठित किया जाये जिसमें उत्पादन के साधनों पर उत्पादकों का सामूहिक स्वामित्व हो, उत्पादन निजी मुनाफे के बजाय पूरे समाज द्वारा समानतापूर्वक उपयोग के लिए हो तो ऐसा हो सकता है कि तमाम आर्थिक-तकनीकी-औद्योगिक विकास के बावजूद न तो असमानता, बेरोजगारी, अलगाव, सामाजिक विघटन, भ्रष्टाचार और नौकरशाही का बोलबाला होगा और न ही पर्यावरण की तबाही होगी।** मजदूर वर्ग के लिए जरूरी है कि वह गांधीवादी "स्वदेशी" शब्दजाल में फंसकर मशीन, उद्योग और वैज्ञानिक प्रगति का ही विरोधी हो जाने के बजाय मशीनों-उद्योगों और ज्ञान-विज्ञान पर निजी स्वामित्व की व्यवस्था का विरोध करे, निजी लाभ व मुनाफे के लिए इनके इस्तेमाल की व्यवस्था का विरोध करे।

भावी मजदूर क्रान्तियां सतत् सर्वतोमुखी सांस्कृतिक क्रान्ति द्वारा पूंजीवादी पुनर्स्थापना को रोकेंगी। वे बाहर और भीतर की पूंजीवादी साजिशों को नाकाम करने के लिए शोषक वर्गों पर अपना अधिनायकत्व मजबूती से कायम रखेंगी, जनता की पहलकदमी को लगातार बनाये रखेंगी और उसकी चेतना को लगातार उन्नत करेंगी। वे लूट और मुनाफे के पुराने आधारों और गहरी जड़ें जमाये पूंजीवादी मानसिकता के विरुद्ध लगातार चहुंमुखी संघर्ष जारी रखेंगी। ऐसी ही मजदूर क्रान्तियां आज इतिहास के एजेण्डे पर हैं।

आने वाली सदी क्रान्ति के प्रचण्ड तूफानों की सदी है! मजदूर वर्ग को अभी से इसकी तैयारी में जुट जाना होगा!

आज पूरी दुनिया के पैमाने पर आने वाले दिनों में विश्व-पूंजीवादी तंत्र पर क्रान्तियों के तूफानों के एक बार फिर टूट पड़ने के पूर्व संकेत मिलने लगे हैं। **माओ त्से-तुङ की भविष्यवाणी सही सिद्ध होती प्रतीत हो रही है कि आने वाले पचास से सौ वर्षों का समय ऐसे प्रचण्ड तूफानों का समय होगा जैसा दुनिया ने पहले कभी नहीं देखा।**

भारत तीसरी दुनिया के उन अर्द्ध-औद्योगीकृत देशों में शामिल है, जिनकी समृद्ध प्राकृतिक और श्रम सम्पदा को साम्राज्यवाद और देशी पूंजीवाद अंतिम हदों तक निचोड़ रहे हैं। ये ही देश विश्व पूंजीवाद की कमजोर कड़ियां हैं। **आने वाले दिनों में ये ही क्रान्तियों के तूफानों के केन्द्र बनेंगे -- इसकी पूरी संभावना है।**

पर ये क्रान्तियां खुद-ब-खुद नहीं हो जायेंगी। इसके लिए सर्वहारा वर्ग को लम्बी तैयारी करनी होगी।

हमारे देश के सन्दर्भ में पहली जरूरत यह है कि **सर्वहारा वर्ग के हिरावल दस्ते के रूप में एक नई क्रान्तिकारी पार्टी के पुनर्गठन की प्रक्रिया को तेजी से आगे बढ़ाया जाये। तेलंगाना** की पराजय और **नक्सलबाड़ी** से हुई नई शुरुआत की विफलता का सबक है कि क्रान्तिकारी वामपंथ को संसदीय दलदल में धंसने और अतिवामपंथी दुस्साहसवाद की चपेट में आने से बचने के लिए अपना सैद्धान्तिक आधार मजबूत करना होगा, क्रान्ति के कार्यक्रम की सही समझ कायम करनी होगी तथा जनवादी केन्द्रीयता के आधार पर नये सिरे से संगठन खड़े करने होंगे।

ट्रेड यूनियन आंदोलन को सुधारवाद और अर्थवाद के दलदल से बाहर निकालकर उसका क्रान्तिकारीकरण करना होगा। नई आर्थिक नीतियों के विरुद्ध साझा मोर्चा बनाकर लड़ते हुए तमाम सेक्टरों के मजदूरों के बीच व्यापक मजदूर एकता का आधार तैयार करना होगा। अलग-अलग यूनियनों व सेक्टरों के आधार पर तथा दलगत आधार पर मजदूरों के बिखराव को समाप्त करने के लिए धंधेबाज, नौकरशाह नेताओं का वर्चस्व तोड़ना होगा। इसके लिए **व्यापक राजनीतिक शिक्षा एवं प्रचार के साथ ही राजनीतिक मांगों एवं अधिकारों के लिए संघर्ष के लिए मजदूर वर्ग को तैयार करना होगा। ट्रेड यूनियनों के भीतर जनवादी तौर-तरीकों की शिक्षा देकर अवसरवादी नेताओं की मठाधीशी को समाप्त करना होगा।**

सर्वहारा वर्ग की कतारों के बीच से सर्वहारा वर्ग की पार्टी में भरती जरूरी है। इसके अभाव में क्रान्तिकारी पार्टियों में मध्यमवर्गीय रुझानों के वर्चस्व का आधार मजबूत बना रहता है और दूसरी ओर मजदूर वर्ग बुर्जुआ नेतृत्व का पुछल्ला बना रह जाता है।

नई आर्थिक नीति के दौर में मुट्ठी भर सफेदपोश मजदूरों को छोड़कर भारी मजदूर आबादी को संगठित क्षेत्र से असंगठित क्षेत्र में धकेला जा रहा है। इससे मजदूर आंदोलन को नये सिरे से संगठित करने की राह में कुछ नई बाधाएं पैदा हुई हैं जिनसे निपटने के लिए नई रणनीति अपनाने की जरूरत होगी तथा क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार पर पहले हमेशा से अधिक जोर देना होगा।

ग्रामीण क्षेत्रों में खेती और ग्रामीण उद्योगों के मजदूरों और गरीबी किसानों को संगठित करने पर विशेष जोर देना होगा।

मध्यम किसानों और शहरी-ग्रामीण मध्य वर्ग के साथ अलग-अलग स्तरों पर संयुक्त मोर्चे बनाने होंगे क्योंकि ये वर्ग अपने ढुलमुलपन के बावजूद नई क्रान्ति के सहयोगी हैं।

नई सर्वहारा क्रान्ति की तैयारी के चिन्तन और कर्म के यही प्रस्थान-बिन्दु हैं। यही वे कार्यभार हैं जिन्हें भारतीय सर्वहारा वर्ग के हिरावल दस्तों को आज के नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के दौर में अंजाम देने के लिए आगे कदम बढ़ाने हैं और एक नई शुरुआत करनी है।

टिप्पणियां

'एशियन टाइगर्स' अब भीगी बिल्ली बनने की राह पर : भारत के लिए सबक

पिछले एक दशक या कुछ और अधिक समय से 'एशियन टाइगर्स' के नाम से सारी दुनिया में जाने जाने वाले दक्षिण-पूर्व एशिया के देश, और उनमें भी, खासतौर से, थाईलैण्ड, मलेशिया और इण्डोनेशिया–जो विकास के "अनुकरणीय मॉडल" माने जाते रहे हैं, और जिनको ही भारत भी अपना "आदर्श" मानता रहा है, और अभी भी मान रहा है–अब **भीगी बिल्ली** बन जाने की राह पर है। आज इन देशों के ऊपर वैसे ही संकट में फॅस जाने का खतरा मंडरा रहा है, जैसे संकट में 1995 में मेक्सिको की अर्थव्यवस्था फॅस गयी थी। थाइलैण्ड तो इस संकट में फॅस ही चुका है, मलेशिया और इण्डोनेशिया भी जल्द ही फॅस जाने वाले हैं, तथा शेष 'टाइगरों' का भी यही हश्र होना प्रतीत होता है।

लेकिन यह कोइ अप्रत्याशित बात नहीं है। वित्तीय पूंजी की विश्वव्यापी अधिरचना कायम कर चुके साम्राज्यवाद के वर्तमान "भूमण्डलीकरण" के दौर में यह तो होना ही है, जिसका खासतौर से विकासशील देशों के लिए मूल-मंत्र है: अपनी अर्थव्यवस्थाओं को साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी, खासतौर से, विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (**एफ डी आई**) और पोर्टफोलियों निवेश के लिए खोलो; अपनी घरेलू अर्थव्यवस्थाओं को अन्तरराष्ट्रीय बाजार में निर्यात हेतु उत्पादन का आधार बनाओ; और अन्तरराष्ट्रीय बाजारों में (जहां "मुक्त प्रतियोगिता" की आड़ में तीन-चौथाई से अधिक निर्यातों पर दैत्याकार बहुराष्ट्रीय निगम अपना एकाधिपत्य जमाये हुए है) निर्यात कर अपनी अर्थव्यवस्था को उन्नत करो। यानी जिनसे पूंजी प्राप्त करो, जिन्हें मुनाफा कमाने दो, जिन्हें सूद और ऋण की किस्तों का भुगतान करो, उन्हीं के बाजार-आधिपत्य से "मुक्त प्रतियोगिता" कर के समृद्ध बनो! कहने की आवश्यकता नहीं कि यह निहायत हास्यास्पद बात है।

लेकिन तीसरी दुनिया के देशों की अर्थव्यवस्थाएं इसी राह पर हैं। चूंकि यहां प्रसंग 'एशियन टाइगर्स' का है, इस लिए हम अपनी बात को मुख्य रूप से इन्हीं तक सीमित रखेंगे। परन्तु बात को इन्हीं तक सीमित रखते हुए भी, तीसरी दुनिया के देशों, और उनमें भी खासतौर से, भारत के लिए, चेतावनी के तौर पर एक सबक तो अपने आप निकल ही आयेगा। यह अलग बात है कि भारत के शासक वर्ग इस पर शायद ही ध्यान दें, और बेशक, तब इसके नतीजे अन्तत: इस देश की भारी मेहनतकश जनता को ही भुगतने पड़ेंगे। प्रसंगवश, वाल्मीकि को याद किया जा सकता है, जिन्होंने 'रामराज्य' के कुशासन पर क्षोभ व्यक्त करते हुए कहा था : **'दुर्बुद्धि राजा स्वयं ही नहीं डूबता, वह सारी प्रजा को ले डूबता है।'**

आज दक्षिण-पूर्व ऐशियाई देशों के सामने जो संकट उभर कर आया है, उसने स्पष्ट कर दिया है कि उनकी 'टाइगर्स' के रूप में जो दहाड़ विगत दस या कुछ अधिक वर्षों से चल रही थी, उसका आधार बहुत ही क्षणभंगुर था–जो अपनी जमीन पर नहीं, बल्कि साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी से निर्मित था। दक्षिण-पूर्व एशिया के देश इस भ्रम में थे (और तीसरी दुनिया के सभी देश भी प्राय: इसी भ्रम में हैं) कि "भूमण्डलीकरण" के जरिये मुख्य रूप से उत्पादक पूंजी प्राप्त होगी, जबकि आज की खुली सच्चाई यह है कि बाहर से आने वाली पूंजी का तीन-चौथाई से अधिक हिस्सा तो वित्तीय और सट्टा बाजारों में चला जा रहा है, और एक-तिहाई से भी कम हिस्सा, जो वास्तविक उत्पादन में निवेश हो रहा है, वह भी, मुख्य रूप से, लिए गये ऋणों की किस्त और सूद के भुगतान के लिए ही निर्यात-निर्दिष्ट हैं। ऐसे में घरेलू अर्थव्यवस्था की बेहतरी की गुंजाइश ही कहां रह जाती! इसके अतिरिक्त, एफ डी आइ और, खासतौर से पोर्टफोलियों निवेश की प्रकृति इतनी उड़नशील है, कि कब विदिशी निवेशकर्ता किसी देश में विदेशी मुद्रा का पहाड़ खड़ा कर दें, और कब उसे उखाड़ कर रसातल में ठेल दें – कुछ कहा नहीं जा सकता। यह सबकुछ एकमात्र उनके मुनाफे के आकर्षण से तय होता है। उदाहरण के तौर पर, अब विदेशी निवेशकर्ताओं की दिलचस्पी 'एशियन टाइगर्स' में कम, चीन में अधिक हो गयी है। फलत: 'एशियन टाइगर्स' की धुवा निकलने लगी है, और चीन फूलने लगा है। आज चीन 35 अरब डॉलर से ज्यादा विदेशी निवेश प्रतिवर्ष खींच रहा है। भारत भी प्रति वर्ष 10 अरब डॉलर से ज्यादा विदेशी निवेश आकर्षित कर रहा है। परन्तु किसकी अर्थव्यवस्था का गुब्बारा कब फूट जायेगा – कुछ कहा नहीं जा सकता है। नकली "बूम" और असली "क्रंच" ही "भूमण्डलीकृत" साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी का असली खेल है। आज 'ऐशियन टाइगर्स' इस खेल में अब "क्रंच" की मात खाने लगे हैं।

साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी की इसी क्षणभंगुर जमीन पर खड़े दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों के समूह में से एक प्रमुख देश, थाईलैण्ड, में चालू खाते के घाटे तो अपने बढ़ते जाने का पूर्वाभास पहले ही से दे रहे थे, जो पिछले वर्ष यानी 1996 के मई माह में बढ़कर **सकल घरेलू उत्पाद** (जी डी पी) के 8% पर जा पहुंचे। इससे सट्टा बाजार में अफरा-तफरी मच गयी। सटोरियों ने थाई मुद्रा बाट के अवमूल्यन के लिए दबाव डालना चालू किया। इसका मुकाबला करने के लिए थाई सरकार और उसके **सेण्ट्रल बैंक** ने विशाल विदेशी मुद्रा-भण्डार के बल पर डॉलर के बदले **बाट** खरीदना चालू किया। सट्टा बाजार की अफरा-तफरी थोड़े समय के लिए थमी, परन्तु चालू खाते के बढ़ते घाटे, घटते निर्यात, तथा अल्पकालिक बाहरी ऋण के विशाल बोझ और खस्ताहाल होते वित्तीय क्षेत्र की बुनियादी बीमारियों ने, जुलाई' 97 आते-आते थाइलैण्ड को लस्तपस्त कर दिया। नतीजतन, उसे अपने बाट को बिना सरकारी या सेण्ट्रल बैंक के हस्तक्षेपकारी समर्थन के, खुले तौर पर, "फ्लोट" कर देने पर मजबूर हो जाना पड़ा। इसकी परिणति सिर्फ इतनी ही नहीं हुई कि बाट का 20% अवमूल्यन हो गया, बल्कि इसका दबावकारी प्रभाव अन्य **एशियन देशों** जैसे, फिलीपीन्स, की मुद्रा **पेसो**, मलेशिया की मुद्रा **रिंगित** और इण्डोनेशिया की मुद्रा **रुपिया** के भी अवमूल्यन पर पड़ा। और ये मुद्राएं भी भिन्न-भिन्न मात्राओं में अवमूल्यित हो चुकी हैं। अवमूल्यन अभी भी जारी है। दो अंकों में आर्थिक विकास के दिन लदते जा रहे हैं। इन सबमें, खासतौर से, थाईलैण्ड की हालत सबसे खराब हो चुकी है – स्पष्टत: 1995 के मेक्सिको की तरह। आज थाइलैण्ड पर कुल 20 अरब डॉलर का विदेशी कर्ज़ है, जिसके शर्तबद्ध सूद और किस्तों के भुगतान की दृष्टि से, उसका विदेशी मुद्रा का भण्डार निहायत नाकाफी है। यदि यह दर्द देने वाले विदेशी ऋणदाताओं ने ही "उबारने" की दवा न दी, तो उसके ऊपर भुगतान संतुलन के संकट का कहर ठीक वैसे ही बरपा हो सकता है जैसे 1995 में मेक्सिको के ऊपर बरपा हो गया था। और, जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है, शेष 'एशियन टाइगर्स' की अर्थव्यवस्थाएं भी इसी संकट की ढलान पर तेजी से फिसलती जा रही हैं। भारत या तीसरी दुनिया के अन्य विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं का इससे भिन्न हश्र नहीं हो सकता, कारण कि वे भी साम्राज्यवाद के जिस "भूमण्डलीकरण" की राह पर चल रही हैं, उसकी यही अभिलाक्षणिक विशिष्टता है।

दरअसल, आज का "भूमण्डलीकरण" उत्पादन का भूमण्डलीकरण नहीं, बल्कि वित्तीय पूंजी का भूमण्डलीकरण है – और वह भी खासतौर से, विकासशील तीसरी दुनिया में। विकसित पूंजीवादी-साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्थाएं या तो ठहरावग्रस्त या यहां तक कि ऋणात्मक हो चुकी हैं, या बमुश्किल कछुवा चाल से चल रही हैं। उनके पास वित्तीय पूंजी का अम्बार लग चुका है, परन्तु उनके अपने बाजार संतृप्त हो चुके हैं। लिहाजा,

उनकी अर्थव्यवस्थाअें में अब और पूंजी निवेश करके मुनाफा कमाने की गुंजाइश लगभग बेमानी हो चुकी है। अत: वे अपनी वित्तीय पूंजी के बहिर्प्रवाह के लिए तीसरी दुनिया का "भूमण्डलीकरण" कर रहे हैं, और तीसरी दुनिया के शासक वर्ग अपनी विवशता और साथ ही जरूरतों के चलते, घुटने टेककर अपनी अर्थव्यवस्थाओं को विदेशी पूंजी के अन्तर्प्रवाह के लिए "उदारीकृत" कर रहे हैं, विदेशी कर्ज़ से **बालू की भीत** खड़ा करके उस पर अपनी घरेलू अर्थव्यवस्थाओं को "निर्यात-निर्दिष्ट" बना रहे हैं। लेकिन बालू की भीत तो बालू की भीत ही ठहरी। उसका देर-सबेर भहरा कर गिर जाना तो लाजिमी ही है। बेशक इसका खामियाजा न तो विदेशी पूंजी-धारकों को भोगना पड़ता है, न देशी पूंजी-धारकों को – कारण कि ये दोनों के दोनों ही साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी के विश्वव्यापी '**जुआघर**' के साझा मालिक (बड़भैया और छुटभैया के रूप में) बन चुके हैं। और इस जुआघर में वित्तीय पूंजी के खेल में मालिक कभी नहीं हारते। हारती सिर्फ विशाल मेहनतकश जनता है, जिसके श्रम को लूट-लूटकर ये देशी-विदेशी पूंजीधारक उसी अनुपात में मालामाल होते हैं, जिस अनुपात में मेहनतकश जनता कंगाल।

हम इस आलेख के शीर्षक में ही, तथा आलेख के तीसरे पैरे में भी, "भारत के लिए सबक" का संकेत कर आये हैं, और यह भी कि "भारत के शासकवर्ग इस पर शायद ही ध्यान दें"। निश्चय ही, भारतीय शासक वर्ग अपने अभिलाक्षणिक पूंजीवादी चरित्र और उसमें भी, साम्राज्यवाद के साथ अपने घुटनाटेकू गठबन्धन के चलते, इसपर ध्यान नहीं दे सकते। और सच बात तो यह है कि वे ध्यान देकर भी इससे भिन्न कुछ नहीं कर सकते। इस वर्ग के ही विभिन्न धड़ों एवं संस्तरों की नुमाइन्दगी करने वाली सत्तापक्ष की या विपक्ष की चुनावी पार्टियां भी-चाहे वे धुर दक्षिणपंथी हों, मध्यमार्गी या तथाकथित वामपंथी – इससे भिन्न कुछ नहीं कर सकतीं, कारण कि ये सभी की सभी, कुछ सतही अगर-मगर के बावजूद, आम तौर पर, और बुनियादी तौर पर, साम्राज्यवाद के वर्तमान "भूमण्डलीकरण" की नीतियों पर एकमत हैं। मेहनतकश जनता का इनसे कोई उम्मीद करना एक भारी विभ्रम ही होगा। अब आम जनता के लिए एक ही रास्ता है : एक आमूलचूक व्यवस्था परिवर्तनकारी, क्रान्तिकारी विकल्प, जो इस "भूमण्डलीकृत" साम्राज्यवादी-देशी पूंजी के गठबन्धन वाले फ्रेम के भीतर से नहीं पैदा किया जा सकता। इसे विशाल मेहनतकश जनता के बीच से ही पैदा करना होगा।

परन्तु ऐसा विकल्प जनता अपने आप नहीं पैदा कर देती। उसे सही क्रान्तिकारी राजनीति के तहत शिक्षित-प्रशिक्षित और गोलबन्द करना होता है। तभी एक ऐसा विकल्प तैयार किया जा सकता है। यह काम आज देश भर में बिखरे हुए उन सच्चे क्रान्तिकारियों का है जो इस पर गम्भीरता से सोचें, और तदनुरूप अपने कार्यभार तय करके, इस दिशा में, आगे बढें।

– मुकुल

आर्थिक नव-उपनिवेशवाद की लुटेरी नीतियां कैसे काम कर रही हैं

अब क्लासिकीय उपनिवेशवाद या नव-उपनिवेशवाद का जमाना नहीं रहा। अब आर्थिक नव-उपनिवेशवाद का गैर-क्लासिकीय दौर है। अब साम्राज्यवाद समूची दुनिया को अपनी वित्तीय आर्थिक अधिरचना के मातहत कर चुका है। अब "भूमण्डलीकृत" विश्व-अर्थव्यवस्था के संचालन के केन्द्र औद्योगिक जगत से खिसक कर वित्तीय बाजार, या और सरलता से कहें तो, सट्टा-बाजार में चले गये हैं।

आज "मुक्त अन्तरराष्ट्रीय बाजार" के नाम पर मुश्किल से 10-15 प्रतिशत साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी-निवेशक सारी दुनिया के 60-65 प्रतिशत वित्तीय-बाजारों पर अपना एकछत्र राज कायम कर चुके हैं। वे **अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष, विश्व-बैंक** और **विश्व व्यापार संगठन** की लुटेरी साम्राज्यवादी नीतियों के तहत, अपने आकर्षण के एकमात्र और सबसे बड़े क्षेत्र, तीसरी दुनिया के विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं, को अपनी वित्तीय पूंजी द्वारा की जाने वाली खुली लूट के लिए पूरी तरह से "खोल" चुके हैं, और इन देशों के शासक बुर्जुआ वर्ग इस लूट में अपनी औकात और हैसियत के मुताबिक हिस्सेदारी करने के लिए घुटने टेककर कनिष्ठ साझीदार बन चुके हैं। संक्षेप में, आर्थिक नव-उपनिवेशवाद की भूमण्डलीय लूट की यही व्यूह-रचना है।

ऐसे में, तीसरी दुनिया के विकासशील देशों की पूंजीवादी सरकारों को अपनी सत्तावादी राजनीति के तहत अपनी जनता को गुमराह करते रहने के लिए कुछ नकली **सब्ज-बाग** दिखाते रहने की जरूरत पड़ती है। और ये सरकारें ठीक यही कर भी रही हैं।

भारत सरकार ने भी यही **सब्ज-बाग** दिखाया है कि "उदारीकरण" की बदौलत होने वोले विदेशी वित्तीय पूंजी के अन्तर्प्रवाह से भारत भी "एशियाई शेर" कहे जाने वाले दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों की कतारों में जा खड़ा होगा। अब यह अलग-बात है कि "एशियाई शेरों" की स्थिति भी **भीगी बिल्ली** बन जाने की दिशा में तेजी से अग्रसर है। यह भी उसी आर्थिक नव-उपनिवेशवादी लूट की व्यूह-रचना का हिस्सा है, जिसके तहत साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी के निवेशक लातिन अमेरिकी देशों और उप-सहारा अफ्रीकी देशों की अर्थव्यवस्थाओं और फिर दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों की अर्थव्यवस्थाओं का भट्ठा बैठाने के बाद, अब दूसरे विकासशील देशों की ओर अपनी गिद्ध-दृष्टियां फेर रहे हैं, जिनकी सूची में भारत भी शामिल है।

अभी तक, "उदारीकरण" के पिछले छ: वर्षों में हमारे देश की अर्थव्यवस्था में क्या हुआ है? अमेरिका और पश्चिम यूरोप और जापान से आने वाली ज्यादातर वित्तीय पूंजी पोर्टफोलियो निवेश या सट्टाबाजारी पूंजी के रूप में ही आयी है, जबकि अबतक हुए कुल प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश का परिमाण एक अरब डॉलर सालाना के स्तर पर भी नहीं पहुंच सका है – और ऐसा होने की दूर-दूर तक कोई सम्भावना भी नज़र नहीं आती, कारण कि ऐसा करना विदेशी निवेशकों की दिलचस्पी का मुख्य बिन्दु भी नहीं है।

आज "खुली" भारतीय अर्थव्यवस्था ने विदेशी निवेशकों को छूट दे रखी है कि वे शेयर बाजार में किसी भी भारतीय कम्पनी का 30% तक हिस्सा खरीद सकते हैं। किसी भारतीय कम्पनी का 30% हिस्सा विदेशी निवेशक के हाथों चले जाने का मतलब है, व्यावहारिक दृष्टि से उस कम्पनी का नियंत्रण ही विदेशी निवेशक के हाथों में चले जाना।

पिछले कुछ वर्षों से यही प्रक्रिया जारी है। विदेशी निवेशक तेजी से भारतीय कम्पनियों को हथियाते जा रहे हैं। स्थिति तो यहां तक जा पहुंची है कि देश के सबसे बड़े बैंक, **स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया**, का 20% शेयर विदेशियों के हाथों में जा चुका है। और यहां यह भी गौरतलब है कि पिछली जुलाई में, भारत सरकार ने, साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी की मुनाफाखोरी का युक्ति-विधान रचने के सबसे बड़े माहिर, **प्रो. जेफ्री सॉक्स** को, अपना नया आर्थिक सलाहकार नियुक्त कर लिया है, जो भारत सरकार पर दबाव डाल रहे हैं कि सरकार **केन्द्रीय रिजर्व बैंक** समेत सारे केन्द्रीय बैंकों तथा शेयर-बाजारों पर से सरकारी हस्तक्षेप और नियंत्रण हटा ले। अभी हाल में इस तरह की खबरें आयी हैं कि पश्चिम के साम्राज्यवादियों ने एक गुपचुप समझौता यह किया है कि दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों की अर्थव्यवस्थाओं को अपने स्वतंत्र रास्ते पर चलने ही न दिया जाये, और उन्हें पूरी तरह अपनी गिरफ्त में रखा जाये। इस साजिशाना नीति के उपकरण के तौर पर वे इन देशों की घरेलू मुद्राओं को अस्थिर करते रहने और अवमूल्यित होने के लिए मजबूर करते रहने की योजना बना चुके हैं और लागू भी कर रहे हैं।

इसी योजना के तहत वे थाईलैण्ड, फिलीपीन्स, मलेशिया और इण्डोनेशिया के शेयर–बाजारों में कुछ खास देशी शेयरों में विशेष दिलचस्पी लेकर उनकी भारी खरीद करते रहे और बड़े पैमाने पर मुनाफा बटोर कर ले जाते रहे, जिसके लिए बड़े पैमाने पर की जाने वाली डॉलरों की खरीद ने इन देशों की मुद्राओं की कीमतें गिरा देने का माहौल पैदा कर दिया। और यही हुआ भी।

अब सट्टाबाजारी वित्तीय पूंजी के विदेशी निवेशकों की नज़रें भारत पर लगी हैं। और यहां भी अनिवार्यत: यही होने वाला है–पहले भी वे ऐसा करके भारतीय रुपये का अवमूल्यन करा ही चुके हैं।

परन्तु भारतीय शासक वर्गों को इसकी कोई चिंता नहीं। आखिर वे भी तो साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी द्वारा की जाने वाली भूमण्डलीय लूट के कनिष्ठ साझीदार बन चुके हैं। कहते हैं जब शेर शिकार पर निकलता है तो सियारों का एक झुण्ड पीछे–पीछे हो लेता है, ताकि शेर द्वारा शिकार खाने के बाद कुछ बचा–खुचा जूठन उन्हें भी मिल सके। भारतीय शासक वर्ग, (और भारतीय ही क्यों तीसरी दुनिया के विकासशील देशों के प्राय: सभी पूंजीवादी शासक वर्ग) इसी जूठन को पाने के लिए साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी के "भूमण्डलीकरण" अभियान के पीछे–पीछे सियारों की भांति लगे हुए हैं।

पर इन सबका भारी खामियाजा तो व्यापक मेहनतकश आबादी को ही भुगतना है–भुगत ही रही है। आज व्यवस्था–परिवर्तन के लिए सोचने और संघर्ष करने वाले सभी क्रान्तिकारियों, एवं अन्य सचेत नागरिकों को इस पर गम्भीरता से सोचना ही होगा, और सच्चे अर्थों में एक ऐसे **क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य** के निर्माण हेतु मेहनतकश जनता को संघर्ष के लिए एकजुट करने के काम में लगना होगा जिसमें राजकाज और समाज पर आर्थिक नव–उपनिवेशवादी गुलामी के टट्टू बन चुके भारतीय शासक वर्गों को उखाड़ फेंक कर, मेहनतकश मजदूर–किसान जनता की सत्ता कायम होगी।

– ललित

"संरचनात्मक समायोजन" की नीतियों का एक और जबर्दस्त हमला:

तमाम महत्वपूर्ण योजनाओं को "फालतू" और "गैर–जरूरी" कहकर खत्म कर देने की साजिश

वैसे तो "सामाजिक न्याय के साथ विकास" का खुद ही विद्रूप प्रहसन करते हुए इन्द्र कुमार गुजराल ने प्रधानमंत्री पद की शपथ लेने के तुरन्त बाद ही पूंजीपतियों के संगठन, **सी आइ आइ** (कन्फेडरेशन ऑफ इण्डियन इण्डस्ट्री), के वार्षिक सम्मेलन में यह साफतौर पर घोषित कर दिया था कि पिछली नरसिंह राव सरकार के समय से चली आ रही "संरचनात्मक समायोजन" की नीतियों को "उनकी तार्किक परिणति तक ले जाया जायेगा।" इसलिए यह कोई आश्यर्चजनक नहीं है कि उसी "तार्किक परिणति" तक ले जाने की प्रक्रिया को और तीव्र गति प्रदान करते हुए गुजराल सरकार ने लगभग सभी महत्वपूर्ण मंत्रालयों के तत्वावधान में अब तक चली आ रही तमाम महत्वपूर्ण योजनाओं को "फालतू" और "गैर–जरूरी" कहकर खत्म कर देने का एक साम्राज्यवादपरस्त साजिशाना फैसला कर डाला है। यहां हमारी प्रतिक्रिया का मुख्य बिन्दु यह नहीं है कि ये तथाकथित "लोक कल्याणकारी" योजनाएं बहुत सुचारु और कारगर ढंग से काम कर रही थीं – दरअसल इस घोर भ्रष्ट पूंजीवादी तंत्र में यह सम्भव भी नहीं है – बल्कि यह है कि इससे व्यवस्था की व्यापक जन–विरोधी और साम्राज्यवादपरस्त नीतियों की निरन्तर बढ़ती आक्रामकता अब और भी अधिक बेनकाब हो जाती है, जो निश्चय ही इस दृष्टि से स्वागत योग्य है कि यह सरकार अब ज्यादा समय तक जनता को गुमराह नहीं कर सकती।,

केन्द्र सरकार द्वारा गठित "हाई पावर कमेटी" ने जिन मंत्रालयों की ऐसी योजनाओं को खत्म करने का फैसला लिया है, वे हैं : कृषि, नागरिक, उड्डयन, पर्यटन, कोयला, वाणिज्य, स्वास्थ्य, गृह, औद्योगिक विकास, श्रम, ऊर्जा, विज्ञान और तकनोलॉजी, वस्त्र, जल संसाधन, प्रतिरक्षा, महिला और शिशु विकास, फूड प्रोसेसिंग, सूचना और प्रसारण, गैर–प्रचलित ऊर्जा, परमाणु ऊर्जा और समुद्री विकास मंत्रालय।

अब आइए, सरकारी तौर पर देखें कि ऐसी "फालतू" और "गैर–जरूरी" योजनाओं के तहत मुख्यत: वे कौन–कौन सी गतिविधियां हैं जिन्हें "वीडआउट" यानी खत्म कर देने या पूरी तरह से "रिमॉडल" यानी उनके ढॉचे को ही बदल देने का फैसला सरकार ने लिया है।

पहले कृषि मंत्रालय को लें। इसके अन्तर्गत 23 ऐसी योजनाएं हैं जिन्हे सरकार बन्द करने जा रही है। इनकी गतिविधियों के क्षेत्र है : फार्म प्रबन्ध का अध्ययन, अन्तर्देशीय मछली पालन विकास परियोजना, फार्म मशीनरी प्रशिक्षण और मूल्यांकन केन्द्र, शहरी क्षेत्रों के आस–पास शाक–सब्जियों की खेती और बफर बीजगोदाम। अब यदि हम संक्षेप में कहे तो, सचमुच फार्म प्रबन्ध का अध्ययन भारतीयों के लिए जरूरी नहीं रह गया है, कारण कि "उदारीकरण" के इस दौर में यह ठेका तो सरकार ने बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को दे रखा है, जो बड़े–बड़े भूखण्ड 'इण्डो–जर्मन', इण्डो–अमेरिकन', इण्डो–जापानी' जैसी साझीदारियों में खरीदती जा रही हैं। देश के भीतर भी मछली–पालन व्यवसाय का विकास करने की क्या आवश्यकता यह काम भी तो बहुराष्ट्रीय कम्पनियां ही कर सकती हैं, जो अभी ही अपनी दैत्याकार मछलीमार नौकाओं से लगभग सभी भारतीय समुद्री क्षेत्रों पर कब्जा करके लाखों पुश्तैनी मछुआरों को उनकी रोजी–रोटी से बेदखल कर चुकी हैं, और अब जहां तक देश के भीतरी ताल–तलैयों की बात है तो उनमें भी वे ही अपनी मछली–पालन परियोजनाएं लागू करेंगी। फिर जब पूरी खेती को ही परम्परागत खाद्यान्न–उत्पादन से हटाकर "निर्यात–निर्दिष्ट" गैर–खाद्यान्न उत्पादन की दिशा में मोड़ देने की तैयारी चल रही है, तो भारतीयों को फार्म मशीनरी सम्बन्धी जानकारी की जरूरत ही क्या! यह काम भी विदेशी या उनके दुमहिलाऊ, विदेशी फार्ममशीनरी–प्रशिक्षण प्राप्त देशी 'बाबू' कर ही लेंगे। रही बात शहरी क्षेत्रों के आसपास शाक–सब्जी उगाने की, तो इनकी भी क्या आवश्यकता! केण्टुकी, मैक्डोनाल्ड, पीजा हट, के 'फास्ट फूड' के जमाने में देशी तरकारी–भाजी और वह भी शहरी क्षेत्रों में ! – अरे वहीं तो इनका बाजार है। और अब बफर बीजगोदामों की भी क्या आवश्यकता! कारगिल जैसी बहुराष्ट्रीय बीज कम्पनियां किस लिए हैं।

अब नागरिक उड्डयन विभाग की "फालतू" और "गैर–जरूरी" योजनाओं के बारे में सरकार ने फैसला किया है कि अन्तराष्ट्रीय पर्यटन विकास, तम्बू–कनात की आवास–व्यवस्था, पर्यटन वाहनों और कोचों तथा होटल मैनेजमेण्ट की योजनाओं को खत्म किया

जायेगा। इसमें भी वही बात है - सारा-का सारा काम तो विदेशी कम्पनियां करने ही जा रही हैं - करने भी लगी हैं।

अब कोयला के रेल और समुद्री परिवहन पर कोई सब्सिडी नहीं दी जायेगी, तथा सीआइएल (कोल इण्डिया लिमिटेड) को भी कोई सहायता नहीं दी जायेगी। सार्वजनिक क्षेत्र के देशी लोग सब्सिडी खा जाते हैं और कोई खास फायदा नहीं होता, लिहाजा अब यह काम भी विदेशियों के जिम्मे।

वाणिज्य मंत्रालय की योजनाओं के अन्तर्गत चलाये जाने वाले **काफी बोर्ड** और **टी बोर्ड** को खत्म कर दिया जायेगा, ताकि इनके काफी हाउसों और टी हाउसों में घटिया ही सही लेकिन सस्ती काफी और चाय अब आम भारतीय न पी सके।

अब स्वास्थ्य विभाग से कहा जायेगा कि वह आमतौर पर अनुसूचित जातियों/जनजातियों को होने वाली बीमारियों पर होने वाले अनुसंधान, बहरापन और श्रवण-शक्ति ह्रास उपचार, मुख-स्वास्थ्य कार्यक्रम तथा सार्वजनिक-निजी क्षेत्र के संयुक्त प्रयास के अन्तर्गत चल रहे नर्सिंग विभाग को मदद देने और विकसित करने की योजनाएं बन्द कर दे। ये काम अब "निजीकरण" के तहत किये जायेंगे! अब यह बात अलग है कि भारी आबादी के पास "निजी" कुछ खास है ही नहीं जो इस "निजीकरण" का लाभ उठा सके। लेकिन सरकार क्या करे, वह इनकी थोड़े है, वह तो "निजीकरणवादियों" की है।

सरकार ने कई परम्परागत देशी सिंचाई-योजनाओं को बन्द कर देने का फैसला लिया है। दरअसल जब बड़े-बड़े भूखण्डों पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियां अपनी मुनाफादायी फसलों, सब्जियों ओर फलों की खेती करेंगी तो इन ठेठ देशी सिंचाई योजनाओं का क्या काम। वे 'स्प्रिंकलर इरिगेशन' और 'ड्रिप इरिगेशन' की टेक्नोलॉजी नहीं लागू करेंगी। छोटी जोतों वाले सीचेंगे भी क्या! उन्हें तो देर-सवेर अपनी जगह-जमीन से उजड़ ही जाना है।

औद्योगिक विकास विभाग की उत्पादकता के लिये चलायी जाने वाली जन-संचार परियोजना खत्म की जायेगी। अब विकास की सारी जिम्मेदारी जब "उदारीकृत" होकर विदेशी निवेशकों के हाथों में दी जा रही है तो देशी जन को उत्पादकता के विकास की जानकारी की जरूरत ही क्या रहेगी।

इसी तरह अब शिशु कल्याण केन्द्रों की योजनाओं को भी खत्म किया जाना है। आखिर क्यों नहीं, भारत बहुत बच्चे पैदा करता है, कम रहेंगे तो स्वत: ही उनका कल्याण हो जायेगा।

इस तरह आजादी की स्वर्ण जयन्ती आते-आते भारतीय व्यवस्था की सुई जिस साम्राज्यवादी गुलामी से प्रस्थान की थी, अब एक स्प्रिंगदार चक्र पूरा करके उसी साम्राज्यवादी गुलामी - बेशक आर्थिक नव-उपनिवेशवादी साम्राज्यवादी गुलामी -के बिन्दु पर जा पहुंची है।

- मीनाक्षी

निर्यातोन्मुख कृषि की अन्धी दौड़ यानी छोटे किसानों की तबाही

निर्यात की अंधी दौड़ वाले एक उदारीकृत बाजार में कृषि क्षेत्र और छोटे किसानों की उपेक्षा की वजह से दक्षिण-पूर्व एशिया के "आर्थिक शेर" का स्वरूप (Economic Tigerhood) ग्रहण करने का तीव्र विकास यात्रा की अन्त खाद्य सुरक्षा संकट के जाल में फंसकर ही हो सकता है। विशेषज्ञों का कहना है कि यदि यह क्षेत्र कृषि क्षेत्र की कीमत पर, भूमण्डलीय बाजार में प्रतियोगी बनने की नीति का अन्धानुकरण करता रहा, तो इस क्षेत्र की आर्थिक रीढ़ कृषि पर और इसकी स्वयं अपने भरण-पोषण की क्षमता पर ही खतरा उत्पन्न हो सकता है।

खाद्य और कृषि संगठन (एफ.ए.ओ) के एशिया-प्रशांत क्षेत्र के प्रतिनिधि ए. जेड. एम. ओबैदुल्ला खान ने यह चेतावनी दी है कि "छोटे किसानों की उपेक्षा" ही वह मुख्य कारण है जिसकी वहज से अर्थव्यवस्थाओं के खाद्यान्न की प्रचुरता और कमी के दुश्चक्रों में फंसने की सम्भावनाएं बढ़ जाएंगी। नीदरलैण्ड्स के ट्रांसनेशनल इंस्टीट्यूट की सुश्री सूसन जार्ज चेतावनी देती हैं कि "यदि हम खाद्यान्न उत्पादन एवं ठहरावग्रस्त पैदावार तथा दक्षिण-पूर्व एशिया की समृद्धतर अर्थव्यवस्थाओं द्वारा अपने आहारों के स्तरोन्नयन का जायजा लें, तो इसमें हमें निचोड़ने की ही एक प्रक्रिया दिखाई देती है।" और क्योंकि बहुतेरे राष्ट्र जो कि कृषि से उद्योग की ओर भाग रहे हैं, किसानों की जीविका को नष्ट करते जा रहे हैं, अत: "दुनिया के इस हिस्से में ढांचे के चरमराने की स्थिति पैदा हो चुकी है।" यह बात सुश्री जार्ज ने 'दक्षिण-पूर्व एशिया में खाद्य सुरक्षा और व्यापार की स्थिति' विषय पर पिछली फरवरी में मनीला में हुए एक सम्मेलन के दौरान कही। मलेशिया का एक बहुत बड़ा भूभाग तो पहले से ही रबड़ एवं आयल-पॉम जैसी नकदी फसलों के बागान में तब्दील हो चुका है।

चीन हाल के वर्षों में मक्का निर्यातक की हैसियत से गिरकर उसका शुद्ध आयातक देश बन चुका है। इण्डोनेशिया में धान की खेती का क्षेत्रफल पिछले दशक में ही घट चुका है, कारण कि वहां हर साल 50,000 हेक्टेयर भूमि गैर-कृषिगत इस्तेमाल के हवाले होती जा रही है। उसका चावल उत्पादन 1994 में ही घटकर अपने न्यूनतम स्तर पर जा पहुंचा, तथा एक दशक के भीतर ही चावल का आयात बढ़कर पिछले साल अपने शिखर पर पहुंच गया।

फिलीप्पीन्स की कृषि-रणनीति–जिसके बारे में वहां के सरकारी अधिकारी कहना चाहेंगे की वह महाबली बनने की ओर अग्रसर है, धान और मक्का की खेती में लगे 5 मिलियन हेक्टेयर क्षेत्रफल को घटाकर 2 मिलियन हेक्टेयर कर देने, और बाकी को व्यापारिक फसलों और पशुपालन के लिए इस्तेमाल करने की ओर लक्षित है। वियतनाम और कम्बोडिया में, बाजार की मांग, नाजुक मैंग्रोव क्षेत्र को खाद्यान्न फसलों के बजाय, निर्यात हेतु झींगे की खेती, और पॉम आयल या काजू की खेती के लिए इस्तेमाल करने पर, जोर दे रही है।

श्री खान कहते हैं : "सड़कें, दूकानों की कतारें, सैरगाह और फैक्टरियां अच्छी-से अच्छी कृषि-भूमियों को कंक्रीट के नीचे दफ़न करती जा रही हैं। जैसा कि आजकल एक चीनी कहावत चल पड़ी है 'डामर ही सबसे नयी फसल है'।"

इन प्रवृत्तियों के पीछे मुख्य प्रेरकशक्ति व्यापार का उदारीकरण ही है, जो अब कृषि को भी अपने आगोश में ले चुका है। उदारीकृत व्यापार को अक्सर दक्षिण-पूर्व एशिया की समृद्धि का मार्ग कहा जाता है, परन्तु आलोचकों का मत है कि यह मार्ग इस क्षेत्र को संकट में डाल सकता है।

मलेशिया की पर्यावरण सुरक्षा सोसायटी के सलाहकार गुरमीत सिंह का कहना है कि "आज जिस व्यापार-व्यवस्था को आगे बढ़ाया जा रहा है वह निश्चित तौर पर विकासशील देशों में खाद्य सुरक्षा को छिन्न-भिन्न कर देगी," उन्होंने इस बात पर चिन्ता प्रकट की है कि मलेशिया जैसे देश जो औद्योगीकृत देश की हैसियत पा लेने की होड़ में संलग्न हैं, खुले बाजार से खाद्य-सामग्री खरीदने और छोटे किसानों की सहायता करने के बजाय कृषि-व्यापार के उद्योगों को बढ़ावा देने में ही सन्तुष्ट दिखायी दे रहे हैं।

सुश्री जार्ज का कहना है कि राष्ट्रों को बाजार के रहमोकरम पर छोड़ देने से निरन्तर बढ़ती खाद्य असुरक्षा की स्थिति और भी गम्भीर हो उठती है, और यह असुरक्षा तो दरअसल पहले से ही महसूस की जा रही है, जब दो दशकों के भीतर ही खाद्य-सामग्रियों की कीमतें दुगुनी हो चुकी हैं और सारी दुनिया में अनाजों का भण्डार घटकर अपने न्यूनतम स्तर पर जा पहुंचा है।

पिछले तीन वर्षों में, अनाज की मांग उत्पादन से अधिक हो चुकी है। एफ.ए.ओ. का कहना है कि 1996 की शुरुआत में ही सारी दुनिया में अनाजों का भण्डार मांग का मात्र 14% ही रह

गया था यानी कि यह खाद्य सुरक्षा के मानक स्तर से 4% नीचे था। एशिया, के धान पैदा करने वाले क्षेत्र, जो दुनिया का 90% से अधिक चावल पैदा और उपभोग करते हैं, बढ़ती जनसंख्या के अनुपात में, उत्पादन की दृष्टि से, ठहरावग्रस्त होते जा रहे हैं, और ऐसा समझा जाता है कि 2025 तक चावल की मांग 70% तक बढ़ जायेगी।

लन्दन-आधारित ऑक्सफैम से सम्बद्ध अन्तरराष्ट्रीय खाद्य-व्यापार के एक विशेषज्ञ, केविन वाट्किन्स का कहना है कि दक्षिण-पूर्व एशियाई राष्ट्र अपनी खाद्य-सम्बन्धी आत्मनिर्भरता की सामान्य तौर पर सुरक्षा करते रहे हैं क्योंकि यह सवाल सामाजिक-राजनीतिक स्थिरता के सवाल के साथ जुड़ा हुआ है। लेकिन, उन्होंने कहा, "जैसे-जैसे आर्थिक विकास आगे बढ़ रहा है और जैसे-जैसे कृषि में उदारीकरण की रफ्तार तेज हो रही है, वैसे-वैसे यह खतरा भी बढ़ता जा रहा है, कि यह क्षेत्र आयात पर अधिकाधिक निर्भर होता जायेगा, जिसका ग्रामीण क्षेत्रों में आजीविका पर बहुत ही बुरा असर पड़ेगा।

दक्षिण-पूर्व एशियाई राष्ट्रों के संघ (एसियान) के कृषि विकास नियोजन केन्द्र के अनुसार (एसियान) के भीतर, 1980 से 1993 के बीच, **सकल घरेलू उत्पाद** (**जी.डी.पी.**) में कृषि का हिस्सा, 32% से गिरकर 24% रह गया। और एफ ए ओ ने तो पहले ही यह घोषित कर दिया है कि कृषि सम्बन्धी आयातों के लिए, जो कि खाद्य आयातों का 65% भाग है, एशिया सबसे तीव्र गति से विकसित हो रहा बाजार है।

अमेरिका के कृषि विभाग का कहना है कि अधिक आय वाला एशिया' - जापान, दक्षिण कोरिया, ताइवान, हांगकांग, सिंगापुर, मलेशिया और ब्रूनेई - प्रतिवर्ष 50 मिलियन टन अनाज का या अन्य किसी भी क्षेत्र से कहीं अधिक खाद्य सामग्री का आयात करता है। इसके अतिरिक्त कम आय वाले फिलीप्पीन्स, इण्डोनेशिया और थाइलैण्ड कम से कम 5.5 मिलियन टन अतिरिक्त आयात करते हैं।

समृद्ध एशियावासियों को अब ऐसी खाद्य-सामग्रियों का भी चस्का लगता जा रहा है जिन्हें वे स्वयं नहीं पैदा करते, और इस प्रकार वे इस क्षेत्र को अमेरिका और यूरोप से गेहूं के निर्यात के लिए अति तीव्रता से विकसित हो रहे बाजारों की श्रेणी में शामिल करते जा रहे हैं। भले ही एशिया के पास इतने डॉलर हैं कि वह बाहर से, अपने क्षेत्र की अपेक्षा कमतर कीमत पर, खाद्य सामग्री खरीद सकता है, फिर भी बढ़ती खाद्य-कीमतें और अस्थिर बाजार एक ऐसे क्षेत्र के लिए जिसका विश्वव्यापी कीमतों पर कोई नियंत्रण नहीं है, एक अंधी खाई ही सिद्ध हो सकते हैं। विशेषज्ञ कहते हैं कि कृषि उत्पादों का विश्व व्यापार किसी भी तरह से एक समतल खेल का मैदान नहीं हो सकता, कारण कि अमेरिकी और यूरोपीय सरकारें अपने खाद्य उत्पादों पर भारी सब्सिडियां देती है और वे ही अक्सर कीमतें भी तय करती रहती हैं।

ये निर्यातक देश अपने कृषि क्षेत्रों को भारी सब्सिडियां देते हैं जिसका मतलब यह है कि वे भारी मात्रा में बेशी खाद्य-उत्पादन करवाते हैं जो, जैसा कि वाट्किन्स का कहना है, अन्ततः विकासशील राष्ट्रों में झोंक दिये जाते हैं। इसका नतीजा यह होता हे कि, स्थानीय किसान जो कि एक विकृत बाजार में प्रतियोगिता कर पाने में अक्षम होते हैं, अक्सर अपनी जगह-जमीन से उजड़कर शहरों की झुग्गी बस्तियों में जानवरों सी जिन्दगी बसर करने को मजबूर होते हैं या बेरोजगारों की बढ़ती कतारों में शामिल हो जातें हैं। इस तरह, खाद्य-निर्भरता बढ़ती जाती है, और जब संकट आते हैं तब इन देशों को कृषि में अल्पनिवेश के पीड़ादायी खामियाजों का भुगतान करना पड़ता है।

श्री खान ने कहा है कि कृषि में उदारीकृत व्यापार के चलते "हम विकास के इसी प्रभावी दुष्चक्र में फंस गये हैं। आने वाले थोड़े लम्बे समय में विकासशील देश लाभान्वित होंगे या नहीं, हम यह नहीं जानते। पर तात्कालिक दौर में तो कम आय वाले देश और कंगाल हो जायेंगे।"

[*इकनॉमिक्स टाइम्स, 24 फरवरी 1996 से साभार*] **अनुवाद :** प्रो. प्यारेलाल

"खाद्य गलियारा" : उप-सहाराई अफ्रीका पर एक नया साम्राज्यवादी हमला

सारी दुनिया की गरीब मेहनतकश आबादी पर "संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम" के तहत भयानकतम आर्थिक नव-उपनिवेशवादी हमले के लिए कुख्यात **अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष** और **विश्व बैंक** ने अंगोला से लेकर मोजाम्बिक तक के समूचे उप-सहाराई अफ्रीकी क्षेत्र की भारी गरीब मेहनतकश किसान आबादियों को अपनी जगह-जमीन से उजाड़ देने की एक सर्वथा नयी साजिशाना योजना निकाली है जिसका नाम है : "खाद्य गलियारा" (फूड कॉरीडोर) जिसे दक्षिण अफ्रीका में एफ. डी. क्लार्क के गोरे नस्लभेदी शासन में "अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस के लक्ष्यों" पर प्रहार का आदेश करने वाले तत्कालीन दक्षिण अफ्रीकी सेना (एस ए डी एफ) के कमाण्डर-इन-चीफ रह चुके जनरल कॉन्स्टेण्ड विजोएन अपने नेतृत्व में अपने दक्षिणपंथी संगठन, **अफ्रीकनर फ्रीडम फोरम** (**एफ एफ**), के तत्वावधान में लागू करने जा रहे हैं।

मजे की बात तो यह है कि इस विनाश योजना को, 26-27 वर्षों तक जेल में रहने वाले और **अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष** एवं **विश्व बैंक** की कड़ी भर्त्सना करने वाले, दक्षिण अफ्रीकी राष्ट्रपति नेल्सन मण्डेला भी इसे "एक प्रकार की विदेशी सहायता के रूप में" स्वीकार किये जाने की मंजूरी दे चुके हैं और सभी अफ्रीकी राष्ट्रों से इसे स्वीकार करने की अपील कर चुके हैं। परन्तु यह कोई आश्चर्यजनक नहीं है। दरअसल एक लम्बे समय तक अप्रतिम साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष चलाने के बाद, आर्थिक नव-उपनिवेशवाद के वर्तमान दौर में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों की अनिवार्य ऐतिहासिक विद्रूप परिणति के तौर पर, मण्डेला और उनकी सत्तारूढ़ पार्टी का यही हश्र होना भी था। आज वे साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था के अंग-उपांग बन कर उसी कड़वी "आर्थिक दवा" की घुट्टी अपनी भारी मेहनतकश जनता को भी पीने पर मजबूर कर रहे हैं जो उन्हें **कोष-बैंक** सुझा रहे हैं।

बहरहाल, हम बात को मूल विषय पर केन्द्रित करें। इस "खाद्य गलियारा" योजना के तहत भले ही प्रकट तौर पर यह दावा किया जा रहा है कि इससे "स्थानीय जनता को खाद्य" उपलब्ध होगा, परन्तु सच्चाई इसके ठीक विपरीत ही है। इस योजना का क्रियान्वयन होते ही किसान अपनी जगह-जमीन से उजड़ने पर मजबूर हो जायेंगे, छोटी जोतो वाले किसान खेत-मजदूर या बोअरों (*दक्षिण अफ्रीका के बड़े गोरे फार्मर और बागान मालिक*) के बड़े-बड़े बागानों में काम करने वाले आसामी बन जाने को मजबूर हो जायेंगे। "खाद्य गलियारा" योजना अपनी अमली कार्यवाही के तहत न सिर्फ पहले से चली आ रही कृषि प्रणाली को विस्थापित कर देगी, बल्कि पैमाने पर कृषि-भूमियों का विनियोजन भी कर लेगी। इसके अतिरिक्त, यह सम्बन्धित राष्ट्र की आर्थिक और सामाजिक अवरचना (इन्फ्रास्ट्रक्चर) को भी अपने नियंत्रण में ले लेगी, जिसका व्यापक दुष्प्रभाव देहाती क्षेत्र की भारी आबादी के और कंगालीकरण और बदहाली के रूप में पड़ेगा, जो अभी ही कम नहीं है। यह जीवन-निर्वाह के लिए खेती

और किसानी मुद्रा-फसली अर्थव्यवस्था पर भी प्राणघातक प्रहार करने वाली है। दरअसल, दक्षिण अफ्रीका की विगत नस्लभेदी-साम्राज्यवादी परिघटनाओं के बाद, अब बोअर, जैसा कि जाइरे के एक जनतंत्र-समर्थक समूह के एक प्रवक्ता, **जेन के लेंगा**, ने ठीक ही कहा है, अपनी नस्लभेदी साम्राज्यवादी जीवन शैली लागू करने के लिए नये क्षेत्रों की तलाश में हैं। "खाद्य गलियारा" योजना इसी दिशा में निर्दिष्ट है।

दक्षिणपंथी **अफ्रीकनर फ्रीडम फोरम (एफ. एफ.)** इस "खाद्य गलियारा" योजना के तहत अपने कृषि व्यापार की पकड़ को अंगोला से लेकर मोजाम्बिक तक विस्तारित कर देना चाहता है। इसके कृषि व्यापार में व्यापारिक खेती के लिए **बड़े पैमाने के निवेश, खाद्य संसाधन** और पारिस्थितिकीय पर्यटन आदि की बातें शामिल हैं। इस भयानक लुटेरी योजना को लागू करने में अन्य तमाम बड़े कृषि-व्यापारिक संगठन जैसे, **साउथ अफ्रीका चैम्बर ऑफ एग्रीकल्चरल डेवलपमेण्ट (एस ए सी ए डी ए), ऑरेंज फ्री स्टेट**, और **ईस्टर्न ट्रांसवाल** आदि लगे हुए हैं। इस लुटेरी योजना को मण्डेला और उनकी **अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस** का न सिर्फ दक्षिण अफ्रीका समर्थन प्राप्त है, बल्कि इसे स्वयं दक्षिण अफ्रीका और उसके पड़ोसी देशों में करगर ढंग से लागू करने के लिए मण्डेला की सरकार ने अपने एक प्रांत, पूर्वी ट्रांसवाल, के प्रीमियर **मैथ्यूज फोजा** को **एस ए सी ए डी ए बोर्ड ऑफ गवर्नर** में एक प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त भी कर दिया है। यहां याद रहे कि यह मैथ्यूज फोजा ही हैं जो मण्डेला सरकार में न सिर्फ एक प्रभावशाली राजनीतिज्ञ हैं, बल्कि सबसे धनी काले व्यापारियों में से एक हैं। इन्होंने ही दक्षिण अफ्रीका के पड़ोसी देशों में गोरे अफ्रीकनर-व्यापार के हितों के विस्तार के लिए भारी आधारभूत राजनीतिक कार्रवाई की है।

कुछ राजनीतिक-आर्थिक विचारक इस "खाद्य गलियारा" योजना को "नस्लभेद निर्यात" की संज्ञा दे रहे हैं। परन्तु यह तो मामले का सिर्फ सतही नाम भर है। दरअसल, अपनी अन्तर्वस्तु में यह एक नव-आर्थिक उपनिवेशवादी हमला है जो "भूमण्डलीकरण", "आर्थिक उदारीकरण", "संरचनात्मक समायोजन" आदि के नाम से दुनिया भर में, और खासतौर से, तीसरी दुनिया की गरीब मेहनतकश आबादियों के ऊपर पिछले एक डेढ़ दशक से बढ़ती तीव्रता के साथ जारी है, जो अब उप-सहाराई अफ्रीकी देशों पर "खाद्य गलियारा" नाम से होने जा रहा है, जिसकी साम्राज्यवादी चतुरंगिणी में लूट का जूठन प्राप्त करने की लालच या मजबूरी में अब मण्डेला और उनकी ए एन सी भी शामिल हो चुके हैं।

– विश्वमित्र

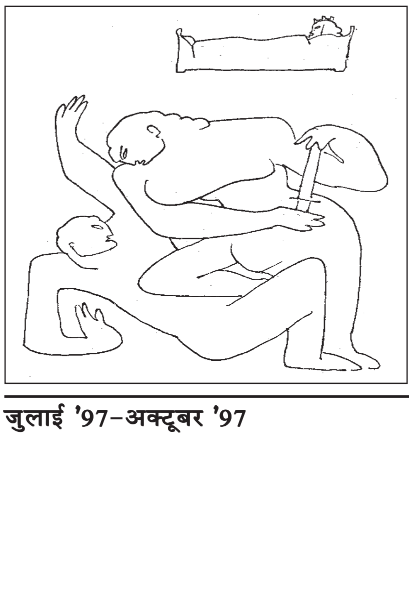

भारतीय जैव-सम्पदा और जैव-विविधता की भारी लूट

भारतीय उपमहाद्वीप जैव-सम्पदा और जैव-विविधता के मामले में दुनिया का सबसे समृद्ध देश है। दुनिया भर में पाये जाने वाले जैव-विविधता के चार व्यापक भौगोलिक परिक्षेत्रों में से तीन परिक्षेत्र अकेले भारत में ही पाये जाते हैं, जबकि दुनिया के अन्य किसी भी देश में ज्यादा से ज्यादा दो ही परिक्षेत्र मिलते हैं।

1981 के प्राणिवैज्ञानिक सर्वेक्षण के अनुसार भारत में जन्तुओं की कुल 75,000 प्रजातियां हैं जिनमें 50,000 कीट-पतंगों, 4,000 घोंघा, 450 रेंगने वाले जन्तुओं, 2,000 चिड़ियां और 650 स्तनधारियों की प्रजातियां हैं। इसी तरह, वानस्पतिक सर्वेक्षण के अनुसार, हमारे देश में वनस्पतियों की कुल 45,000 प्रजातियां हैं, जिनमें 15,000 किस्म के फूलवाले पौधे 5000 किस्म के शैवाल (एलगी), 1500 किस्म के लाइकेन, 20,000 किस्म के कवक (फंजाई), और 27,000 किस्म के ब्रायोफाइट्स हैं।

परन्तु सबसे बड़ी त्रासद विडम्बना यह है कि भारत में जैव-विविधता के संरक्षण के लिए अभी भी कोई कारगर कानून नहीं है। ले-देकर वन मंत्रालय ने एक मसविदा तैयार किया है।, परन्तु उसकी भी विडम्बना यह है कि उसमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी से जैव-विविधता का संवर्द्धन और संरक्षण करती आयी जनता की भागीदारी का कहीं दूर-दूर तक जिक्र नहीं है, और सारे अधिकार अफसरशाहों और वन-विभाग के अधिकारियों को ही दिये गये हैं, जो घूस लेकर तमाम दुर्लभ जड़ी-बूटियों और अन्य मूल्यवान प्रजातियों को विदेशी तस्करों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियां के दलालों के हाथों सौंप देने के लिए पहले ही से बदनाम हैं।

जैव-सम्पदा और जैव-विविधता के संरक्षण हेतु अभी तक कोई कारगर कानून, और जनता की भागीदारी का कोई प्रोत्साहन न होने का ही नतीजा है कि अक्सर सीमा पर दुर्लभ तितलियां आदि चुराकर ले जाने वाले विदेशी तस्करों को कस्टम-अधिकारी या तो पकड़ते नहीं, या "सुविधा शुल्क" यानी घूस लेकर पार हो जाने देते हैं।

अभी तक हमारे देश में जैव-सम्पदा और जैव-विविधता संरक्षण सम्बन्धी कोई कारगर कानून न होने के कारण लगभग 95% जन्तु एवं वनस्पति जातियों को – जो भले ही भारत में हैं – अमेरिका की बहुराष्ट्रीय कम्पनियां अपने देश के बौद्धिक सम्पदा अधिकार के हथकण्डों के जरिये अपने नाम पेटेण्ट करवा चुकी हैं, जिनमें भारतीय नीम, हल्दी और बासमती चावल भी शामिल हैं।

सवाल उठता है कि क्या भारत सरकार ऐसे ही सोयी पड़ी रहेगी? परन्तु वह जागकर भी क्या करेगी, क्यों कि वह तो उन्हीं बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के आगे घुटने टेक चुकी है। और यदि वह कोई ऐसा कारगर कानून बना भी लेती है – जैसा कि वन मंत्रालय द्वारा तैयार किया गया मसविदा है – तो भी क्या इस साम्राज्यवाद-परस्त भ्रष्ट तंत्र में भारतीय जैव-सम्पदा और जैव-विविधता की रक्षा हो सकेगी? कहा जा सकता है कि गैट समझौते के तहत भारत ने जिस जैव-विविधता संधि पर हस्ताक्षर किया है वह सभी देशों को अपनी-अपनी जैव-सम्पदा और जैव-विविधता की हिफ़ाजत का अधिकार देती है। परन्तु यह दलील देने वाले यह क्यों नहीं सोचते कि बौद्धिक सम्पदा अधिकार अपनी असलियत में साम्राज्यवादियों का एक ऐसा हथियार है जिसे वे बहुत पहले गढ़ कर तैयार कर चुके थे, और तीसरी दुनिया के विकासशील देश जबतक इस पर सोचेंगे तबतक वे उनकी जैव-विविधता को भारी अंशों में अपनी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के पेटेण्टों ओर कर चुके होंगे और बड़ी तेजी से करते जा रहे हैं।

दरअसल साम्राज्यवादी "भूमण्डलीकरण" के इस दौर में साम्राज्यवाद के आगे अपनी विवशता और जरूरतों के चलते घुटने टेककर उसकी कनिष्ठ साझीदार बन चुकी भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था (या तीसरी दुनिया के देशों की कोई भी पूंजीवादी व्यवस्था)अपने देश की जैव-सम्पदा और जैव-विविधिता की समुचित रक्षा नहीं कर सकती, बल्कि उल्टे वह तो साम्राज्यवाद के साथ अपनी कनिष्ठ साझीदारी में भूमण्डलीय जैव-सम्पदा और जैव-विविधता की भूमण्डलीय लूट में अपनी हैसियत और औकात के मुताबिक हिस्सेदारी ही करेगी, और यही कर भी रही है। साम्राज्यवाद के साथ गठबन्धन कर चुकी इस व्यवस्था को ध्वस्त किये बगैर जैव-सम्पदा और जैव-विविधिता का संरक्षण सम्भव नहीं।

– भूपेश कुमार सिंह

विचारधारात्मक प्रश्न

मार्क्सवाद के विरोध में "नव" -दक्षिणपंथी लोकरंजकतावाद के नये-नये मिथक

❑ **विश्वनाथ मिश्र**

जब इस धरती पर दुनिया को बदलने के दर्शन के रूप में मार्क्सवाद का उदय हुआ, तभी से उस पर दो प्रकार के हमले निरन्तर होते चले आ रहे हैं : एक, मार्क्सवाद का नाम ले लेकर किया जाने वाला संशोधनवादी हमला, और दूसरा 'न पूंजीवाद न मार्क्सवाद' कह कर किया जाने वाला लोकरंजकतावादी (पॉपुलिस्ट) हमला। इन दोनों प्रकार के हमलों की अन्तर्वस्तु पूंजीवादी है, पर इनके रूप, बदलते हालात में, पूंजीवाद की जरूरतों के अनुसार, बदलते रहे हैं। उदाहरण के तौर पर, जैसे पूर्व समाजवादी सोवियत संघ में **ख्रुश्चेव** ने वर्ग-संघर्ष की जगह पर "वर्ग-सहयोग", सर्वहारा की पार्टी की जगह पर "सम्पूर्ण जनता की पार्टी" और सर्वहारा राज्य की जगह "सम्पूर्ण जनता के राज्य" की सर्द संशोधनवादी बयार बहायी, तो चीन में देङ सियाओ-पिङ ने वैज्ञानिक समाजवाद की जगह "बाजार समाजवाद, की संशोधनवादी मुहिम चलायी।

लोकरंजकतावाद अपनेआप को एक "गैर-राजनीतिक" या "तीसरे रास्ते" के रूप में पेश करता है, और, खासतौर से, किसानी मिथकों (एग्रेरियन मिथ्स) का सहारा लेता है। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर 1940 के दशक के मध्य तक, यह कभी भारतीय यूरोपियन सभ्यता के पुराकालीन "स्वर्णयुग" का प्रचार करता रहा है, तो कभी जापान, इंगलैण्ड, जर्मनी और रूस में क्रमश: "नोहोन्शुगी", "मेरी इंगलैण्ड", "वोल्क्सजेमिनसाफ्त", और "नरोदवाद" का रूप लेता रहा है। इन सबके द्वारा प्रचारित "लोकरंजक संस्कृति" किसान मिथकों की ही धुरी पर अवलम्बित रही है।

1990 का दशक शुरू होते-होते, जबकि पूर्वी यूरोप और सोवियत संघ में कुलीनतांत्रिक संशोधनवादी सत्ताओं का पतन हो चुका था, और खुले पूंजीवाद की वापसी हो चुकी थी, तथा चीन में भी "बाजार समाजवाद" लागू हो चुका था, और सर्वोपरि तौर पर, विश्व-पूंजीवाद के "भूमण्डलीकरण" का अश्वमेधी तुरंग सारी दुनिया में दौड़ने लगा था, लोकरंजकतावाद ने एक "नया" दक्षिणपंथी तेवर अख्तियार कर लिया, जो आज अपने नये किसानी मिथकों का जाल फैला रहा है।

इस नये किसानी मिथक वाले "नये" लोकरंजकतावाद ने अपने से 'इतर' यानी मार्क्सवाद का जो उल्टा बिम्ब प्रस्तुत किया है, उसका एक बहुत ही स्पष्ट विवरण टॉम ब्रास ने दिया है, जिसे सारणी में प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस "नये" लोकरंजकतावाद के नये-नये किसानी मिथक "उत्तर-आधुनिकतावाद" की नयी-नयी शब्दावलियों के रूप में प्रकट हो रहे हैं, मसलन : "मातहत" ("सबाल्टर्न"), "प्रतिरोध के दैनन्दिन रूप", "उत्तर-उपनिवेशवाद", "उत्तर-पूंजीवाद", और "उत्तर-मार्क्सवाद"। इनके जरिये, मार्क्सवाद की भांति ही, वर्तमान व्यवस्था के प्रति एक असंतोष और निराशा तथा भविष्य के प्रति एक आशावाद तो प्रकट किया जाता है, परन्तु, जैसा कि ऊपर की सारणी में दिये गये विवरण से स्पष्ट है, मार्क्सवाद के ठीक विपरीत, समाज के वर्ग-विभाजन पर पर्दा डाला जाता है; वर्ग-संघर्ष की जगह वर्ग-सहयोग की बात की जाती है; सर्वहारा की हरावल भूमिका को दरकिनार कर, किसान-समुदाय को एक गैर-वर्गीय समुदाय के रूप में चिन्हित कर, उसी पर केन्द्रीय महत्व दिया जाता है; बुर्जुआ समाज को बदलने के प्रगतिशील या आधुनिक पूंजीवाद-विरोधी दृष्टिकोण और एक रोमानी आधुनिकता-विरोधी या "उत्तर-आधुनिकतावादी" दृष्टिकोण के बीच फर्क को धुंधला किया जाता है; और "टिकाऊ विकास" "टिकाऊ खेती", "प्राकृतिक खेती" आदि के नाम से किसानी मिथकों का प्रचार-प्रसार कर, किसान-समुदायों में अभी भी व्यापक तौर पर और गहरे जड़ जमाये बैठी अतीतग्रस्तता के मोह को हवा देकर, इतिहास के चक्के को पीछे घुमाने की असंभव, अनैतिहासिक मिथकीयता के भंवरजाल में फंसा कर, भारी मेहनतकश आबादी को गुमराह किया जाता है।

दरअसल, इसके लिए मौजूदा विश्व-परिस्थितियां भी फिलहाल, पहले से कहीं ज्यादा अनुकूल हैं - जो सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के पतन और चीन में "बाजार समाजवाद" के नाम से खुले पूंजीवाद की वापसी, और

सारणी

मार्क्सवाद	लोकरंजकतावाद
(किसानी सवाल)	(किसानी मिथक)
(ऐतिहासिक विषय)	
सर्वहारा वर्ग	किसान समुदाय
(राजनीतिक पहचान)	
वर्ग	मानवजातीयता
आर्थिक	सांस्कृतिक
अन्तरराष्ट्रीयतावाद	राष्ट्रीयतावाद
(राजनीतिक कार्रवाई)	
क्रान्ति	प्रतिरोध
संघर्ष	तालमेल
(व्यवस्थागत परिणाम)	
समाजवाद/साम्यवाद	प्राक्-पूंजीवाद/पूंजीवाद
(आर्थिक विमर्श)	
द्वंद्व	समन्वय
बदलाव	यथास्थिति
प्रगति	परम्परा
राजनीतिक अर्थशास्त्र	प्रकृति
उत्पादन	उपभोग
मैन्यूफैक्चर	दस्तकारी
बड़े पैमाने पर उत्पादन	छोटे पैमाने पर उत्पादन
बेशी उत्पादन	जीवन-निर्वाह
सामूहिक	व्यक्तिगत
नियोजन	बाजार
(राजनीतिक-विचारधारात्मक विमर्श)	
तर्कशीलता	नैसर्गिक प्रवृत्ति
विज्ञान	धर्म
इतिहास	मिथक
राजनीति	गैर-राजनीतिक
राज्य	गांव-समुदाय
शहरी	देहाती
उद्योग	खेती
अन्तरराष्ट्रीय	राष्ट्रीय

*स्रोत : **इकॉनमिक ऐण्ड पोलिटिकल वीकली**, 25 जनवरी, 1997, पृ. PF-28.*

सर्वोपरि तौर पर विश्व-क्रान्तिकारी आन्दोलन के बिखराव से पैदा हुई हैं। **फ्रांसिस फुकोयामा** के "इतिहास की अन्त" की घोषणा की यही सच्चाई है। लेकिन यह भी सच्चाई है कि आज विश्व-पूंजीवाद स्वयं अपने आन्तरिक संकटों की असमाधेयता के चलते स्वयं अपने ही इतिहास के अन्त की अंधी गली में जा पहुंचा है, जहां से न तो वह आगे जा सकता है, न ही पीछे लौट सकता है। ऐसे में वह अपने को टिकाये रखने की हर संभव कोशिश में, लोकरंजकता के नित्य नये-नये मिथक अपने तथाकथित चिन्तकों और दार्शनिकों के माध्यम से गढ़ रहा है।

चूंकि विश्व-क्रान्तिकारी आन्दोलन के बिखराव के बावजूद साम्राज्यवाद को अभी भी ज्यादा मार्क्सवाद का ही भय सता रहा है – और जो स्वाभाविक भी है – इसलिए उसका लोकरंजकतावादी हमला भी सबसे ज्यादा मार्क्सवाद पर ही है। उदाहरण के तौर पर, "अलगाव" (एलिएनेशन) पूंजीवाद की अभिलाक्षणिक विशिष्टता है, जिसको मार्क्सवाद एक विशिष्ट भौतिकवादी परिघटना के रूप में लेता है, जो आज के "भूमण्डलीकरण" के दौर में भारी मेहनतकश गरीब किसान आबादी के "हाशिएकरण" के रूप में परिलक्षित है। परन्तु साम्राज्यवाद के "नव" लोकरंजकतावादी चिंतक **फैनन**, **मार्क्यूस**, **फोकाल्ट**, **देरिदा** आदि इसे महज एक गैर-भौतिकवादी परिघटना के रूप में लेते हैं। पूंजीवाद और साम्राज्यवाद द्वारा पैदा किये जा रहे "अलगाव" और उसमें बढ़ती भारी मेहनतकश आबादी के अधिकाधिक दासकरण, शोषण और उत्पीड़न को गैर-भौतिकवादी, और जाहिरा तौर पर, लोकरंजकतावादी धूम्रावरण में असमाधेय बताने, और इस प्रकार, साम्राज्यवादी यथास्थिति को बरकरार रखने की हिमायत करने में **जॉक देरिदा** कहीं और आगे हैं, जो भाषा को लोकरंजकतावाद का मिथकीय औजार बना कर यह कहते हैं कि चूंकि सारा का सारा सोच-विचार भाषा में ही चलता है, अत: भाषा अंतिम कारावास है, जिससे मुक्ति नहीं', और इसीलिए **देरिदा** को "मुक्ति" (लिबरेशन) शब्द कहने में "हिचकिचाहट" होती है। लेकिन यहीं पर, प्रसंगवश, आज के बहुचर्चित मार्क्सवादी चिन्तक **एजाज़ अहमद** को क्या कहा जाये, जो यह कह देते हैं कि "कुछ भी हो, **देरिदा** दक्षिणपंथ के आदमी नहीं ही कहे जा सकते"। दरअसल इसी नये राजनीतिक लोकरंजकतावाद का भारत में खेल खेल रहे केन्द्रीय **साझा मोर्चा** के एक छद्मवामपंथी घटक, **सी पी आई (एम)** की अवस्थिति का औचित्य प्रतिपादन करने वाले **एजाज़ अहमद** से इससे इतर की उम्मीद भी क्या की जा सकती है!

जब कोई व्यवस्था या प्रणाली अपनी समस्त सृजनशीलता और सकारात्मकता खो चुकी होती है, तो वह आगे तो नहीं ही बढ़ सकती, पर सत्ताधारी बने रहने की उद्दाम लालसा तो बनी ही रहती है। चूंकि वह नये मूल्यों का सृजन नहीं कर सकती, इसलिए आम जनता को गुमराह कर, अपने को सत्ता में टिकाये रखने की गरज से, पुराने और मध्ययुगीन मूल्यों पर नया रंग-रोगन चढ़ा कर उन्हें परोसने लगती है, और उसके वफादार चिंतक समाज में व्याप्त असमानता, गरीबी, शोषण और उत्पीड़न की जड़ें समाज के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया में न देखकर मानव-बुद्धि में तलाशने लगते हैं, और, इस प्रकार, आधुनिक बौद्धिकता के **पुनर्जागरण** (*रिनेसां*) और **प्रबोधन** (*एनलाइटेनमेण्ट*) की समस्त विरासत को ही खारिज करने लगते हैं। आज के "नव"-लोकरंजकतावादी ठीक यही कर रहे हैं। वे **रूसो** और **वर्ड्सवर्थ** की तर्ज पर यही कहते फिर रहे हैं कि मनुष्य आज इसीलिए असमानता, शोषण-उत्पीड़न और गरीबी का शिकार है कि वह बुद्धि से संदूषित होकर अपनी "प्राकृतिक" या "शुद्ध" अवस्था से भटक गया है। "नेचर-फ्रेंडली", "इको-फ्रेंडली", "प्राकृतिक खेती " आदि के मिथक उसी "प्राकृतिक" या "शुद्ध" अवस्था को फिर से बहाल करने के लिए छोड़े गये जुमले हैं। निश्चय ही पीछे तो नहीं लौटा जा सकता, परन्तु वर्तमान हालात से लोगों का ध्यान हटाकर और उन्हें इन लोकरंजकतावादी मिथकों में उलझाकर साम्राज्यवाद की यथास्थिति को मजबूती तो दी ही जा सकती है। और ये नये लोकरंजकतावादी ठीक यही काम कर रहे हैं। चूंकि आज साम्राज्यवादी संस्कृति का सबसे तेज हमला तीसरी दुनिया के विकासशील और पिछड़े देशों पर हो रहा है, इसलिए उसके "नव"-लोकरंजकतावादी किसानी मिथक भी सबसे ज्यादा इन्हीं देशों की भारी मेहनतकश किसान आबादी के बीच प्रचारित-प्रसारित किये जा रहे हैं।

खैर, साम्राज्यवाद और उसके "नव"-लोकरंजकतावादी चिंतकों, दार्शनिकों का तो एक अपना स्वार्थ है। परन्तु सबसे त्रासद बिडम्बना तो यह है कि अपनेआप को क्रान्तिकारी, वामपंथी और मार्क्सवादी कहने वाले तमाम बुद्धिजीवी और यहां तक कि कई ऐसे नामधारी संगठन भी इस "नव"-लोकरंजकतावाद की सर्द बयार में बहे जा रहे हैं। सच्चे मार्क्सवादियों को इस पर गम्भीरता से सोचना होगा, और इस "नये" लोकरंजकतावाद का पर्दाफाश करना ही होगा, ताकि भारी मेहनतकश आबादी को गैर-क्रान्तिकारीकरण के दलदल में धंसने से बचाया जा सके।

अन्यायी व्यवस्था के विरुद्ध सुलगता आक्रोश और इसे बदल डालने की चाहत क्रान्ति करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। लड़ने के प्रति प्रतिबद्धता ही काफी नहीं है, बल्कि सचेतन ढंग से लड़ना सीखने की; क्रान्ति के विज्ञान को समझने, उसमें महारत हासिल करने और उसे सही ढंग से लागू करना सीखने की जद्दोजहद जरूरी है।

समाज का विकास कोई बेतरतीब, अनजानी या बेकाबू चीज नहीं है। प्रकृति की तरह, इसकी गति के भी सुनिश्चित नियम हैं जिन्हें समझा जा सकता है। समाज अपनेआप में प्रकृति का ही एक अत्यन्त संगठित रूप है। इसे संचालित करने वाले आन्तरिक नियमों को समझने के बाद जनसाधारण उन्हें लागू करके दुनिया को बदल सकते हैं।

जैसा कि लेनिन ने कहा था, ''क्रान्तिकारी सिद्धान्त के बिना कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन नहीं हो सकता।''

लेनी वुल्फ की यह पुस्तिका 'क्रान्ति का विज्ञान', इसी नाम की एक महत्वपूर्ण पुस्तक के परिचय के रूप में लिखे गये लेखों का संकलन है।

एक जरूरी पुस्तिका

क्रान्ति का विज्ञान

• लेनी वुल्फ

अनुवाद : विश्वनाथ मिश्र

मूल्य : 10.00 रुपये

प्रकाशक : परिकल्पना प्रकाशन

3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर,
लखनऊ – 226010, फोन : 393896

प्राप्त करें :

➲ जनचेतना, जाफरा बाजार, गोरखपुर – 273001

➲ जनचेतना स्टाल, निकट काफी हाउस, हजरतगंज, लखनऊ। (सायं 5 से 7.30 बजे तक)

बुर्जुआ वर्ग के ऊपर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में

❑

चाङ चुन-चियाओ

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति (1966-76) के तीसरे दशाब्दी वर्ष के अवसर पर 'दायित्वबोध' में नवम्बर' 96 फरवरी' 97 अंक से हमने इस युगान्तरकारी सामाजिक प्रयोग के कुछ महत्वपूर्ण दस्तावेजों और लेखों की श्रृंखला का प्रकाशन शुरू किया। इस श्रृंखला की तीसरी कड़ी में हम इस बार चाङ **चुन-चियाओ** का महत्वपूर्ण दस्तावेज "बुर्जुआ वर्ग के ऊपर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में" प्रकाशित कर रहे हैं।

इस बार प्रकाशित किया जा रहा लेख 1975 में, विदेशी भाषा प्रकाशन, पेकिङ द्वारा प्रकाशित हुआ था, जो पेकिङ रिव्यू 14, 4 अप्रैल 1975 में भी प्रकाशित हुआ था [हांक्वी (लाल ध्वजा) 4, 1975 के लेख का अनुवाद]।

– सम्पादक

अध्यक्ष माओ के उद्धरण

''बुर्जुआ वर्ग पर अधिनायकत्व लागू करने की बात लेनिन ने क्यों की है? इस सवाल पर स्पष्ट हो लेना आवश्यक है। इस सवाल पर स्पष्टता का अभाव संशोधनवाद की और ले जायेगा। इसे पूरे राष्ट्र को बता दिया जाना चाहिए।

इस समय हमारे देश में एक माल -अर्थव्यवस्था लागू है, वेतन-प्रणाली भी असमान है, जैसा कि आठ ग्रेड वाले वेतनमान के मामले में, और ऐसी ही कई चीजें हैं। सर्वहारा के अधिनायकत्व के अन्तर्गत ऐसी चीजों को केवल सीमित किया जा सकता है। इसलिए यदि लिन प्याओ जैसे लोग सत्ता में आ जाते हैं तो पूंजीवादी व्यवस्था को खड़ा कर देना उनके लिए काफी आसान होगा। यही कारण है कि हमें मार्क्सवादी-लेनिनवादी रचनाओं का और अधिक अध्ययन करना चाहिए।

लेनिन ने कहा है कि "छोटे पैमाने का उत्पादन लगातार, हर दिन, हर घंटे, स्वत:स्फूर्त रूप से और बड़े पैमाने पर पूंजीवाद और बुर्जुआ वर्ग को पैदा करता रहता है।" वे मजदूरों और पार्टी सदस्यों के एक हिस्से के बीच से भी पैदा होते हैं। सर्वहारा की कतारों और राज्य एवं अन्य संस्थाओं के पदाधिकारियों, दोनों में ऐसे लोग मौजूद हैं जिन्होंने बुर्जुआ जीवन शैली अपना ली है।''

❑

सर्वहारा वर्ग अधिनायकत्व का सवाल एक लम्बे समय से मार्क्सवाद और संशोधनवाद के बीच संघर्ष का केन्द्र रहा है। लेनिन ने कहा है, "सिर्फ वही एक मार्क्सवादी है जो वर्ग संघर्ष की स्वीकृति को सर्वहारा के अधिनायकत्व की स्वीकृति तक विस्तारित करता है।" और सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों में हमें मार्क्सवाद के अनुसार चलने और संशोधनवाद के अनुसार नहीं चलने में सक्षम बनाने के ही उद्देश्य से अध्यक्ष माओ ने सर्वहारा के अधिनायकत्व के प्रश्न पर स्पष्ट होने के लिए समूचे राष्ट्र का आह्वान किया है।

हमारा देश अपने ऐतिहासिक विकास के एक महत्वपूर्ण काल से गुजर रहा है। समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी निर्माण और खास तौर पर महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ के बुर्जुआ हेडक्वार्टरों के ध्वस्त किये जाने के दो दशकों से भी अधिक समय के परिणामस्वरूप हमारे सर्वहारा अधिनायकत्व का पहले हमेशा की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ीकरण हुआ है, और हमारा समाजवादी उद्देश्य फल-फूल रहा है। जुझारूपन से भरी हुई हमारी समूची जनता शताब्दी के अन्त तक चीन को एक शक्तिशाली समाजवादी देश में ढाल देने के लिए दृढ़ संकल्प है। इस प्रयास के दौरान और समाजवाद के पूरे ऐतिहासिक दौर में, चीन के भावी विकास का मूल मुद्दा यह है कि हम पूरे रास्ते सर्वहारा के अधिनायकत्व पर डटे रहते हैं या नहीं। या वर्तमान वर्ग संघर्षों का भी यह तकाजा है कि हम सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के प्रश्न पर स्पष्ट हों। अध्यक्ष माओ ने कहा है; "इस प्रश्न पर स्पष्टता का अभाव हमें संशोधनवाद की ओर ले जायेगा।" सिर्फ कुछ लोगों की इस मुद्दे पर पकड़ होने से कुछ नहीं होगा, इसे "पूरे राष्ट्र को बता दिया जाना" आवश्यक होगा। इस अध्ययन में सफलता के वर्तमान और दीर्घकालिक महत्व को बढ़ा-चढ़ा कर नहीं देखा जा सकता।

बहुत पहले, 1920 में, महान अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति को नेतृत्व देने और सर्वहारा अधिनायकत्व वाले पहले राज्य को निर्देशन देने के अपने व्यावहारिक अनुभव के आधार पर; लेनिन ने तीक्ष्णता के साथ इंगित किया था, "सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व इस नये वर्ग द्वारा अपेक्षतया अधिक शक्तिशाली शत्रु, बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध सर्वाधिक दृढ़ संकल्प के साथ छेड़ा गया और सर्वाधिक निष्ठुर युद्ध है जिसका प्रतिरोध इसकी सत्ता उखाड़ फेंके जाने के बाद (हालांकि सिर्फ एक देश में ही), दस गुना बढ़ गया है और जिसकी ताकत सिर्फ अन्तरराष्ट्रीय पूंजी की शक्ति में, बुर्जुआ वर्ग के अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों की शक्ति और स्थायित्व में ही नहीं, बल्कि आदत के बल में, छोटे पैमाने के उत्पादन की शक्ति में भी निहित है। क्योंकि दुर्भाग्यवश, छोटे पैमाने का उत्पादन अभी भी दुनिया में बहुत, व्यापक रूप में मौजूद है और छोटे पैमाने का उत्पादन लगातार, हर दिन, हर घंटे, स्वत:स्र्फत रूप से, और बड़े पैमाने पर पूंजीवाद और बुर्जुआ वर्ग को पैदा करता रहता है। इन सब कारणों से सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व अनिवार्य है। "लेनिन ने बताया है कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व पुराने समाज की शक्तियों और परम्पराओं के विरुद्ध-रक्तपातपूर्ण और रक्तहीन, हिंसक और शान्तिपूर्ण, सामरिक और आर्थिक, शैक्षिक और प्रशासकीय-चिरस्थायी संघर्ष है, कि इसका मतलब बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व है। लेनिन ने बार-बार जोर दिया है कि बुर्जुआ वर्ग पर एक दीर्घकालिक, सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू किये बगैर इस पर विजय पाना असम्भव है। लेनिन के इन शब्दों की, खास तौर से जिन पर उन्होंने विशेष जोर दिया है उनकी, बाद के वर्षों के दौरान व्यवहार में पुष्टि हो चुकी है। निश्चित तौर पर, नये बुर्जुआ तत्वों के जत्थे पैदा होते गये हैं, और खास तौर पर यह ख्रुश्चोव-ब्रेझनेव गद्दार गुट ही है जो उनका प्रतिनिधि है। ये लोग आम तौर पर अच्छी

वर्ग-पृष्ठभूमि वाले हैं; इनमें से लगभग सभी लाल झण्डे तले पले-बढ़े है; ये सांगठनिक तौर पर कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हो गये हैं, कालेज में प्रशिक्षण लिया है, और तथाकथित लाल विशेषज्ञ बन गये हैं। लेकिन ये पूंजीवाद की पुरानी जमीन द्वारा पैदा किये गये नये जहरीले घास-पात हैं। इन्होंने अपने ही वर्ग से गद्दारी की है, पार्टी और राज्यसत्ता को हथिया लिया है, पूंजीवाद की पुनर्स्थापना कर दी है, सर्वहारा के ऊपर बुर्जुआ वर्ग की तानाशाही के सरदार बन गये हैं और वह काम किया है जिसे करने की कोशिश हिटलर ने की थी लेकिन असफल हो गया था। इतिहास का यह अनुभव हमें कभी नहीं भूलना चाहिए जिसमें "उपग्रह आसमान में उड़े और लाल झण्डा जमीन पर गिर गया", खासकर इस समय इसे नहीं भूलना चाहिए जब हम एक शक्तिशाली देश के निर्माण के लिए दृढ़संकल्प है।

हमें इस बात का संजीदा अहसास होना ही चाहिए कि अभी भी चीन के संशोधनवादी हो जाने का खतरा मौजूद है। ऐसा सिर्फ इसलिए ही नहीं है कि साम्राज्यवाद और सामाजिक साम्राज्यवाद हमारे विरुद्ध हमले और तोड़फोड़ कभी नहीं बन्द करेंगे, सिर्फ इसलिए ही नहीं है कि चीन के पुराने जमीन्दार और पूंजीपति अभी भी कायम हैं और उन्होंने अपनी पराजय स्वीकार नहीं की हैं, बल्कि इसलिए भी है कि नये बुर्जुआ तत्व प्रतिदिन और प्रति घण्टा पैदा हो रहे हैं, जैसा लेनिन ने बताया है। कुछ कामरेड यह तर्क देते हैं कि लेनिन ने ऐसा सामूहिकीकरण के पहले की स्थिति के लिए कहा है। यह साफ तौर पर गलत है। लेनिन की टिप्पणियां कत्तई पुरानी नहीं पड़ी है। इन्हें 1957 में प्रकाशित अध्यक्ष माओ की रचना 'जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में' का देखना चाहिए। इसमें अध्यक्ष माओ ने ठोस विश्लेषण के जरिये यह दिखाया है कि स्वामित्व की व्यवस्था के समाजवादी रूपान्तरण में, जिसमें कि कृषि सहकारिता की उपलब्धि भी शामिल है, बुनियादी जीत हासिल कर लेने के बाद अभी भी चीन में वर्ग, वर्ग-अन्तरविरोध और वर्ग संघर्ष मौजूद हैं, और अभी भी उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादक शक्तियों के बीच तथा अधिरचना और आर्थिक मूलाधार के बीच सांमजस्य और अन्तरविरोध, दोनों ही मौजूद हैं। लेनिन के बाद सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के नये अनुभव का समाहार करने के पश्चात् अध्यक्ष माओ ने स्वामित्व की व्यवस्था में परिवर्तन के बाद उठने वाले विभिन्न प्रश्नों के सुव्यवस्थित रूप से उत्तर दिये, सर्वहारा के अधिनायकत्व के कार्यभार और नीतियां निर्धारित कीं, और पार्टी की बुनियादी लाइन के लिए तथा सर्वहारा के अधिनायकत्व में क्रान्ति जारी रखने के लिए सैद्धान्तिक आधार तैयार किया। पिछले अठारह वर्षों में, विशेषकर महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति में व्यवहार ने सिद्ध कर दिया है कि अध्यक्ष माओ द्वारा विकसित सिद्धान्त, लाइन और नीतियां पूरी तरह सही हैं।

अध्यक्ष माओ ने हाल में बताया है, "एक शब्द में, चीन एक समाजवादी देश है। मुक्ति के पहले वह वैसा ही था जैसा एक पूंजीवादी देश। अभी भी यहां आठ ग्रेड वाली वेतन-प्रणाली, काम के अनुसार वितरण और मुद्रा के जरिये विनिमय की व्यवस्था लागू है, और यह सब कुछ पुराने समाज से बहुत थोड़ा ही भिन्न है। जो भिन्नता है, वह यह कि स्वामित्व की व्यवस्था बदल गयी है।" अध्यक्ष माओ के निर्देश की अधिक गहरी समझदारी के लिए, आइये, चीन में स्वामित्व की व्यवस्था में हुए परिवर्तनों और 1973 में चीन के उद्योग, कृषि और वाणिज्य में विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों के समानुपात पर एक नजर डालें।

सर्वप्रथम उद्योग को लें। कुल उद्योग की अचल परिसम्पति में 97 प्रतिशत हिस्सा पूरी जनता के स्वामित्व वाले उद्योग का है, उद्योग में कार्यरत जनता की 63 प्रतिशत आबादी ऐसे उद्योग में लगी हुई है और कुल औद्योगिक उत्पादन के मूल्य का 86 प्रतिशत यह पैदा करता है। सामूहिक स्वामित्व वाले उद्योग का अचल परिसम्पत्ति में तीन प्रतिशत हिस्सा है, उद्योग में काम करने वाले लोगों का 36.2 प्रतिशत हिस्सा इनमें लगा हुआ है, और कुल उत्पादित मूल्य का 14 प्रतिशत यह पैदा करता है। इसके अलावा उद्योग में लगी जनता का 0.8 प्रतिशत व्यक्तिगत दस्तकारों का है।

अब कृषि को देखें। कृषि-सम्बन्धी उत्पादन के साधनों में से, कृषि-योग्य भूमि सिंचाई-जलनिकास मशीनरी का 90 प्रतिशत तथा ट्रैक्टरों एवं भारवाही पशुओं का 80 प्रतिशत सामूहिक स्वामित्व के अन्तर्गत आता है। यह पूरी जनता के स्वामित्व का हिस्सा बहुत ही छोटा है। इसलिए राष्ट्र के अनाज और विभिन्न औद्योगिक फसलों का लगभग 90 प्रतिशत भाग सामूहिक अर्थव्यवस्था से आता है। राजकीय फार्मों का सिर्फ एक छोटा-सा हिस्सा है। इनके अलावा अपनी व्यक्तिगत जरूरतों की पूर्ति के लिए कम्यून-सदस्यों के अपने छोटे-छोटे खेत और घरेलू गौण उत्पादन का एक सीमित परिणाम अभी भी कायम है।

इसके बाद वाणिज्य को लें। कुल खुदरा बिक्री का 92.5 प्रतिशत राजकीय वाणिज्य के अन्तर्गत 7.3 प्रतिशत सामूहिक स्वामित्व वाले वाणिज्य-प्रतिष्ठानों के अन्तर्गत और 0.2 प्रतिशत व्यक्तिगत छोटे दुकानदारों के अन्तर्गत आता है। इनके अलावा, व्यापार का एक अच्छा-खासा हिस्सा अभी भी गांवों के मेलों के जरिये होता है।

ये आंकड़े बताते हैं कि पूरी जनता के समाजवादी स्वामित्व और मेहनतकश जनता के समाजवादी सामूहिक स्वामित्व ने निश्चित तौर पर चीन में एक महान विजय अर्जित की है। पूरी जनता के स्वामित्व की प्रभावी स्थिति में बहुत अधिक वृद्धि हुई है और जन-कम्यूनों की अर्थव्यवस्था में भी, कम्यून, उत्पादन-ब्रिगेड और उत्पादन-टोली - इन तीनों स्तरों पर स्वामित्व के अनुपातों के मामले में कुछ परिवर्तन हुए हैं। उदाहरण के लिए, शंघाई के बाहरी इलाकों में, 1973 में कम्यून स्तर पर होने वाली आय कुल आय का 28.1 प्रतिशत थी जो 1974 में बढ़कर कुल आय का 30.5 प्रतिशत हो गयी, ब्रिगेडों के स्तर पर होने वाली आय का कुल आय में हिस्सा इसी अवधि में 15.2 प्रतिशत से बढ़कर 17.2 प्रतिशत और टोलियों के स्तर पर होने वाली आय का हिस्सा 56.7 प्रतिशत से नीचे गिरकर 52.3 प्रतिशत हो गया। अपने वृहत्तर आकार और सार्वजनिक स्वामित्व के उच्चतर अंश के रूप में जन-कम्यूनों ने अपनी श्रेष्ठता अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट तौर पर प्रदर्शित की है। जिस तरह हमने पिछले 25 वर्षों में, कदम-ब-कदम, साम्राज्यवाद, नौकरशाह-पूंजीवाद और सामन्तवाद के स्वामित्व का खात्मा किया है, राष्ट्रीय पूंजीवाद के स्वामित्व और मजदूरों के निजी स्वामित्व का रूपान्तर किया है और निजी स्वामित्व की इन पांच किस्मों की जगह समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व की दो किस्में कायम की हैं, उन्हें देखते हुए हम गर्वपूर्वक घोषणा कर सकते हैं कि चीन में स्वामित्व की व्यवस्था बदल गयी है, कि सर्वहारा और अन्य मेहनतकश जनता ने चीन में खुद को निजी स्वामित्व की बेड़ियों से मुक्त कर लिया है और यह कि चीन का समाजवादी आर्थिक आधार क्रमश: मजबूत हुआ है तथा विकसित हुआ है। चौथी राष्ट्रीय जन-कांग्रेस द्वारा स्वीकृत संविधान ने हमारी इन महान जीतों को विशेष तौर पर चिह्नित किया है।

लेकिन हमें यह जरूर ध्यान रखना चाहिए कि स्वामित्व की व्यवस्था का सवाल अभी भी पूरी तरह तय नहीं हुआ है। जब अक्सर हम यह कहते हैं कि स्वामित्व का सवाल "मुख्य रूप से तय हो गया है", तो इसका मतलब यह है कि यह पूरी तरह से तय नहीं हुआ है, और यह भी कि इस दायरे में बुर्जुआ अधिकार अभी पूरी

तरह समाप्त नहीं किये गये हैं। ऊपर दिये गये आंकड़े स्पष्टत: दर्शाते हैं कि उद्योग, कृषि और वाणिज्य में निजी स्वामित्व अभी भी अंशत: मौजूद है, कि समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व में केवल पूरी जनता द्वारा स्वामित्व ही नहीं बल्कि दो प्रकार के स्वामित्व शामिल हैं और यह कि, कृषि के क्षेत्र में, जो कि राष्ट्रीय अर्थतंत्र का आधार हैं, पूरी जनता का स्वामित्व अभी भी निश्चित रूप से कमजोर है। जैसा कि मार्क्स और लेनिन ने सोचा था, समाजवादी समाज में स्वामित्व की व्यवस्था के घेरे में बुर्जुआ अधिकारों के विलोपन का अर्थ यह है कि उत्पादन साधन पूरे समाज की सामान्य सम्पत्ति में बदल चुके हैं। जाहिरा तौर पर हम अभी उस मंजिल पर नहीं पहुंचे हैं। सिद्धान्त और व्यवहार, दोनों में ही हमें उस कठिन कार्यभार को अनदेखी नहीं करनी चाहिए, जो इस सम्बन्ध में सर्वहारा के अधिनायकत्व के आगे पड़े हुए हैं।

इसके साथ ही, हमें यह भी जरूर देखना चाहिए कि समूची जनता के स्वामित्व और सामूहिक स्वामित्व-दोनों के साथ नेतृत्व का सवाल जुड़ा हुआ है, यानी यह सवाल जुड़ा हुआ है कि वास्तव में, न कि सिर्फ नाम के लिए, स्वामित्व किस वर्ग के हाथ में है।

पार्टी की नवीं केन्द्रीय कमेटी के पहले प्लेनरी सत्र को सम्बोधित करत हुए, 28 अप्रैल 1969 को अध्यक्ष माओ ने कहा था, "स्पष्ट तौर पर महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के बगैर हम कुछ नहीं कर सकते थे, क्योंकि हमारा आधार ठोस नहीं था। अपने प्रेक्षण के आधार पर, मेरी तो यहां तक आशंका है कि अच्छे-खासे बहुसंख्यक कारखानों में —मेरा मतलब यह नहीं है कि सभी या बहुत भारी बहुसंख्यक कारखानों में -नेतृत्व असली मार्क्सवादियों और मजदूर जन-समुदाय के हाथों में नहीं था। ऐसा नहीं कि कारखानों के नेतृत्व में अच्छे लोग नहीं थे। जरूर थे। पार्टी कमेटियों सेक्रेटियों, उपसेक्रेटियों एवं सदस्यों के बीच और पार्टी शाखा सेक्रेटियों के बीच अच्छे लोग थे। लेकिन उन्होंने ल्यू शाओ-ची की लाइन का पालन किया, केवल भौतिक प्रोत्साहन का सहारा लिया, मुनाफे को कमान में रखा, और सर्वहारा राजनीति को बढ़ावा देने की जगह बोनस बांटते रहे, आदि-आदि।" 'लेकिन निश्चत रूप से, कारखानों में बुरे लोग भी हैं।" "यह दिखाता है कि क्रान्ति अभी समाप्त नहीं हुई है।" अध्यक्ष माओ की टिप्पणी न केवल महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की आवश्यकता की व्याख्या करती है, बल्कि हमें इस बात का और अधिक बोध कराने में भी मदद करती है कि स्वामित्व की व्यवस्था की समस्या में, और अन्य सभी समस्याओं में भी, हमें केवल इनके रूप पर ही नहीं बल्कि इनकी वास्तविक अन्तर्वस्तु पर भी ध्यान देना चाहिए। उत्पादन-सम्बन्धों में स्वामित्व की व्यवस्था की निर्णायक भूमिका को पूरी अहमियत देना सर्वथा सही है। लेकिन स्वामित्व का मुद्दा केवल बाह्य रूप में ही तय हुआ है या वास्तविक सच्चाई में तय हो गया है-इस बात को कोई अहमियत न देना, और उत्पादन-सम्बन्धों के दो विभिन्न पहलुओं - जनता के बीच के सम्बन्धों और वितरण के रूप-द्वारा स्वामित्व की व्यवस्था पर डाले जाने वाले प्रभाव तथा अधिरचना द्वारा आर्थिक मूलाधार पर डाले जाने वाले प्रभाव को कोई अहमियत न देना गलत है। किन्हीं परिस्थितियों में उत्पादन-सम्बन्ध के ये दो पहलू और अधिरचना एक निर्णायक भूमिका निभा सकते हैं। राजनीतिक अर्थशास्त्र की घनूभूत अभिव्यक्ति है। विचारधारात्मक और राजनीतिक लाइन सही है या गलत, और नेतृत्व किस वर्ग के हाथों में है- यही बातें तय करती हैं। कि वास्तविक सच्चाई में उन कारखानों का मालिक कौन है। कामरेड इसे याद कर सकते हैं कि हमने किस तरह नौकरशाह पूंजी या राष्ट्रीय पूंजी के स्वामित्व वाले किसी भी प्रतिष्ठान को एक समाजवादी प्रतिष्ठान में रूपान्तरित कर दिया। क्या हमने पार्टी की लाइन और नीतियों के अनुसार उन्हें रूपान्तरित करने के लिए वहां एक सैन्य-नियन्त्रण प्रतिनिधि या राज्य प्रतिनिधि भेजकर इस काम को नहीं किया था? चाहे दास-प्रथा की जगह सामन्ती व्यवस्था का आना हो या सामन्तवाद की जगह पूंजीवाद का, इतिहास में स्वामित्व की व्यवस्था में हर बड़ा परिवर्तन निरपवाद रूप से राजनीतिक सत्ता पर कब्जा के बाद ही हुआ है और इसके बाद इस राजनीतिक सत्ता का इस्तेमाल स्वामित्व की व्यवस्था में बड़े पैमाने पर परिवर्तन लाने के लिए और नयी व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने एवं विकसित करने के लिए किया गया है। समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व के मामले में यह बात और अधिक लागू होती है क्योंकि बुर्जुआ वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत यह पैदा ही नहीं हो सकती। नौकरशाह पूंजी को, जिसका पुराने चीन के अस्सी प्रतिशत उद्योगों पर नियन्त्रण था, केवल तभी रूपान्तरित किया जा सका और पूरी जनता के स्वामित्व के अन्तर्गत लाया जा सका जबकि जन मुक्ति सेना ने च्याङ काई-शेक को परास्त कर दिया। इसी तरह, पूंजीवादी पुनर्स्थापना भी अनिवार्यत: नेतृत्व पर कब्जा और पार्टी की लाइन और नीतियों में परिवर्तन के बाद ही शुरू होती है। क्या इसी तरह से ख्रुश्चोव और ब्रेझनव ने सोवियत संघ में स्वामित्व की व्यवस्था नहीं बदली थी? क्या इसी तरह से ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ ने अलग-अलग अंशों में हमारे कई कारखानों और अन्य प्रतिष्ठानों की प्रकृति नहीं बदल डाली थी?

साथ ही, हमें इस बात पर भी जरूर ध्यान देना चाहिए कि हम आज जिस पर अमल कर रह हैं वह एक माल-अर्थव्यवस्था है। अध्यक्ष माओ न कहा है, "वर्तमान समय में हमारे देश में माल-अर्थव्यवस्था लागू है, वेतन-प्रणाली भी असमान है, जैसा कि आठ ग्रेड वाले वेतनमान में, या अन्य मामलों में हैं। सर्वहारा के अधिनायकत्व के अन्तर्गत ऐसी चीजों को केवल सीमित किया जा सकता है। इसलिए यदि लिन प्याओ जैसे लोग सत्ता में आते हैं तो पूंजीवादी व्यवस्था को खड़ा कर देना उनके लिए काफी आसान होगा।" जिन स्थितियों की और अध्यक्ष माओ ने इंगित किया है, उन्हें एक छोटे समय के भीतर बदला नहीं जा सकता है। उदाहरण के तौर पर, शंघाई के बाहरी इलाकों के ग्रामीण जन-कम्यूनों में, जहां कम्यून और उत्पादन-ब्रिगेड के स्तर पर अर्थव्यवस्था एक हद तक तेजी से विकसित हुई है, अचल परिसम्पत्ति के कुल तीनों स्तरों के स्वामित्व में 34.2 प्रतिशत हिस्सा कम्यून स्वामित्व का, 15.1 प्रतिशत हिस्सा उत्पादन-ब्रिगेडों के स्वामित्व का और 50.7 प्रतिशत हिस्सा उत्पादन-टीमों के स्वामित्व का है। इसलिए, यदि हम केवल कम्यूनों की आर्थिक स्थिति को ही लें, तब भी, उत्पादन टीम की जगह पर ब्रिगेड और फिर ब्रिगेड की जगह पर कम्यून बुनियादी जवाबदेह इकाई बन जाय-ऐसे संक्रमण के लिए भी पर्याप्त लम्बे समय की जरूरत होगी। कम्यून के बुनियादी जवाबदेह इकाई बन जाने के बाद भी, स्वामित्व सामूहिक ही बना रहेगा। इस तरह, इस थोड़े समय में, इस वर्तमान स्थिति में जिसमें कि पूरी जनता का स्वामित्व और सामूहिक स्वामित्व साथ-साथ कायम है, कोई भी मूलभूत परिवर्तन नहीं आयेगा। जबतक ये दो प्रकार के स्वामित्व बने रहेंगे, माल-उत्पादन, मुद्रा के जरिये विनिमय और काम के अनुसार वितरण अनिवार्यत: कायम रहेंगे। और चूंकि "सर्वहारा के अधिनायकत्व के अन्तर्गत ऐसी चीजों को केवल सीमित किया जा सकता है," अत: शहर और देहात में पूंजीवादी उपादानों का विकास और नये बुर्जुआ तत्वों का पैदा होना अपरिहार्य है। यदि इन चीजों को सीमित नहीं किया जाता तो पूंजीवाद और बुर्जुआ वर्ग का विकास और तेजी से होगा। अत:, सिर्फ इसलिए कि हमने स्वामित्व की व्यवस्था के रूपान्तरण में एक महना जीत हासिल की है। और एक महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति सम्पन्न की

है, हमें अपनी क्रान्तिकारी चौकसी में किसी भी कीमत पर ढिलाई नहीं लानी चाहिए। हमें इस बात को अवश्य समझ लेना चाहिए कि हमारा आर्थिक आधार अभी मजबूत नहीं है, कि स्वामित्व की व्यवस्था में बुर्जुआ अधिकार अभी पूर्णत: समाप्त नहीं किये गये हैं, और यह कि जनता के बीच के सम्बन्धों में ये अभी भी गम्भीर रूप से मौजूद हैं और वितरण में इनकी एक प्रभावी स्थिति बनी हुई है। अधिरचना के विभिन्न क्षेत्रों में से कुछ पर वस्तुत: अभी भी बुर्जुआ वर्ग का नियन्त्रण है, जो वहां प्रभुतापूर्ण स्थिति में है, कुछ का रूपान्तरण किया जा रहा है लेकिन परिणामों का सुदृढीकरण अभी नहीं हो सका है, और पुराने विचार एवं पुरानी आदतों की शक्ति अभी भी नयी समाजवादी चीजों के विकास में अड़ियल ढंग से बाधाएं खड़ी कर रही हैं। शहर और देहात में पूंजीवादी उपादानों के विकास के परिणामस्वरूप, नये बुर्जुआ तत्वों के जत्थे पर जत्थे पैदा हो गये हैं। सर्वहारा और बुर्जुआ वर्ग के बीच वर्ग संघर्ष, विभिन्न राजनीतिक शक्तियों के बीच वर्ग संघर्ष, विचारधारात्मक क्षेत्र में सर्वहारा और बुर्जुआ वर्ग के बीच वर्ग संघर्ष अभी लम्बे समय तक जारी रहेगा और यंत्रणादायी बना रहेगा और यहां तक कि कभी-कभी बहुत तीव्र भी हो उठेगा। यहां तक कि जब पुरानी पीढ़ी के सभी जमीन्दार और पूंजीपति मर जायेंगे, तब भी ऐसे वर्ग संघर्ष किसी भी तरह से रूकेगे नहीं, और यदि लिन प्याओ जैसे लोग सत्ता में आ गये तो उस स्थिति में भी पूंजीवादी पुनर्स्थापना हो सकती है। 'जापान के विरुद्ध प्रतिरोध संघर्ष में विजय के बाद की परिस्थिति और हमारी नीति' नामक अपने भाषण में अध्यक्ष माओ ने बताया है कि किस तरह 1936 में पाओ-आन में पार्टी केन्द्रीय कमेटी में मुख्यालय के निकट एक किलेबन्दी किये हुए गांव पर मुट्ठी भर सशस्त्र प्रतिक्रान्तिकारियों का कब्जा बना हुआ था जो पूरे अड़ियलपन के साथ तबतक आत्समर्पण से इनकार करते रहे, जबतक कि समस्या को हल करने के लिए लाल सेनाा तूफानी ढंग से गांव में घुस नहीं पड़ी। इस कहानी का सार्वभौमिक महत्व है क्योंकि यह हमें बताती है। कि, "हरेक प्रतिक्रियावादी चीज एक जैसी ही होती है; यदि तुम इस पर चोट नहीं करते, तो यह गिरेगी नहीं। यह फर्श को बुहारने के समान है; जहां झाड़ू नहीं पहुंचता, वहां की धूल अपने आप नहीं खतम होती।" आज कई "किलेबन्दी किये हुए गांव" अभी भी मौजूद हैं जिनपर बुर्जुआ वर्ग का कब्जा बना हुआ है; जब एक नष्ट होता है, दूसरा खड़ा हो जाता है, और यदि एक को छोड़कर सभी नष्ट कर दिये जाएं, तो वह एक भी अपने आप खतम नहीं होगा जब तक कि सर्वहारा अधिनायकत्व का लोहे का झाड़ू उस तक पहुंच नहीं जाए। लेनिन का यह कहना पूरी तरह सही है, "इन सब कारणों से सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व अनिवार्य है।"

ऐतिहासिक अनुभव हमें बताते हैं कि सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग पर विजयी हो सकता है या नहीं और चीन संशोधनवादी हो जायेगा या नहीं, यह इस बात पर निर्भर है कि हम हर क्षेत्र में और क्रान्ति की हर मंजिल में बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने पर डटे रह सकते हैं या नहीं। बुर्जुआ वर्ग के ऊपर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व क्या है? इसके बारे में सार्वाधिक सरगर्भित सामान्यीकरण 1852 में जे. वेडेमेयर को लिखे गये मार्क्स के एक पत्र के एक हिस्से में मिलता है, जिसका हम सभी अध्ययन कर रहे हैं। मार्क्स ने कहा है, "आधुनिक समाज में वर्गों की मौजूदगी, और साथ ही उनके बीच संघर्ष की मौजूदगी की खोज का श्रेय मुझे नहीं है। मुझसे बहुत पहले बुर्जुआ इतिहासकारों ने वर्गों के इस संघर्ष के ऐतिहासिक विकास का और बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों ने वर्गों की आर्थिक बनावट का वर्णन किया था: मैंने जो नया किया, वह यह सिद्ध करना था : (1) कि वर्गों का अस्तित्व केवल उत्पादन के विकास में विशिष्ट ऐतिहासिक चरण से बंधा हुआ है, (2) कि वर्ग संघर्ष जरूर ही सर्वहारा के अधिनायकत्व तक जाता है; (3) कि यह अधिनायकत्व खुद केवल सभी वर्गों के उन्मूलन और वर्गविहीन समाज की दिशा में संक्रमण को संघटित करता है।" लेनिन के अनुसार अपनी इस शानदार टिप्पणी में मार्क्स ने राज्य के बारे में अपने सिद्धान्त और बुर्जुआ वर्ग के सिद्धान्त के बीच मुख्य और गुणात्मक फर्क और राज्य के बारे में अपनी शिक्षा के सारतत्व को असाधारण सुस्पष्टता के साथ अभिव्यक्त करने में सफलता प्राप्त की है। यहां इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि सर्वहारा के अधिनायकत्व विषयक वाक्य को मार्क्स ने तीन बिन्दुओं में बांट दिया है जो अन्तर्सम्बन्धित हैं और जिन्हें काटकर अलग नहीं किया जा सकता। तीन बिन्दुओं में से किन्हीं दो को छोड़कर सिर्फ एक को स्वीकार करना गलत होगा। क्योंकि यह वाक्य सर्वहारा के अधिनायकत्व के प्रारम्भ, विकास और विलोपीकरण की पूरी प्रक्रिया को पूर्ण अभिव्यक्ति देता है और सर्वहारा के अधिनायकत्व के पूरे कार्यभार एवं इसकी वास्तविक अन्तर्वस्तु को समाहित करता है। 'फ्रांस में वर्ग-संघर्ष, 1848-1850' में मार्क्स ने आम तौर पर वर्ग विभेदों के उन्मूलन, उन सभी उत्पादन सम्बन्धों के उन्मूलन जिनपर वे आधारित हैं, उन सभी सामाजिक सम्बन्धों के उन्मूलन सभी विचारों के सम्बन्धों के अनुरूप हैं और इन सामाजिक सम्बन्धों से उत्पन्न सभी विचारों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के आवश्यक संक्रमण-बिन्दु के रूप में सर्वहारा के इस अधिनायकत्व की चर्चा अधिक स्पष्ट शब्दों में की है इन चारों मामलों में, मार्क्स का तात्पर्य सभी से है। केवल एक भाग से, एक अपेक्षतया बड़े भाग से या यहां तक कि सबसे बड़े भाग से भी नहीं, बल्कि सभी से! इसमें आश्चर्यजनक कुछ भी नहीं है, क्योंकि केवल पूरी मानवता को मुक्त करने के द्वारा ही सर्वहारा अपनी स्वयं की अन्तिम मुक्ति हासिल कर सकता है। इस लक्ष्य का प्राप्त करने का एकमात्र रास्ता बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करना और सर्वहारा के अधिनायकत्व के अन्तर्गत जारी क्रान्ति को तक अन्त चलाना है, तब तक जब तक कि ऊपर उल्लिखित चारों सभी इस धरती से मिट न जायें जिससे कि बुर्जुआ वर्ग एवं अन्य सभी शोषक वर्गों का अस्तित्व बने रह पाना या नये ऐसे वर्गों का उभर पाना असम्भव हो जायेगा; निश्चित तौर पर तबतक संक्रमण के रास्ते पर हमें कहीं रुकना न होगा। हमारे विचार से, जो लोग इस चीज को इस ढंग से समझते हैं केवल उन्हीं के बारे में यह विश्वास किया जा सकता है कि राज्य के बारे में मार्क्स की शिक्षा के सातत्व को उन्होंने ग्रहण किया है। कामरेडो, कृपया इस पर सोचिए : यदि इस चीज को इस ढंग से नहीं समझा जाता है, यदि मार्क्सवाद को सीमित किया जाता है, इसमें कटौती की जाती है और सिद्धान्त एवं व्यवहार में तोड़ा-मरोड़ा जाता है, यदि सर्वहारा के अधिनायकत्व को एक खोखले शब्दाडम्बर में बदल दिया जाता है, या बुर्जुआ वर्ग के ऊपर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व को अंगभंग करके विकलांग बना दिया जाता है और उसे सभी क्षेत्रों में नहीं बल्कि कुछ क्षेत्रों में या सभी मंजिलों में नहीं केवल किसी एक मंजिल में (उदाहरण के लिए, सिर्फ स्वामित्व की व्यवस्था के रूपान्तरण के पहले) ही लागू किया जाता है, या दूसरे शब्दों में यदि बुर्जुआ वर्ग के सभी "किलेबन्दी किये हुए गांवों" को नष्ट नहीं किया जाता है बल्कि कुछ को छोड़ दिया जाता है और बुर्जुआ वर्ग को फिर से फैलने की छूट दे दी जाती है, तो क्या इसका मतलब पूंजीवादी पुनर्स्थापना के लिए परिस्थितियां तैयार करना नहीं है? क्या इसका मतलब सर्वहारा के अधिनायकत्व को ऐसी चीज में बदल देना नहीं है जो बुर्जुआ वर्ग की, खास तौर पर नये पैदा हुए बुर्जुआ वर्ग की हिफाजत करता हो? क्या मजदूरों, सभी गरीब और निम्न-मध्यम किसानों

और अन्य मेहनतकशों को जो फिर से यातनाा और विपत्ति में डूबने को तैयार नहीं है, सभी कम्युनिस्टों को जिन्होंने अपना जीवन कम्युनिज़्म के लिए संघर्ष को समर्पित किया है, और सभी कामरेडों को जो यह नहीं चाहते कि चीन संशोधनवादी हो जाये, अपने दिमाग में मार्क्सवाद के इस बुनियादी उसूल को दृढ़तापूर्वक बैठा ही लेना होगा: बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करना अनिवार्य है। और आधे रास्ते में इसे छोड़ देना पूरी तरह से अस्वीकार्य है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि हमारे बीच कुछ कामरेड ऐसे हैं जो सांगठनिक तौर पर तो कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हो गये हैं पर विचारधारात्मक तौर पर नहीं। अपने विश्व-दृष्टिकोण में उन्होंने अभी छोटे उत्पादन की और बुर्जुआ वर्ग की सीमा के बाहर कदम नहीं रखा है। वे सर्वहारा के अधिनायकत्व को एक खास मंजिल तक और एक खास घेरे के भीतर जरूर स्वीकार करते हैं और सर्वहारा की कुछ जीतों पर खुश होते हैं, क्योंकि इनसे उन्हें कुछ उपलब्धियां मिलती है; एक बार जब उनकी उपलब्धियां सुरक्षित हो जाती हैं तो वे महसूस करते हैं कि अब बसने-व्यवस्थित होने और अपने सुखकर घोंसलों को पंखों से सजाने का समय आ गया है। जहां तक बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने की बात है, जहां तक 10,000 ली लम्बे अभियान में पहले कदम से आगे चलने की बात है, माफ कीजिये, यह काम इसरो को करने दीजिए; मेरा पड़ाव तो आ गया और मुझे बस से उतरना ही होगा। हम इन कामरेडों को एक छोटा सा सुझाव देना चाहेंगे : आधे रास्ते में रुकना खतरनाक होता है। बुर्जुआ वर्ग आपको इशारे से बुला रहा है। समय रहते कतारों को जा पकड़िए और आगे बढ़ना जारी रखिए।

ऐतिहासिक अनुभव हमें यह भी शिक्षा देते हैं कि, जब सर्वहारा का अधिनायकत्व एक के बाद दूसरी जीतें हासिल करता चला जाता है तो बुर्जुआ वर्ग ऊपर से इस अधिनायकत्व को स्वीकार कर लेने का दिखावा कर सकता है जबकि वास्तव में यह बुर्जआ अधिनायकत्व को फिर से बहाल करने के लिए काम करना जारी रखता है। ख्रुश्चोव और ब्रेझनेव ने ठीक यही किया था। उन्होंने न तो "सोवियत" नाम बदला, न ही लेनिन की पार्टी का नाम बदला, न ही "सोवियत गणराज्य" का नाम बदला। बल्कि इन नामों को स्वीकार करके और इनका खोल की तरह इस्तेमाल करते हुए उन्होंने सर्वहारा के अधिनायकत्व से इसका वास्तविक सारतत्व बाहरा निकाल फेंका है और इसे इजारेदार पूंजीपति वर्ग के अधिनायकत्व में बदल दिया है जो सोवियत विरोधी है, लेनिन की पार्टी के विरोध में है और सोवियत गणराज्यों के विरोध में है। उन्होंने "पूरी जनता के राज्य" और "समग्र जनता की पार्टी" का संशोधनवादी कार्यक्रम प्रस्तुत किया है जो मार्क्सवाद के प्रति एक खुला विश्वासघात है। लेकिन जब सोवियत जनता उनके फासिस्ट अधिनायकत्व के विरुद्ध उठ खड़ी होती है तो जनसमुदाय को दबाने के लिए सर्वहारा के अधिनायकत्व का झण्डा लहराते हैं। चीन में भी ऐसी ही चीजें हुई हैं। ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ ने खुद को वर्ग संघर्ष के खात्मे के सिद्धान्त तक ही सीमित नहीं रखा, उन्होंने भी क्रान्ति को दबाते समय सर्वहारा के अधिनायकत्व का झण्डा फरफराया। क्या लिन प्याओ ने अपने चार "कभी न भूलो" का उपदेश नहीं दिया? उनमें से एक यह था कि "सर्वहारा के अधिनायकत्व को कभी न भूलो।" बेशक कोई चीज थी, जिसे वह कभी नहीं भूला, केवल "उखाड़ फेंकना"-ये शब्द जोड़ देने से वह बन जाती है- "सर्वहारा के अधिनायकत्व को उखाड़ फेंकना कभी न भूलोक," या जैसा कि उसके गिरोह ने स्वीकार किया था, "अध्यक्ष माओ की फौजों पर हमला करने के लिए अध्यक्ष माओ की पताका लहराओ।" समय-समय पर सज-संवरकर वे सर्वहारा का चोला पहन लेते थे और विभ्रम पैदा करने तथा तोड़-फोड़ की कार्रवाईयां चलाने के लिए "वामपन्थी" नारे लगाते हुए किसी से भी ज्यादा क्रान्तिकारी होने का नाटक करते थे, पर आम तौर पर, वे सर्वहारा के विरुद्ध प्रत्यक्षत: प्रतिक्रान्तिकारी संघर्ष चला रहे थे। आप समाजवादी रूपान्तरण को कार्यान्वित करना चाहते थे? उन्होंने कहा कि नयी जनवादी व्यवस्था का सुदृढ़ीकरण करना होगा। आप कोआपरेटिव और कम्यून संगठित करना चाहते थे? उन्होंने कहा कि इसके लिए अभी समय नहीं आया है। जब आपने कहा कि साहित्य और कला का क्रान्तिकारी रूपान्तरण किया जाना चाहिए, तो उन्होंने कहा कि भूत-प्रेतों के बार में थोड़े-बहुत नाटकों के मंचन में कोई हानि नहीं है। आप बुर्जुआ अधिकारों में कटौती करना चाहते थे? उन्होंने कहा कि ये बेशक बहुत उम्दा चीजें हैं और इनका विस्तार किया जाना चाहिए। वे पुरानी चीजों की हिफाजत करने वाले माहिर लोगों का एक गिरोह हैं, उन मक्खियों के झुण्ड के समान हैं जो पुराने समाज के उन "जन्मचिन्हों" और "विकारों" पर दिन भर भिनभिनाती रहती है, जिनका उल्लेख मार्क्स ने किया है। वे खास तौर पर हमारे नौजवानों की अनुभवहीनता का लाभ उठाने के लिए व्यग्र रहते हैं, उनके बीच भौतिक प्रोत्साहन का यह कहते हुए गुणगान करते हैं कि यह सोयाबीन के दही के तेज पनीर के समान हैं, जो बदबू तो करता है लेकिन स्वादिष्ट होता है। और ये गन्दी चालें चलते हुए वे लगातार समाजवाद का झण्डा लहराते रहते हैं। क्या ऐसे कुछ बदमाश नहीं हैं जो सट्टेबाजी, घूसखोरी और चोरी में लगे हुए हैं और कहते हैं कि वे समाजवादी सहकार को आगे बढ़ा रहे हैं? क्या अपराधों को उकसाने वाले ऐसे कुछ लोग नहीं हैं जो "कम्युनिज्म के लक्ष्य के उत्तराधिकारियों के लिए प्यार और देखरेख" की पताका उड़ाते हुए नौजवानों के दिमागों में जहर बोते रहते हैं? हमें उनकी चालों का अध्ययन करना चाहिए और अपने अनुभव का सार-संकलन करना चाहिए ताकि अधिक प्रभावी ढंग से बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू किया जा सके।

"क्या तुम 'कम्यूनीकरण' की हवा उभाड़ना चाहते हो?" ऐसे सवाल खड़ा करके अफवाहें गढ़ना एक चाल है जिसका हाल ही में कुछ लोगों ने सहारा लिया है। हम एक सुनिश्चित उत्तर दे सकते हैं: "कम्यूनीकरण" की वैसी हवा कभी नहीं बहने दी जायेगी, जैसी ल्यू शाओ-ची और छन पो-ता ने उभाड़ी थी। हमारी हमेशा से यह समझ रही है कि माल-उत्पादन की दिशा में काफी प्रगति के बाद भी अभी हमारे देश में माल की पर्याप्त प्रचुरता नहीं है। जबतक कि कम्यूनों के पास, और साथ ही उत्पादन ब्रिगेड और टीमें जो पैदा करती हैं, उन्हें मिलाकर, कम्यूनीकरण के लिए काफी कुछ नहीं होगा, और जब तक कि पूरी जनता के स्वामित्व वाले प्रतिष्ठानों के पास हमारी 80 करोड़ जनता में प्रत्येक को उसकी जरूरत के अनुसार वितरण के लायक उत्पादों की अत्यधिक प्रचुरता नहीं होगी हमें माल उत्पाद, मद्रा के जरिए विनिमय और काम के अनुसार वितरण के लायक उत्पादों की अत्यधिक प्रचुरता नहीं होगी, हमें उसकी माल-उत्पादन, मुद्रा के जरिये विनिमय और काम के अनुसार वितरण को जारी रखना होगा। इन चीजों से पैदा होने वाले नुकसानों को रोकने के लिए उचित कदम हमने उठाये हैं और आगे भी ऐसा करना जारी रखेंगे। सर्वहारा का अधिनायकत्व जनता द्वारा अधिनायकत्व है। हमें विश्वास है कि पार्टी के नेतृत्व में, व्यापक जनसमुदाय उस शक्ति और क्षमता से सम्पन है कि बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध संघर्ष कर सके और अन्ततः इसे पराजित कर सके। पुराना चीन छोटे उत्पादन का एक विशाल महासागर था। करोड़ों किसानों के बीच समाजवादी शिक्षा का संचालन हर समय के लिए एक गम्भीर सवाल है और कई पीढ़ियों के उद्यम की मांग करता है। लेकिन इन करोड़ों

किसानों में बहुसंख्या गरीब और निम्न मध्यम-किसानों की है और वे अपने व्यवहार से जानते हैं कि उनके लिए उज्ज्वल भविष्य की ओर जाने वाला एकमात्र रास्ता कम्युनिस्ट पार्टी का अनुसरण करने और समाजवादी रास्ते पर कायम रहने का है। हमारी पार्टी ने पारस्परिक सहायता-टीमों से प्राथमिक और उन्नत कृषि उत्पादक-कोआपरेटिवों और फिर जन-कम्यूनों की ओर आगे बढ़ने के लिए मध्यम किसानों के साथ एकता कायम करने में इन पर भरोसा किया है और निश्चित तौर पर, और आगे की यात्रा में हम उनका नेतृत्व कर सकते हैं।

हम इस तथ्य की ओर कामरेडों का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे कि यह दूसरी ही किस्म की हवा है जो इस समय बह रही है–यह "बुर्जुआ हवा" है। जैसा कि अध्यक्ष माओ ने इंगित किया है, यह बुर्जुआ जीवन-शैली है, एक बुरी हवा है जिसे जनता के उन "हिस्सों" ने उभाड़ा है जो पतित होकर बुर्जुआ तत्व बन चुके हैं। यह "बुर्जुआ हवा" जो उन कम्युनिस्टों के बीच से, खासकर उन नेतृत्वकारी कार्यकर्ताओं के बीच से बह रही है जो इन "हिस्सों" से आते हैं और यह हमारे लिए सर्वाधिक नुकसानदेह है। इस बुरी हवा के जहरीले प्रभाव से कुछ लोगों के दिमाग में बुर्जुआ विचार भर गये हैं, वे ओहदे और फायदे के लिए छीना-झपटी करते हैं और इस पर शर्मिन्दगी के बजाय गर्व महसूस करते हैं। कुछ इस हद तक नीचे गिर गये है कि अपने सहित हर चीज को माल समझते हैं। वे सिर्फ इसलिए कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल होते हैं और सर्वहारा वर्ग के लिए काम करते हैं कि माल के रूप में अपना भाव बढ़ा सकें और सर्वहारा वर्ग से ऊंची कीमत की मांग कर सकें। वे लोग जो नाम से कम्युनिस्ट हैं लेकिन वास्तव में नये बुर्जुआ तत्व है, समग्रता में पतनोन्मुख और मरणासन्न बुर्जुआ वर्ग की अभिलाक्षणिकताओं का प्रदर्शन करते हैं। ऐतिहासिक तौर पर, दास-स्वामी, भूस्वामी और पूंजीपति वर्ग जब उभार पर थे, तो उन्होने मानवता के लाभ के लिए कुछ किया था। लेकिन आज के नये बुर्जुआ तत्व अपने पूर्वजों से विपरीत दिशा में जा रहे हैं। वे नये "कचरे" के ढेर के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं जो मानवता को सिर्फ नुकसान ही पहुंचा सकते हैं। "कम्यूनीकरण" की हवा उभाड़े जाने की अफवाह फैलाने वालों में, कुछ तो वे नये बुर्जुआ तत्व हैं जिन्होंने सार्वजनिक सम्पत्ति पर अपना कब्जा जमा लिया है और डरते हैं कि जनता फिर इनका "कम्यूनीकरण" कर लेगी; कुछ दूसरे इस मौके का फायदा उठाकर अपने लिए कुछ झपट लेना चाहते हैं। हमारे बहुत से कामरेडों के मुकाबले इन लोगों की घ्राणा शक्ति ज्यादा तेज है। हमारे कुछ कामरेड कहते हैं कि अध्ययन एक "लचीला" काम है जो दूसरे के ऊपर वरीयता स्थापित करने में लाभ पहुंचाता है, जबकि इन लोगों ने अपनी सहज वृत्ति से भांप लिया है कि वर्तमान अध्ययन एक "गैर लचीली" वस्तु है जो सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग दोनों के सामने गम्भीर चुनौती के रूप में खड़ी है। दरअसल वे खुद जानबूझकर "कम्यूनीकरण" की थोड़ी हवा उभाड़ सकते हैं, या दो प्रकार के अन्तरविरोधों के बारे में विभ्रम पैदा करने के लिए हमारे अपने नारों में से एक या दो को अपना सकते हैं और कोई अप्रत्याशित चाल चल सकते हैं। इस पर नजर रखी जानी चाहिए।

अध्यक्ष माओ की अध्यक्षता में पार्टी की केन्द्रीय कमेटी के नेतृत्व के अन्तर्गत, चीन की करोड़ों-करोड़ जनता से बनी हुई सर्वहारा क्रान्ति की शक्तिशाली सेना ऊर्जस्विता के साथ लम्बे डग भरती हुई आगे बढ़ रही है। सर्वहारा का अधिनायकत्व लागू करने के पच्चीस वर्षों के व्यावहारिक अनुभव के साथ ही, पेरिस कम्यून से लेकर अब तक के सभी अन्तरराष्ट्रीय अनुभवों से हम लैस हैं, और जब तक मनोयोगपूर्वक पढ़ने एवं अध्ययन करने, जांच-पड़ताल एवं विश्लेषण करने तथा अनुभवों का सार-संकलन करने में हमारी पार्टी की केन्द्रीय कमेटी के कुछ एक सौ सदस्य और कुछ एक हजार वरिष्ठ कार्यकर्ता नेतृत्व देते रहते हैं और अन्य कार्यकर्ताओं एवं जनसमुदाय की विशाल आबादी के साथ मिलकर इन कामों को अंजाम देते रहते हैं, हम पक्के तौर पर अध्यक्ष माओ के आह्वान को वास्तविकता में अनुदित कर सकते हैं, सर्वहारा के अधिनायकत्व के सवाल पर स्पष्टता हासिल कर सकते हैं और मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ त्से-तुङ विचारधारा द्वारा निर्धारित मार्ग पर अपने देश की विजय-यात्रा को सुनिश्चित कर सकते हैं। "सर्वहारा के पास खोने के लिए अपनी बेड़ियों के सिवा कुछ नहीं है। जीतने के लिए सारी दुनिया है।" यह असीम उज्ज्वल सम्भावना पार्टी की बुनियादी लाइन पर डटे रहने, बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने में दृढ़ रहने और सर्वहारा के अधिनायकत्व में क्रान्ति को अन्त तक चलाते रहने के लिए जागृत मजदूरों और अन्य मेहनतकशों की बढ़ती जा रही संख्या और उनके हिरावल, कम्युनिस्टों को लगातार प्रेरित करती रहेगी। बुर्जुआ वर्ग और अन्य शोषक वर्गों की समाप्ति तथा कम्युनिज्म की विजय अनिवार्य है, सुनिश्चित है और मनुष्य की इच्छा से स्वतन्त्र है। ●

राहुल फाउण्डेशन द्वारा शीघ्र प्रकाश्य

मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्रीय चिन्तन का अग्रतम मुकाम
माओवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र गौरवग्रन्थ

'राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त'

(शंघाई पॉलिटिकल इकॉनमी)

'राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त', पुस्तक महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान तैयार हुई थी और 'युवा स्व-शिक्षा श्रृंखला' के अन्तर्गत व्यक्तिगत व सामूहिक अध्ययन के लिए प्रकाशित हुई थी, जिसका लक्ष्य नौजवानों और व्यापक आम जनता के सांस्कृतिक-राजनीतिक स्तर को ऊंचा उठाना, समाज और प्रकृति की उनकी जानकारी को बढ़ाना तथा उनकी वर्ग-चेतना के धरातल को उन्नत बनाना था ताकि वे सच्चे अर्थों में अपने भाग्य और भविष्य के निर्माता बन सकें, समाजवादी समाज की आर्थिक-सामाजिक संरचना और उसमें जारी वर्ग-संघर्ष की प्रकृति को समझ सकें, समाजवादी समाज के मूलाधार और अधिरचना में मौजूद बुर्जुआ तत्वों की तथा समाज, पार्टी और राज्यसत्ता में मौजूद बुर्जुआ वर्ग की सही पहचान कर सकें तथा सर्वहारा वर्ग के सर्वतोमुखी अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति की निरन्तरता को अन्त तक (यानी वर्गों व वर्ग संघर्ष की समाप्ति तक) बनाये रख सकें।

एक नई दुनिया का सपना देखने वाले और उसके लिए संघर्षरत
हर व्यक्ति के लिए एक जरूरी किताब

दो भागों में शीघ्र प्रकाश्य

पहला भाग–
मूल्य : 60 रुपये

प्राप्ति के लिए लिखें अथवा सम्पर्क करें :
3/274, विश्वासखण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010
जनचेतना, जाफरा बाजार, गोरखपुर-273 001

कला-चिन्तन

कला का मनोविज्ञान

❑

सेर्गेई मिखाइलोविच आइजेंस्ताइन

महान सोवियत फिल्मकार **सेर्गेई मिखाइलोविच आइजेंस्ताइन** (1898-1948) ने सिर्फ सर्वहारा सिनेमा के बल्कि सम्पूर्ण सर्वहारा कला-साहित्य और सौन्दर्यशास्त्र के एक गम्भीर प्रयोगधर्मा सिद्धान्तकार थे।

कई विश्व-प्रसिद्ध फिल्में के निर्माण के साथ ही उन्होंने न सिर्फ क्रान्तिकारी सिनेमा के सैद्धान्तिक एवं शिल्पकारिता सम्बन्धी पहलुओं पर प्रचुर मात्रा में लिखा, बल्कि कला-साहित्य के स्रोत, प्रभाव, संरचनात्मक तंत्र, रचना-प्रक्रिया और प्रणाली-विज्ञान जैसे पहलुओं पर भी काफी विस्तार से चर्चा की। कला-साहित्य की सैद्धान्तिक और सौन्दर्य शास्त्र के बारे में मार्क्सवादी दृष्टिकोण से परिचित होने के लिए **मार्क्स-एंगेल्स, लेनिन** और **माओ** के कला-साहित्य विषयक विचारों के अतिरिक्त जिन लेखकों के वैचारिक लेखन से परिचित होना आज बेहद जरूरी है उनमें **गोर्की, ब्रेख्त, लूनाचार्स्की, राल्फ फॉक्स, कांडवेल, स्तानिस्लावस्की, लूकाच** और **ग्राम्शी** आदि के साथ **आइजेंस्ताइन** का भी नाम शामिल है।

यह एक दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना है कि आइजेंस्ताइन के सिनेमा शास्त्रीय सिद्धान्तों और कला-विषयक चिन्तन पर वामपंथी दायरे के भीतर अभी भी बहुत कम चर्चा हुई है। बुर्जुआ कलाविदों के बीच उनके सिनेमा के तकनीकी पहलुओं पर तो खूब लिखा ही गया है, उनके सिद्धान्तों की उल्टी-सीधी और मनमानी व्याख्या भी खूब हुई हैं। आइजेंस्ताइन ने ही पहली बार दुनिया को सिने-कला की शक्ति का अहसास कराया और उसके बहुआयामी इस्तेमाल की संभावनाओं से परिचित कराया, यह मानते हुए भी, पश्चिम के बुर्जुआ कला-चिन्तक यह तो आइजेंस्ताइन के सर्वोत्कृष्ट अवदानों की उपेक्षा करते हैं या फिर उन्हें तोड़ते-मरोड़ते हैं। कारण, आइजेंस्ताइन को पचाना बुर्जुआ और संशोधनवादी, नव वामपंथी, उत्तर मार्क्सवादी -सभी तरह के चिन्तकों के लिए असम्भव जान पड़ता है क्योकि आइजेंस्ताइन का सिनेमा वर्ग-संघर्ष का सिनेमा है, उनका चिन्तन एक अकुण्ठ भौतिकवादी का चिन्तन है।

आइजेंस्ताइन के साथ पाठकों को समस्या यह आती है कि उनको पढ़ना समस्या-विशेष के स्थूल रूप से अमूर्तन की गहराइयों में उतरते जाने के समान होता है, जहां से फिर ऊपर आने पर कुछ समाधान हाथ में होते हैं और सोच की कुछ नई दिशाएं। बहुधा उनके नोट्स, व्याख्यान और यहां तक कि कभी-कभी लेख भी डायरी में लिखी गई स्फुट टिप्पणियों के संयोजना के समान प्रतीत होते हैं। आइजेंस्ताइन को पढ़ना कला की पद्धति और प्रक्रियाओं के बारे मे सर्वथा मौलिक चिन्तन से साक्षात्कार करने, यूं कहें कि जूझने के समान होता है।

'दायित्वबोध' के नवम्बर '95- फरवरी '96 अंक में हमने **मार्क्स** की **'पूंजी'** पर फिल्म बनाने की उनकी योजना पर **बेट्टे बाइरो** का लेख प्रकाशित किया था जो कुछ वर्षों पहले ही मिली उनकी उस डायरी के अध्ययन पर आधारित था जिसमें आइजेंस्ताइन ने 'पूंजी' के फिल्मीकरण की अनूठी योजना के बारे में कुछ स्फुट नोट्स लिये थे।

इस बार हम आइजेंस्ताइन के प्रसिद्ध लेख '*कला का मनोविज्ञान*' प्रकाशित कर रहे हैं, यह लेख भी नोट्स के रूप में है। Psikhologiya protsessov khudozhesterennogo tvorchestiva (लेनिनग्राद, नाउका, 1980) में प्रकाशित रूसी मूल से इसका अनुवाद **अलेन अपचर्च** ने किया है जो उन्हीं के द्वारा सम्पादित पुस्तक *'The Psychology of Composition'* (Seagull Books, Calcutta, 1987) में संकलिम है। इसी श्रृंखला में आइजेंस्ताइन की दो रचनाएं और है: *'Cospectus of Lectures on the Psychology of Art'* (जो डायरी नोट्स की शक्ल है। और *'Psychology of Composition'*. इन लेखे को भी आगे हम 'दायित्वबोध' के पाठकों के समझ प्रस्तुत करने की कोशिश करेंगे।

कला की पद्धति का रहस्य क्या है? वह रहस्यमयी प्रक्रिया क्या है जिसके तहत प्रकृति की कोई परिघटना कला का तथ्य बन जाती है? जीवन का तथ्य कला के तथ्य में किस प्रकार रूपान्तरित हो जाती है? कला में मौजूद प्रभावोत्पादकता के मूल स्रोत क्या है? - आइजेंस्ताइन ने इन मूलभूत प्रश्नों पर विचार करते हुए अपने इस निबन्ध में कला की रचना-प्रक्रिया सम्बन्धी मूलभूत सूत्रों को उद्घाटित करने की कोशिश की है। - सम्पादक

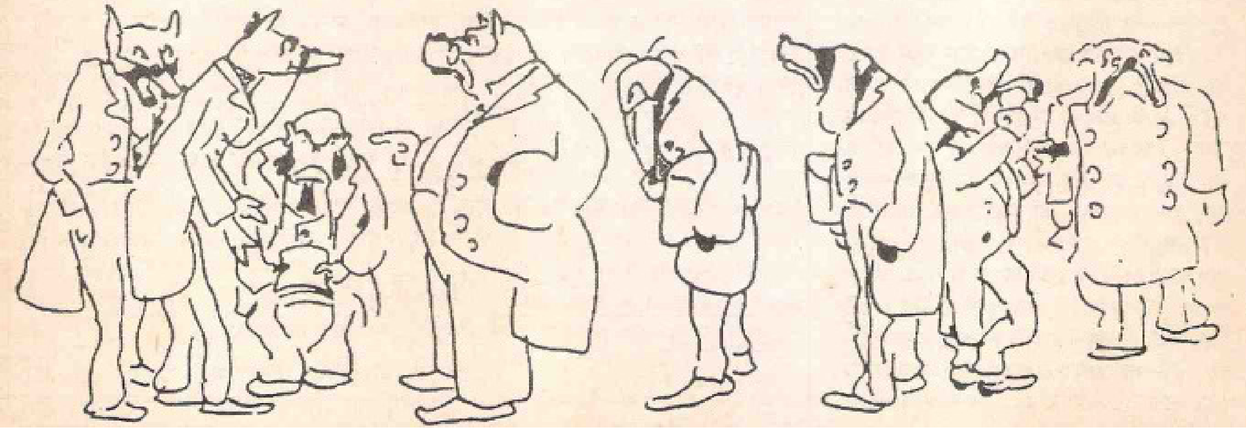

(ए.आर.ल्यूरिया के अनुरोध पर, 25 नवम्बर 1940 से प्रारम्भ)

1-XII-40

मैं अपनी बात की शुरुआत यहां से कर रहा हूं कि कला के मनोविज्ञान की सबसे दिलचस्प समस्या –

न तो विषयवस्तु की है, न अन्तर्वस्तु की, बल्कि यह है कि कैसे यह विषयवस्तु या अन्तर्वस्तु, यथार्थ की वस्तु से कला की वस्तु बनती है।

कोई 'घटना' किसतरह एक 'कलाकृति' बन जाती है।

जीवन के तथ्य को कला के तथ्य में रूपान्तरित करने वाली प्रक्रिया का संघटक अवयव क्या है?

कला की पद्धति का रहस्य क्या है? तथाकथित रूप (फॉर्म) का रहस्य क्या है, जो किसी परिघटना को, एक कलाकृति के रूप में प्रस्तुति से अलग करता है?

और एक दूसरा सवाल : कला में मौजूद प्रभावोत्पादकता कहां से आती है?

इस प्रभावोत्पादकता के मूल स्रोत क्या हैं? उनका तात्पर्य।

और, फिर, कला की शाश्वत प्रवृत्ति और वह सहवर्ती चीज़ जो भावुकता से बढ़कर होती है।

23.XII.40

अनेकानेक संभावित समस्याएं हैं।

कला के मनोविज्ञान में भी :

कोई (कलाकर्म) *क्यों* करता है,

कोई (कलाकर्म में) किस चीज़ का प्रतिनिधित्व करता है,

कोई अपने विषय को *विचारधारात्मक रूप से कैसे* संसाधित-प्रतिपादित करता है, आदि-आदि।

इन सबके बारे में बहुत कुछ लिखा जा चुका है।

लेकिन उन सब पर चर्चा करने के लिए यहां पर्याप्त स्थान नहीं है।

अत: हम अपने आपको केवल एक ही हिस्से तक सीमित रखेंगे।

यह हिस्सा जो अब तक सबसे कम समझा और विवेचित किया गया है :

कला की पद्धति

यानी वह रहस्यमयी प्रक्रिया, जिसके तहत प्रकृति की कोई परिघटना कला का तथ्य बन जाती है।

और कैसे उसकी वही अन्तर्वस्तु प्रकृति में अस्तित्वमान रूपों से संक्रमित होकर कला के रूपों में अस्तित्वमान हो जाती है।

गेटे ने इस सवाल को पूरी गहराई से और पूरी स्पष्टता से सम्बोधित किया था....।[1]

हमारी कला-समीक्षा में बेशक इस पर थोड़ा-बहुत सोचा-विचारा गया है, लेकिन इसका भी बहुत मामूली अंश ही व्यापक रूप से प्रकाशित-प्रसारित हो पाया है।

यह तो कलाओं के इतिहास में केवल हमारे समय में आकर ही सम्भव हो सका है कि तीन अभूतपूर्व कारक, जो इतिहास के पूर्ववर्ती चरणों में अज्ञात ही रहे हैं, इस सवाल के स्पष्टीकरण की पूर्वापेक्षाओं के रूप में प्रकट हुए हैं।

इनमें पहला कारक है **मार्क्सवाद-लेनिनवाद** की पद्धति, जो हमारे भीतर परिघटनाओं की द्वंद्वात्मक जांच-पड़ताल करने की समझ पैदा करती है।

दूसरा है हमारी सामाजिक संरचना – एक वर्गमुक्त समाज, जिससे मानव जाति का समूचा इतिहास तभी से अनभिज्ञ है जब इसकी प्राक्-वर्ग संरचना आदिम समाज के उषाकाल के समय लुप्त हो गयी।

और तीसरा कारक है इस सामाजिक संरचना का अधिरचनाओं में प्रतिबिम्बन, जिसने स्वभावत: ऐसे मॉडल भी प्रदान किये हैं जो न तो पहले कभी किसी सृजनात्मक व्यवहार में उपस्थित रहे हैं, और न ही किसी सैद्धान्तिक संज्ञान में। अत: कलात्मक क्रियाशीलता और उसके भीतर समस्याओं के सूत्रीकरण के क्षेत्र में यह एक सर्वथा नया कारक है, जो पहले के चिन्तन के क्षेत्र में कभी मौजूद नहीं रहा है।*

और चिन्तन की यह नयी धारा जल्द ही कलाओं के विकास की एक सबसे पूर्ण और परिष्कृत अवस्था तथा कला के एक सबसे पूर्ण उपकरण–सिनेमा – से लैस हो चुकी है, जो – दूसरे देशों से सर्वथा भिन्न – केवल हमारे देश में–'सभी कलाओं सबसे महत्वपूर्ण' (**लेनिन**), और अग्रणी कला बन चुकी है, तथा नवोदित सोवियत कला-संस्कृति की गौरवशाली उपलब्धियां हासिल कर रही है।

सिनेमा, अपने विकास के चरण के लिहाज से, सभी कलाओं में, सभी मायनों में, केवल एक सबसे उन्नत कला ही नहीं हैं, बल्कि यह उस 'आदर्श' के एक बोध की भी भांति है जिसे प्रत्येक कला शताब्दियों-शताब्दियों से प्राप्त कर लेने की कामना करती आयी है।

सचमुच :

इसकी गति वर्णमाला की भांति है :

रंगों की गति – रंगीन सिनेमा,

दिक् – तीन आयामी प्रस्तुति

थियेटर –

क्लोज-अप और अण्डरटोन,

काल और दिक् के जरिए अन्तरण या अनुचित्रण,

10, 20, या 100 सेट्स एक फ्लैश में

संगीत – अपने समस्त गुणों, और मूर्तता आदि के साथ, वगैरह।

इनके अतिरिक्त : सिनेमा, कला के एक जैविक (संघटित) संश्लेषण का सबसे आधुनिक रूप है।

अत: सिनेमा की जैविकता या संघटनात्मक तंत्र में, उसकी पद्धति में, सामान्य तौर पर, कला की पद्धति सर्वाधिक मुक्त हुई है और विकास की उच्चतम अवस्था में जा पहुंची है। यहां यह एकदम खुले में आ गई है यहां पहुंचकर इसका विश्लेषण और अवगाहन सम्भव हो चुका है।

और विकास की इस मंजिल की ऊंचाइयों से जब हम अतीत का सिंहावलोकन करते हैं, तब एक-एक कला की संरचना और पद्धति के वे 'गुप्त सोते' दिखाई दे जाते हैं जो सिनेमा की पद्धति में धाराओं की भांति संगमित होते हुए प्रतीत होते हैं।

सिनेमा की पद्धति एक आवर्धक लेंस की भांति है, जिसके जरिये प्रत्येक कला की पद्धति दृश्यमान हो उठती है, और सभी कलाओं की पद्धति एक साथ समेकित होकर प्रत्येक कला की बुनियादी पद्धति हो जाती है।

लेकिन **मार्क्सवाद-लेनिनवाद** की पद्धति से लैस हुए बिना, सामाजिक विकास की हमारी वर्तमान मंज़िल के बिना, और, अंतिम रूप से, मानवीय मेधा और तकनोलॉजी के अभी भी बहुत कम इस्तेमाल किये गये इस अद्‌भुत चमत्कार – सिनेमा – के बिना, हम रूप (फॉर्म) के गुह्यतम जैविक विधान (या संघटनात्मक तंत्र) के भीतर इतनी वेधनकारी परिशुद्धता के साथ कभी नहीं देख सकते थे।

अपनी मूल प्रस्थापना में सही होते हुए भी* ***आइजेंस्ताइन* *यहां एक राजनीतिक-सैद्धान्तिक गलती के शिकार हैं। सोवियत समाजवादी समाज एक वर्गमुक्त समाज नहीं था, सिर्फ उत्पादन के साधनों और विनिमय के क्षेत्र से निजी स्वामित्व का खात्मा ही सम्भव हो पाया था। समाजवाद की लम्बी अवधि वर्ग समाज से वर्ग विहीन समाज की ओर संक्रमण था एक लम्बा काल होता है, जिस दौरान वर्ग मौजूद रहते हैं, वर्ग संघर्ष जारी रहता है और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की संभावनाएं भी मौजूद रहती है। इस बात की* ***लेनिन*** *ने भी पर्याप्त चर्चा की थी और बाद में* ***माओ*** *ने भी इसकी विस्तृत विवेचना की।* ***आइजेंस्ताइन*** *की गलत समझ वस्तुत:* ***स्तालिन*** *द्वारा 1936 में प्रस्तुत गलत सूत्रीकरण पर आधारित है (जिसे 1952 में सुधारते हुए उन्होंने भी स्वीकार किया था कि सोवियत समाज में 'मूल्य के नियम अभी भी प्रभावी हैं')।*

फिर भी आइजेंस्ताइन की मूल स्थापना सही है क्योंकि यह वर्ग समाज के ज्ञात इतिहास में पहली बार हुआ था कि उत्पादन के साधनों पर से निजी स्वामित्व समाप्त कर दिया गया था। यह पहली बार हुआ था कि अल्पसंख्यक शोषक वर्ग पर बहुसंख्यक शोषित वर्ग का अधिनायकत्व कायम हुआ था समाजवाद इसी रूप में 'कम्युनिज़्म की प्रथम अवस्था का, एक 'नई सभ्यता का उषाकाल' था। यह भी सही है कि इस नई सामाजिक संरचना का अधिरचनाओं में प्रतिबिम्बित कलात्मक क्रियाशीलता के सर्वथा नये आयाम उद्घाटित कर रहा था।

– सम्पादक

❑

प्रकृति की घटना और कलाकर्म की घटना, दोनों ही एक-दूसरे से किसी-न-किसी रूप में भिन्न हैं। किस रूप में?

1905 में किसी एक युद्धपोत पर कीड़ा पड़ा हुआ मांस खाने को लेकर एक विद्रोह फूट पड़ा। एक डॉक्टर ने इसे खाने योग्य घोषित किया। और जब विद्रोह भड़का, तो यह डॉक्टर घृणित अफसरों के साथ, युद्धपोत पर से कूद कर सबसे पहले भागने वालों में से एक था।

लेकिन एक बिन्दु पर दर्शकों को यह याद दिलाना आवश्यक हो गया कि डॉक्टर का खात्मा हो चुका था।

अधिक आसान क्या हो सकता था? एक लहर किनारे की ओर आती है और डूब चुके डॉक्टर की लाश को अपने साथ लाकर छोड़ जाती है।

पुराने मूक सिनेमा में तो इंटरटाइटिल्स में 'इसी बीच....... ' लिख देने का चलन था, परन्तु इसमें निर्देशक ने, ऐसा करने के बजाय, पूरी तरह से एक भिन्न उपाय किया।

युद्धपोत के लंगर वाले रस्से पर झूलता हुआ दिखता है.... एक चश्मा!

प्रभावोत्पादकता सौ गुनी अधिक हो गयी। लोकप्रियता।

एक बूढ़े राजा का दिमाग फिर जाता है। वह अपने राज्य को अपनी बेटियों में बांट चुका है।

वह बेघर होकर एक मैदान में भटकता है।

उसके भीतर गुस्सा और आक्रोश की भावनाओं का तूफान उमड़ रहा है। ऐसा लग सकता है कि इससे 'लैण्डस्केप' का कुछ भी लेना-देना नहीं है। आक्रोश कहीं भी पैदा हो सकता है – मैदान में, घर में, वर्षा में, या गर्म मौसम में। लेकिन एक खास वजह से, नाटककार – **शेक्सपियर** – प्रकृति की शक्तियों को प्रेरित करता है कि वे **किंग लिअर** के विलाप में सुर-में-सुर मिलाकर हू-हू करें : **लिअर** का विलाप एक तूफान की हुहुआहट के साथ घुल-मिल जाता है....

और, इसप्रकार, दुखी राजा की भावना को प्रकृति की शक्तियों की 'भावना' से मिला देने पर जो प्रभाव उत्पन्न होता है, वह इस दृश्य को विश्व नाटक के सबसे उल्लेखनीय दृश्यों में से एक बना देता है...

वाल स्ट्रीट का बेरहम गिरोह, बुर्जुआ प्रणाली के असमाधेय अन्तरविरोध। पूंजीवाद का नियम किसानों को तबाह कर डालता है। उन्हें उनकी पट्टे की ज़मीनों से बेदखल कर देता है। उनके कृषि-उपकरण, निजी सामान-असबाब और घोड़े लगभग मुफ्त में ही बेंच डाले जाते हैं। अखबारों में ऐसी खबरें भरी रहती हैं। जो इनसे सीधे प्रभावित हैं, वे बुरीतरह विह्वल हो उठते हैं (**गेटे** का 'wer etwas dazu zu tun hat')।

लेकिन जब अपने घोड़े बेंचने के लिए विवश किसान के जीवन की वास्तविक व्यथा कलात्मक संसाधन या निरूपण के दायरे में प्रवेश करती है– तो यही, **स्टिनबेक** जैसे उत्कृष्ट लेखक के कौशल से, एक कारुणिक एकालाप बन जाती है, और हाल के वर्षों के एक सबसे सशक्त उपन्यास – *द ग्रेप्स आफ रॉथ* – के पृष्ठों में अचानक इसप्रकार ध्वनित हो उठती है (लेकिन यदि इसे किसी अन्य ढंग से कहा जाये, तो इसकी 75 प्रतिशत प्रभावोत्पादकता नष्ट हो जायेगी) :

> हां, तो आप इस जोड़ी और इस गाड़ी के क्या दाम देंगे? इतने अच्छे कुम्मैती घोड़े, बिल्कुल एक जैसे, रंग में और चाल-ढाल में भी। कड़े खिंचाव में – पुट्ठे और नितम्ब तने हुए हैं, बार-बार अलग होते और फिर सट जाते हुए। और इस भोर में, उन पर चमक है, कुम्मैती चमक। वे हमारे लिए बाड़ की ओर मुंह उठाये देख रहे हैं, उनके खड़े कान हमारी बातचीत सुनने की ओर लगे हुए हैं, और उनके ललाट पर वे काले-काले रोम-गुच्छ। मेरी एक लड़की है। वह घोड़े के गर्दन के अयाल और ललाट के रोम-गुच्छों को आपस में गूंथना पसन्द करती है, उन पर एक लाल फन्दा डालती है। वह यही करना पसन्द करती है। और कुछ नहीं। मैं उस लड़की और उस दूर वाले कुम्मैती घोड़े के बारे में एक मजेदार किस्सा बताऊं तो आप हंस पड़ेंगे। दूर वाला घोड़ा आठ साल का है, नजदीक वाला दस साल का, लेकिन जिसतरह वे एक साथ जुतकर काम कर रहे हैं, उससे ऐसा लगता है मानो दोनों जुड़वां बछेड़े हों। देखिए! उनके दांत। एकदम ठीक-ठाक हैं। तगड़े फेफड़े। टांगें सुन्दर और साफ-सुथरी। कितना दाम? दस डालर? दोनों के लिए? और गाड़ी – हे प्रभु यीशू! मैं उन्हें शूट कर कुत्तों को खिला देता। अरे, ले जाइए उन्हें! जल्दी ले जाइए, जनाब। आप एक छोटी बच्ची का सौदा कर रहे हैं, जो घोड़े के ललाट के रोम-गुच्छ गूंथ रही है, फंदा बनाने के लिए अपने बालों से रिबन उतार रही है, सिर उठाकर, उसके नरम नथुनों को अपने गालों से रगड़ रही है। आप वर्षों की मेहनत खरीद रहे हैं, धूप में की गयी कड़ी मशक्कत, आप एक व्यथा खरीद रहे हैं जो बेजुबान है। लेकिन देखिए, जनाब। इस काठ-कबाड़ और उन खूबसूरत कुम्मैती घोड़ों के साथ एक प्रीमियम (अतिरिक्त मूल्य) चला जा रहा है – वेदना का एक पुंज जो आपके घर में पले-बढ़ेगा और किसी दिन...।[2]

रूस के उत्कृष्ट पुराने क्लासिकीय रचनाकार, **गोगोल**, **तारास बुल्बा** के बारे में लिखते हैं : 'बुल्बा ने अपने कंधे उचकाये, और अपनी (सैनिक) टुकड़ी की ओर चल दिया।'

लेकिन वह अपनी पाण्डुलिपि में संशोधन करते हैं, और तब जो अन्तिम पाठ तैयार होता है, वह अचानक यह अभिव्यंजना देने लगता है: 'अपने कंधे उचका कर, **तारास बुल्बा** अपने यहूदी चरित्र की स्वत:स्फूर्त विदग्धता पर विस्मित हो उठा, और शिविर की ओर चल दिया।'[3]

एक दूसरे रचनाकार – **पुश्किन** – उक्रेन की एक रात का चित्रण करते हैं। यह आम रातों जैसी ही एक रात है।

> नीरव, निस्तब्ध है उक्रेन की रात
> जागृत है आकाश सितारों की चमक लिए,
> पर अनमनी बनी हुई है ऊंघती हवा
> नहीं तोड़ती इसकी उदासी; कठिनाई से हिलती हैं
> रुपहली चमक वाली पॉपलर की टहनियां।

लेकिन जब इसी उदासी भरे विवरण को नाटक का रूप दे दिया जाता है : जब इसमें अवसाद भरे विचार और पश्चाताप के भाव भर दिये जाते हैं, और जब **माजेपा** का दृश्य में पदार्पण होता है, तब यही भूदृश्य बिल्कुल भिन्न अभिव्यक्ति देने लगता है :

> पीछा कर रहे दु:स्वप्नों से उद्विग्न, उत्पीड़ित
> विचरता है **माजेपा**; सितारों भरा आकाश –
> लाखों-लाख निहारती, निरखती आंखें –
> सता रही हैं उसे, उपहास-मुद्रा में घूरती हुई,
> पॉपलर की टहनियां झूमती हुई जोड़ों में
> सरसरा रही हैं, झुक-झुककर अपनी बहनों की ओर
> मानो न्यायाधीश बतिया रहे हों फुसफुसाहट में।
> लेकिन गर्मी की इस रात का घुप अंधेरा
> घेरे है नि:शब्द, कालकोठरी की भांति।[4]

तोल्सतोय स्वामित्व की भर्त्सना करना चाहते थे। तो भर्त्सना कर देते – कोई भी कह देगा। लेकिन इतना ही उनके लिए काफी न था। उन्होंने एक सम्मानित, मेहनती घोड़े – **खोल्सतोमर** – का बिम्ब रचा, उसके चरित्र पर चिन्तन-मनन किया, और उसके लिए वक्तृता आविष्कृत की। और रात में दूसरे घोड़ों के साथ, इस विषयवस्तु पर, निम्नलिखित शब्दों में वार्तालाप करवाया :

> मनुष्य अपने जीवन में कार्यों से नहीं, बल्कि शब्दों से शासन करते हैं। वे किसी कार्य को करने या न करने की सम्भावना से उतना प्रेम नहीं करते, जितना कि अपने बीच स्वीकृत शब्दों में विभिन्न विषयों पर चर्चा करने की सम्भावना से प्रेम करते हैं। ऐसे शब्द जो उनके बीच महत्वपूर्ण समझे जाते हैं, *मेरा*, *मेरे* और *हमारे* जैसे शब्द होते हैं, जिन्हें वे विभिन्न चीज़ों, प्राणियों, और यहां तक कि धरती, जनता, और घोड़ों आदि के लिए भी प्रयोग करते हैं...। और, मनुष्य अपने जीवन में संघर्ष इसलिए नहीं करते कि वे कुछ अच्छा करना चाहते हैं, बल्कि इसलिए करते हैं कि वे ज्यादा से ज्यादा चीजों को अपना बना लें।
>
> अब मुझे पक्का यकीन हो गया कि मनुष्यों और हम घोड़ों के बीच यही सारभूत अन्तर है।[5]

इस प्रकार, **तोलस्तोय**, **पुश्किन**, **गोगोल**

और **स्टिनबेक** को पढ़ते हुए, अथवा *लिअर, पोटमकिन* या पूरी तरह एक तथाकथित 'क्लोजअप प्रस्तुत करने में सक्षम अन्य किसी फिल्म को देखते हुए, पाठकों और दर्शकों को एक बिल्कुल ही विशिष्ट प्रकार की भावनात्मक-ऐन्द्रिक स्थिति की अनुभूति होती है।

और एक फिल्म या मंच-निर्देशक, या एक लेखक यह भलीभांति जानता होता है कि यदि वह उसी चीज को इस विशिष्ट पद्धति के बजाय, किसी अन्य तरीके से लिखे या प्रस्तुत करे तो-भले ही उसकी अन्तर्वस्तु वही क्यों न रहे-उसकी अभिभूतकारी प्रभावोत्पादकता का 'जादू' कलाकर्म से धुएं की भांति उड़ जायेगा...।

तब ऐसे लेखकों, नाटककारों और निर्देशकों ने क्या किया है?

उन्होंने केवल सूचनात्मक या संज्ञानात्मक नहीं, बल्कि एक उत्कर्षित और भावनात्मक रूप से अभिभूतकारी प्रभाव पैदा करने के उद्देश्य से निम्नलिखित कार्य किये हैं :

पहला, आवश्यक क्षण में, सम्पूर्ण (जैसे डॉक्टर) को छोड़कर, उसके स्थान पर, केवल उसके एक अंश (जैसे चश्मा) को प्रस्तुत किया है।

दूसरा, मनुष्य (जैसे **लिअर**) के समूचे परिवेश को मनुष्य की मनोदशा (जैसे तूफान) का रूप धारण करने के लिए प्रेरित किया है।

तीसरा, किसी वास्तविक कार्य-व्यापार की वस्तु को एक अदृश्य वस्तु - जैसे श्रम - के समतुल्य बना दिया है।

चौथा, शब्दों को थोड़ा पुनर्व्यवस्थित कर दिया है, विधेय और उद्देश्य की स्थितियों में अदला-बदली कर दी है, जैसे घूमने के तथ्य को, *कौन* घूमता है (यानी **तारास**) से पहले रखकर।

पांचवा, प्रकृति की शांत परिघटनाओं (जैसे सितारों, और पॉपलरों) को लेकर उन्हें व्यक्तिवाची बना दिया है - एक जगह पॉपलरों को फुसफुसा कर बतियाते हुए न्यायाधीश बनाकर, तो दूसरी जगह सितारों को अभियुक्त की ओर निश्चित हिकारत से आंख मिचमिचाते या घूरते हुए दिखाकर।

और अंत में, छठवां, सामान्य, उत्कृष्ट रूसी शब्दों को शोषक समाज ने शताब्दियों के दौरान जो सापेक्षिक अर्थ दिये हैं, उन्हें परे हटाकर उन शब्दों को उनका मूल रूप - एक ठोस, वस्तुगत तथ्य (सहभागिता) वापस लौटा दिया।

जहां आधार के तौर पर कोई एक भी प्राकृतिक तथ्य मौजूद न हो, वहां कुछ भी बचा नहीं रह गया, जैसे कि स्वामित्व के मामले में, जो इस जैविक विश्व के प्रतिकूल है। बुर्जुआ समाज की मूर्ति - 'स्वामित्व' के ऊपर से 'हर तरह के और सभी' मुखौटे उतार डाले गये, जिसके तहत एक 'नंगा राजा' तक भी नहीं बचा। और इसी के साथ उसने एक बूढ़े घोड़े का मानवीकरण भी कर दिया।

और एक दूसरा सवाल - यदि कलाकृति में नहीं, तो क्या उन्होंने उसकी पद्धति में कोई भिन्न या मिलता-जुलता कार्य किया?

और क्या इस पद्धति में भी वही चीज निहित हो सकती है जो यथार्थ के तथ्य को कला के तथ्य में रूपान्तरित करने वाली पद्धति के मर्म में निहित होती है?

इसके लिए, आइए देखें कि हमारे लेखकों, निर्देशकों, और नाटककारों ने अपनी अन्तर्वस्तु की सामग्री को जिस संगति (हॉर्मनी) में ढाला है, वह हमें क्या बताती है?

अब आइए, इसमें एक और तरह के व्यक्तित्व- कम्पोजर - को भी शामिल कर लें, जिसने अभूतपूर्व चाक्षुष कला के एक 'टाइप' - जैसे संगीतात्मक नाटक - के तौर पर, कलाओं के एक ऐसे विशिष्ट किस्म के.... संश्लेषण का सपना देखा हो, जिसके बारे में यह सोचा गया हो कि यह ओपेरा का स्थान ले लेगा।

और यहां पर, हम महान **वैग्नर** के प्रेत को उत्तेजित करने की धृष्टता करेंगे क्योंकि किसी एक **मैक्स नोर्दाऊ** ने अपनी पुस्तक '*एण्टार्टुंग*' में उनके ऊपर खण्डन-मण्डनात्मक अन्दाज में उन्हीं शब्दों की बौछार की है जो हमें उस कुंजी तक (हालांकि यह कुंजी एकांगी और मिथ्या है जैसा कि हम आगे देखेंगे) पहुंचाती है, जहां उपरोक्त लेखकों ने जो कुछ भी किया है, उसकी 'पद्धति' के उपकरणों की खोज की जानी है। हालांकि हर लेखक ने अपने-अपने ढंग से वह काम किया है, लेकिन कुल मिलाकर, एक ही, और एक समान परिघटना की स्पिरिट में किया है और एकदम सटीक ढंग से अपना मंतव्य पूरा किया है।

और हालांकि इस स्थिति की सच्ची तस्वीर के गूढ़ार्थ का उद्घाटन एक सर्वथा भिन्न क्षेत्र - सिनेमा में प्रयोगात्मक सर्जना के क्षेत्र - से हुआ है, हमारे तर्क की गम्भीरता की दृष्टि से **वैग्नर** पर **मैक्स नोर्दाऊ** द्वारा किया गया यह आक्रमण यहां हमारे लिए बहुत उपयोगी है - कारण कि **मैक्स नोर्दाऊ** ने वैग्नर के प्रोग्राम की संरचना में निष्पादित परिघटना में से जितनी चीजों का बोध किया है, उतनी ही चीजों को नजरअन्दाज भी किया है :

> ...फिर भी प्रारम्भ की ओर लौटने का प्रयास अध:पतन की ही एक विशिष्टता है, और यही इसकी गहनतम सारवस्तु है ...। **वैग्नर** का कलाओं का समेकन (फ्यूजन) इसी धारणा पर अवलम्बित है। उनकी '*भविष्य की कलाकृति*' (*आर्ट-वर्क ऑफ द फ्यूचर*) नामक कृति सुदूर अतीत की कला-कृति है। जिसे वह विकास समझते हैं, वह पश्चगमन है, आदिम मानव की ओर, या यूं कहें कि प्राक् मानवीय अवस्था की ओर वापसी है।[8]

'लेकिन वह सही हैं।' इस अवतरण को पढ़ने वाले भड़क कर बोल पड़ते हैं।

सही या गलत, कैसे और क्यों - हम अभी नहीं जानते।

लेकिन यह सचमुच ऐसा ही प्रतीत होता है।

और शायद यही सिद्धान्त उन छ: उदाहरणों में भी निहित है, जिन्हें हम, कला की पद्धति से यादृच्छिक तौर पर चुनकर, ऊपर वर्णित कर आये हैं।

मानवीयकृत घोड़ा और......... टोटेमवाद।[9]

पॉपलर और सितारे और ......जड़ात्मवाद।

क्या हमें कहीं और भी ऐसा वर्णन मिला है? जरूर! **एंगेल्स** में।[10]

क्या हम शेरनियों, आदि के बारे में नहीं

जानते?[11]

क्या हमने शिशुजन्म और प्रवेशद्वारों के बारे में नहीं सुना है...... और कि कैसे जब कोई शिकार पर हो तो *ओलिजिस* (तेलयुक्त चीज) नहीं इस्तेमाल की जाती (**लिअर**)?[12]

क्या भालू का दांत भी यहां प्रासंगिक नहीं है? – pars pro toto[13] (अंश से सम्पूर्ण का बोध - अनु.)।

लेकिन ये सारे के सारे तथ्य एक अ-संयोजित प्रकृति के तथ्य कतई नहीं हैं – ये सारे के सारे तथ्य परिघटनाओं की एक नितांत विशिष्ट समष्टि से सम्बन्धित हैं।

समष्टि, बिखरी हुई, अर्थात *आदिम* मानसिकता।

इसके अतिरिक्त, ये तथ्य उन मनोदशाओं से भी सम्बन्धित हैं जो या तो जातिवृत्ति के तौर पर उन्हें दुहराती रहती हैं (जैसे बच्चे की मानसिकता में), या जो – रोग-विज्ञान सम्बन्धी परिघटनाओं में – अपने से पीछे जाती हैं (जैसे स्वप्न, सुषुप्ति या 'नार्कोसिस' और मनोविदलन या 'शीजोफ्रेनिया' में)।

'लेकिन, क्या यह सच है, क्या सचमुच ऐसा हो सकता है?'

आइए, पीछे की ओर..... लौटें। आइये अपने सुपरिचित संचित स्मृति-कोष से दो या तीन विशेषक लें और देखें कि क्या हम उनका कोई 'सादृश्य' कला के प्रणालीविज्ञान में पा सकते हैं।

आइए, हम कुछ सर्वथा असंभावित उदाहरण लें : जैसे **बॅरोरो**, **बरमैन**, **दावीदोव**।[14]

फेहलैण्डलुंग (आकस्मिक क्रिया) (**क्रेश्मर** के चूजे), और मंच की तकनीक, नाटक।[15]

आदिम लयात्मकता और लयबद्धकरण, प्रभाव के लिए अपरिहार्य।[16]

❑

मजाक बन्द करें! क्या – आप यह कहना चाहते हैं कि कला की पद्धति हमारी प्रबुद्ध, आधुनिक प्रतिभा का आदिम चिन्तन के धुंधलके की ओर एक प्रत्यावर्तन है? आप कहना चाहते हैं कि यह महान सांस्कृतिक क्रियाशीलता हमें सुषुप्ति (नारकोसिस), सपना देखने और मनोविदलन (शीजोफ्रेनिया) के साथ, उसी स्तर तक 'भ्रान्तिजनक ढंग से ऊंचा उठाती है' (यानी कि ऊंचा उठने का भ्रम रचती हुई आदिम चिन्तन के स्तर पर पहुंचा देती है)?

बन्द करिए, बन्द करिए इसे! यदि हम **मैक्स नोर्दाऊ** होते, तो यही करते, बल्कि इससे भी एक कदम आगे बढ़ जाते : कला का ही खात्मा कर डालते।

लेकिन **नोर्दाऊ** ने परिघटना का केवल एक ही पक्ष देखा था। जबकि द्वंद्ववाद हमें किसी परिघटना को सभी तरफ से और समग्रता में देखने की शिक्षा देता है। तभी यह सम्भव होता है कि सम्भव या असम्भव सादृश्यों, और भूली-बिसरी यादों के क्षेत्रों, आदि के बजाय, कला की एक बिल्कुल भिन्न तसवीर उद्घाटित होती है।

कला में क्या घटित होता है?[17]

शीर्ष पर *सामाजिक* गतिशीलता।

लेकिन क्या हम कला के एक ऐसे क्षेत्र की कल्पना कर सकते हैं, जहां सचमुच केवल एक ही स्रोत, उदाहरण के लिए, सिर्फ 'निम्नतम' स्रोत पाया जाता हो?

तब तो ऐसी कला की अभिलाक्षणिक विशिष्टता, प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक, अपने आदिम रूप से आगे बढ़ चुके देशों, युगों और राष्ट्रों से लगभग अप्रभावित, एक लगभग पूर्ण *अपरिवर्तनीयता* ही होगी, और तब वह किसी भी अन्तर्वस्तु से *बाहर रहकर* या उसके *बिना* ही *दिलचस्पी और प्रेरणा* का स्रोत बनती रहेगी। ऐसा सम्भव नहीं लगता। फिर भी तमाम कलाओं के बीच (और सच कहें तो एकदम हाशिए पर) एक ऐसी कला की प्रजाति पायी जा सकती है, क्योंकि ऐसा दृश्य अस्तित्वमान होता भी है।

लोग हजारों की संख्या में आतुर भाव से यह देखने जाते हैं कि कैसे एक आदमी कई कुर्सियों के ऊपर एक और कुर्सी रख देता है, कैसे ये कुर्सियां भी कई मेजों के ऊपर रखी होती हैं, और कैसे वह सबसे ऊपर उल्टे रखी कुर्सी की टांग के ऊपर रखी एक बोतल के मुंह पर पंजे के बल खड़े होकर, अपना संतुलन बनाये रखने की कोशिश करता है; लोग यह देखते हैं कि कैसे वह एक छतरी के सहारे अपना संतुलन बनाये निश्चल खड़ा रहता है, या एक तनी रस्सी पर तेजी से सरकता है। जानबूझकर संतुलन गड़बड़ाने और फिर संतुलन कायम कर लेने का यह खेल हमेशा ही आनंददायक लगता है।

और फिर ये ही हजारों दर्शक किसी 'मजूसी' या जादूगर को अपनी आस्तीन के भीतर से क्रमश: रुमाल, सुअर के जिन्दा बच्चे, बत्तखें, पानी भरा एक प्याला, एक जलता हुआ बिजली का बल्ब, एक जिन्दा खरगोश.....आदि निकालते देखते हैं।

खेल के अन्त में एक व्यक्ति एक रंगबिरंगा जैकेट पहले आता है, और, अपने सम्मानित दर्शकों के सामने ही, भयानक चिग्घाड़ करते शेरों, बब्बर शेरों और ध्रुवीय भालुओं.... आदि पर काबू पाकर उन्हें पालतू बनाता है।

यदि आप सर्कस का इतिहास उठाकर देखें तो पायेंगे कि यह हमेशा से रहा है। आप 1917 के बाद से सोवियत सर्कस का ही इतिहास पढ़ें – और आप पायेंगे कि यह भी वैसे ही है : सर्कस का 'राजनीतिकरण करने', उसे अर्थपूर्ण बनाने, आधुनिकता प्रदान करने, और उसे नये, अपरम्परागत खेलों से समृद्ध करने के सारे के सारे प्रयास निष्फल ही होते रहे हैं। (केवल जोकर के करतब और व्यंग्यात्मक बैले नृत्य ही, जो निहायत निम्न स्तर के और बहुत सतही रूप में होते हैं, कभी-कभार सामयिक लगते हैं।)

झूले के कलाबाज एक झूले से दूसरे झूले तक 'उड़ते' रहते हैं।

घोड़े और हाथी, मानव की मर्जी के अधीन समर्पित होकर, अपने घुटनों के बल बैठ जाते हैं, 'मानवीयकृत' ओरांग-उटांग चलते हैं, छोटे-छोटे कुत्ते मानव-परिधान पहन कर नाटकीय प्रदर्शन करते हैं, और लाल बालों वाला जोकर बच्चों जैसी बनावटी आवाजें निकालते हुए अपनी मूर्खतापूर्ण और निहायत बचकानी उछल-कूद का प्रदर्शन करता है, जिसपर बच्चे और बूढ़े सभी हो-हो करके हंसते हैं – चाहें कोई बेफिक्र हो या सतर्क, परिवारों के पिता हों (!) या जिल्दसाज (!!), फोरमैन हों (!!!) या प्रोफेसर – सभी के सभी एक ही साथ हंस पड़ते हैं। हंसने का यह सिलसिला दादों-परदादों और यहां तक कि पूर्वजों के समय से चला आ रहा है।

क्या कारण है कि सारी दुनिया में हर रात सर्कस देखने वालों की भीड़ लगी रहती है? चाहे अमेरिका के तीन रिंग वाले **बारनम** सर्कस हों, जाड़े में जाड़े के सर्कस हों, या गर्मी के घूमन्तू तम्बुओं वाले सर्कस हों?

वह क्या चीज है जो 'पके बालों वाले बड़े-बूढ़े' तक को इतनी दिलचस्पी से ऊंचे बंधे तार पर अपना संतुलन खोते और फिर कायम कर लेते कलाकार को देखते रहने के लिए विवश करती है?

क्यों कोई चश्मा लगाये धीर-गम्भीर व्यक्ति आदमी और तेंदुए के बीच द्वंद्व-युद्ध को देख-देखकर मग्न होता है? और जब तेंदुआ अपने मालिक और सर्वेसर्वा के आगे, उसके पैरों पर एक आज्ञाकारी बिल्ले की भांति पसर जाता है, तो उसे देखकर उसकी आंखें गर्व से क्यों चमक उठती हैं?

क्यों बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति भी तब विमुग्ध हो उठता है, जब देखता है कि कैसे जादूगर के हास्यजनक टोप के भीतर से बत्तखें, खरगोश और मुर्गियां उछल-उछल कर बाहर आने लगती हैं, जबकि वह भलीभांति जानता होता है कि इसमें कोई झांसा-पट्टी नहीं, बल्कि, पूरी तरह, महज हाथ की सफाई भर होती है?

यदि हम एक क्षण ठहर कर सोचें तो पता चलेगा कि यह सब देखना एकदम अनर्गल नहीं है। कारण कि दर्शक जो दृश्य, रंगस्थली में, अपनी आंखों के सामने देखता है – वह बस उसी प्रक्रिया की पुनर्रचना का कोई लाखवां रूपांतर भर है, जिससे वह स्वयं बहुत पहले अपने पूर्वजों के रूप में गुजरा है। अभी यह बिल्कुल हाल की बात है कि हमारे देश के बाहरी भागों की परम्पराओं में प्रचलित रही मजूसी-शामन कला को **सोवियत** सत्ता ने बहिष्कृत कर दिया है। लेकिन आज भी जब हम **जिगित** घुड़सवार और मनुष्य की इच्छा के सामने समर्पण करते बनैले स्तेपी घोड़े के बीच, संघर्ष की तसवीरें देखते हैं तो उसकी भव्यता पर विमुग्ध

हुए बिना नहीं रहते।[18]

हममें से हर कोई, यदि सीधे अपने दिमाग और अपनी स्मृति के आधार पर नहीं तो सुनी हुई तमाम बातों और कभी चोटिल हो चुके घुटनों एवं कुहनियों के आधार पर अपने बचपन के कठिन दिनों को याद करता है जब एक बच्चे के रूप में हममें से हरेक इस धरती पर अपनी जगह बनाने के लिए जो संघर्ष कर रहा था, उसकी कुल अन्तर्वस्तु यह समस्या थी कि एक 'दुधमुंहे' की चार पैरों पर खड़े होने की स्थिति से इस ब्रह्माण्ड के स्वामी की दो पैरों पर खड़े होने की गर्वीली स्थिति में संक्रमण के दौरान संतुलन कैसे कायम किया जाये। एक बच्चे की व्यक्तिगत जीवनी में उसकी समूची प्रजाति का, समूची मानव जाति का सदियों पुराना अतीत प्रतिध्वनित होता है।

'क्या यह एक सुखद स्मृति है?' – और यदि हम स्मृति की अवधारणा को सचेत रूप से अभिज्ञात संवेदनाओं के क्षेत्र से काफी दूर खींचते हुए महज ऐन्द्रिक अनुभव के स्तर अर्जित संवेदनाओं तक विस्तारित कर दें, तब भी क्या इस दृश्य की यही मुग्धकारी भव्यता होगी?

मुझे ऐसा नहीं लगता। यह कम आकर्षक, बल्कि अपने आप में भोंड़ा होगा और दबे हुए मनोभावों की भरपाई या प्रतिक्रिया के विचार का अधिक भोंड़ा रूप होगा। नहीं। हम यहां जिस स्थिति की चर्चा कर रहे हैं, वह शायद मनोवैज्ञानिक *आदत* (या अभ्यस्तता) की ओर एक कृत्रिम वापसी है, जो उसी तरह की *क्रियाशीलता* की अवस्था से मेल खाती हुई है।

यदि क्रियाशीलताओं का यह चक्र दर्शक को उसी क्रियाशीलता के साथ एक निश्चित स्तर की बौद्धिक संरचना के भीतर ले जाता है तो यही उसके किसी एक अंश द्वारा भी एक अधिक सूक्ष्म पद्धति द्वारा, अधिक सूक्ष्मता के साथ, किया जा सकता है। ऐन्द्रिक चिन्तन के एक 'नुस्खे' को कदम-ब-कदम रूप (फॉर्म) की संरचना के अवयवों में विकसित करते हुए, वे (यानी लेखक, कलाकार, फिल्मकार, कम्पोजर – अनु) दर्शक को उस मनोवैज्ञानिक संरचना के स्तर पर ले जाते हैं जो उस सामाजिक संरचना से मेल खाती है जिसके लिए ऐसा चिन्तन टिपिकल और अभिलाक्षणिक होता है, क्योंकि इस चेतना के काम करने की पद्धतियों में यह भी प्रतिबिम्बित होता है।

और यही इस पूरी प्रक्रिया का सबसे गौरतलब हिस्सा है। ऐन्द्रिक चिन्तन के अवयवों का संघटन कोई 'प्राक्-जैविक' या 'ईश्वर-प्रदत्त' या 'धुंधली' अवचेतना के समान नहीं होता; बल्कि यह वही चेतना है, जो केवल विकास की एक भिन्न सामाजिक अवस्था को प्रतिबिम्बित करती है, और इसीलिए संरचनात्मक तौर पर पूरी तरह भिन्न होती है।

और ऐन्द्रिक चेतना की अभिलाक्षणिकता के तौर पर चिन्तन और व्यवहार के प्रतिमानों का पुनरुत्पादन जो इन्द्रिय-संवेदनाएं उत्पन्न करती हैं वे उस सामाजिक संरचना से सम्बन्धित नहीं होतीं जिसमें दर्शक वर्तमान समय में रह रहा होता है, बल्कि वे उस संरचना से सम्बन्धित होती हैं जिसके अन्तर्गत चिन्तन अपना स्वरूप ग्रहण करता है और ऐसे प्रतिमानों और रूपों के अनुसार आविर्भूत होता है।

लेकिन यह (सामाजिक) संरचना क्या थी जिसके अन्तर्गत चेतना – जो अभी भी ऐन्द्रिक ही थी और अभी भावनात्मकता और संज्ञान में कृत्रिम रूप से विभाजित नहीं हुई थी – खासतौर से ऐसे रूपों में प्रकट होती थी?

आदिम समाज। कबीलाई संरचना......

इससे भी हमको बहुत जानकारी नहीं मिल सकती, जब तक कि हम इस संरचना की बुनियादी, प्रमुख, सामाजिक अभिलाक्षणिकता को ध्यान में न रखें। यही वह अभिलाक्षणिकता है जो इसे अन्य सभी युगों और उत्तरवर्ती पीढ़ियों से अतुलनीय बनाती है....।

इस अभिलाक्षकिणता को **मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन** के आधारभूत सिद्धान्त-निरूपण – द *कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* – में बहुत स्पष्टता से उल्लिखित और चित्रित किया गया है।[19]

और इस प्रकार, रूप के नुस्खे को प्रतिध्वनित करते हुए, हममें से हर आदमी अपने आपको एक ऐसी चेतना में अवस्थित पाता है जो अपनी सर्जना और परिभाषा में वर्ग-चरित्र का कोई बन्धन नहीं जानती।

रूप हमें इसका अनुभव करने की सहूलियत प्रदान करता है।

किसी भी समय-विशेष में, किसी भी कलाकृति-विशेष का रूप, उस युगों पुरानी नास्टैल्जिया की अनुभूति की सुविधा प्रदान करता है, जिसका उल्लेख **मॉर्गन** ने किया था :

> सरकार में जनवाद, समाज में बन्धुत्व, अधिकारों और विशेषाधिकारों में समानता, और सार्वभौमिक शिक्षा, समाज के उस उच्चतर स्तर का पूर्वाभ्यास कराती हैं, जिसकी दिशा में अनुभव, प्रतिभा और ज्ञान अनवरत अग्रसर हैं। यह प्राचीन काल के जनसाधारण की स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे का, एक उच्चतर रूप में, पुनरोदय होगा।[20]

रूप हमेशा ही मानव-अनुभव के **स्वर्णयुग** की ओर आकर्षित करता है।

यहां तक कि इस उद्गम से मिलती-जुलती अवस्था – बचपन की अवस्था – तो पहले से ही एक 'अबोधगम्य' आकर्षण पैदा करती रही है।

प्राचीन काल के बारे में **मार्क्स** का निरूपण।[21]

वह और भी गहरा, शुद्धतर, और निकटतर है। लेकिन यहां एक अभिलाक्षणिक अन्तर है।

बचपन की अवस्था प्राचीनता को, वस्तुगत रूप से, सारभूत रूप से, प्रातिनिधिक रूप से, वर्णनात्मक रूप से, और विषयगत रूप से उसके उद्गम की दहलीज पर प्रस्तुत करती है।

इससे भी अधिक गहरे जाने पर – बाह्य प्रतीति विलुप्त हो जाती है, और संरचना शेष रह जाती है। संरचना और पद्धति सम्मोहक प्रभाव उत्पन्न करती हैं। लेकिन इसी कारण वे व्यापक भी बन जाती हैं – युग (जैसे प्राचीनता) के बंधन से बंधी नहीं रह जातीं, बल्कि सार्वभौमिक हो जाती हैं, वैसे ही सार्वभौमिक जैसे, रूपक या उपलक्षक की पद्धति होती है – **होमर** से लेकर **मायकोवस्की** तक, अपरिवर्तनशील तत्वों की एक पद्धति के रूप में, और अभिव्यक्ति के एक ऐसे रूप में, प्रकट होती हैं जो **पुश्किन** और **अज़्टेक** को भी समान रूप से प्रिय होती है, लेकिन तब भी, अपनी अन्तर्वस्तु की दृष्टि से वर्ष से वर्ष तक, युग से युग तक, वर्ग से वर्ग तक और...... व्यक्ति से व्यक्ति तक अतुलनीय ही बनी रहती है, प्रत्येक व्यक्ति समष्टि के भीतर अपनी निजी वैयक्तिकता के जरिये, यानी एक ही साथ वर्ग-बद्ध और एकाकी चेतना के जरिये, अपने-अपने ढंग से, सामाजिक यथार्थ को प्रतिबिम्बित और अपवर्तित करता है।

और यहीं पर हम उस दूसरे महत्वपूर्ण बिन्दु पर आते हैं जो यहां पर प्रतिपादित बुनियादी विचारों से सम्बन्धित है।

रूप (फॉर्म) के साधनों की रंग-पट्टिका असीम है। कलाकार को स्वतंत्रता है कि वह *pars pro toto* (अंश से सम्पूर्ण - अनु.) के बोध का चयन करे, मूर्त धारणा बनाये, व्यक्तिवाचीकरण करे, लयात्मकता प्रदान करे, या जो चाहे सो करे। प्रत्येक कलात्मक क्रियाशीलता और कलात्मक प्रस्तुति में, सभी युगों में, सभी राष्ट्रीयताओं में, हर कलाकार की रचनात्मक कृति में ये साधन एक निश्चित सीमा तक, और एक निश्चित बिन्दु पर, अधिक या कम मात्रा में, एक पुंजीभूत समूह के रूप में उपस्थित रहते आये हैं।

लेकिन कला की किसी कालावधि-विशेष में ऐसा भी होता है कि सारे तत्व मानो एक ही नाभि-केन्द्र की ओर – एक ही निश्चित विशिष्टता की ओर गति करने लगते हैं, और बाकी मानो पृष्ठभूमि में विलीन होती प्रतीत होती हैं और एक निश्चित 'अभिलाक्षणिक' विशेषता उभर कर सामने आ जाती है।

यही अग्रणी विशिष्टता बन जाती है।

लेकिन एक विशेषता आमतौर पर कला के किसी एक विशिष्ट, एकाकी क्षेत्र, तक ही सीमित नहीं होती, बल्कि यह प्रथमतः और सर्वप्रमुखतः एक युग की समस्त मनीषा से सम्बन्धित होती है, और उसकी सभी अभिव्यक्तियों के मूल में समान रूप से मौजूद रहती है। और कला अपनी शैली की विशिष्ट, पहचानमूलक छाप अख्तियार करना शुरू कर देती है – यदि यह तुच्छ है तो एक क्षुद्र 'वाद' (जैसे घनवाद, भविष्यवाद, स्पर्शवाद,

दादावाद, अतियथार्थवाद आदि) के रूप में और इसके विपरीत, यदि अहम है तो बुनियादी 'वादों' – जैसे कि यथार्थवाद के रूप में!

कुछ निश्चित तत्वों के एक सामान्य कोष से अग्रणी पद्धतिमूलक विशिष्टताओं के चयन की *यह* या *वह* प्रवृत्ति, सामाजिक रूप से अनुकूलित चिन्तन के चयन की एक प्रक्रिया होने के नाते, न तो *सार्वभौमिक* रह जाती है, न आकस्मिक, और न ही निष्पक्ष, बल्कि सामाजिक रूप से भलीप्रकार अनुकूलित हो जाती है, कारण कि यह भी वही मानसिकता ही है जो चयन का कार्य करती है।

निश्चय ही यह 'नुस्खा लिखने' के सिद्धान्तों के अनुसार काम नहीं करती, जो ऐन्द्रिक चिन्तन के कोष से यह या वह पैराग्राफ लेकर उसके लिए कोई अग्रणी भूमिका निर्धारित कर दे। ऐसी प्रवृत्तियों के पैगम्बर और नवदीक्षाधारी आमतौर पर इस क्षेत्र में बहुत ही कम दखल रखते हैं, और सच तो यह है कि स्वयं यह क्षेत्र भी कला की पद्धति के साथ न तो कभी इतनी घनिष्टता के साथ जुड़ा रहा है, और न ही आज जुड़ा हुआ है।

फिर भी, ऐसी प्रत्येक प्रवृत्ति का अपना एक बहुत ही प्रभावशाली और जुझारू कार्यक्रम होता है। एक बार जब इस कार्यक्रम के इस या उस साहित्यिक आवरण को उतारकर अलग कर दिया जाता है, तब यह आमतौर पर हमेशा ही ऐन्द्रिक चिन्तन के भीतर से शाखा प्रस्फुटित करता है, जिस पर यह अपनी प्रवृत्ति पैदा करने वाला होता है।

प्रसंगवश यह भी बता दें कि इस कोष से चुनी गयी एक ही विशेषता भिन्न-भिन्न युगों में, भिन्न-भिन्न सामाजिक ढांचों में, भिन्न-भिन्न वैयक्तिकताओं वाले कलाकारों के कुशल हाथों में पड़कर उसी विशिष्टता के भीतर से सर्वोत्कृष्ट अर्थछटाएं पैदा कर देती है।[22]

[**तोल्सतोय** के सामान्य दृश्य-विधान में कुछ भी शहरी नहीं होता, न तो लोग और न ही वे वस्तुएं जिनका वह वर्णन कर रहे होते हैं – तोल्सतोय में प्रत्येक चीज ग्रामीण ही होती है, मुख्यत: किसान और भूस्वामी। यदि कोई ईरानी जामा पहना हुआ सौदागर सड़क पर जा रहा होता है, तो वह उसकी ओर ध्यान नहीं देते, और अगर देते भी हैं, तो उसका वर्णन करने के फेर में नहीं पड़ते। **तोल्सतोय** के परिदृश्य में जो पात्र आते हैं वे तीर्थयात्री ही होते हैं, अर्थात, वही किसान-औरतें, कोचवान, गाड़ीवान, और वे ही मुझिक और घोड़े। लेकिन **गोगोल** में शहरी और आवासीय संरचनाओं की भरमार होती है, और काफी दूर किसी भूस्वामी का घर दिखायी देता है, और **गोगोल** के लिए जो चीज महत्वपूर्ण है वह यह है कि सम्पत्ति-रेखा को मानवीय रेखा से विभाजित करने के लिए एक अल्पविराम चिन्ह (कॉमा) के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता – वे एक ही प्रवाह में वर्णित होते हैं: "चाहे बाज़ार हो या आस-पड़ोस से कोई छैला शहर आया हो – मेरे स्फूर्त और उत्सुक दिमाग को कोई परेशानी नहीं होती"; और टांड़ों पर पुरानी मिठाइयों के रखे हुए मर्तबान, कोई सैनिक अधिकारी, कोई सौदागर और कोई स्थानीय अफसर – सभी एक ही कतार में स्थित होते हैं (लोग चीजों के बराबर हैं और चीजें लोगों के बराबर)। **गोगोल** के परिदृश्य में एक भूस्वामी का घर होता है, उसका बगीचा होता है और उसके परिसर में स्वयं वह भूस्वामी और उसका परिवार होता है। यहां पर **तोल्सतोय** और **गोगोल** के आम अभिप्रायों के बीच जो समरूपता है वह अपने चरम रूप में अभिव्यक्त है, लेकिन तब, इस समूची समरूपता के बावजूद, इन दोनों में कितना अन्तर है....

'बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए, आइये, इन अवतरणों को पढ़ें :

गोगोल

जब मैं किसी भूस्वामी के गांव के निकट पहुंचता, तो बड़ी उत्सुकता से वहां के ऊंचे, तंग, काठ के घण्टाघर को या पुराने काठ के चर्च के काले और विस्तृत ढांचे को निहारने लगता। बहुत दूर से ही, हरी-हरी पत्तियों के बीच से दिखायी देती भूस्वामी के मकान की लाल छत और सफेद चिमनियां मुझे लुभाती हुई आकर्षित करने लगतीं, और मैं अधीर होकर तबतक देखता जाता जबतक कि उसे दोनों तरफ से ढंकने वाले बगीचे अलग-अलग होकर उसे पूरी तरह प्रकट नहीं कर देते – लेकिन हाय! – तभी मुझे पता चलता कि यह तो पूरी तरह से एक अपरिष्कृत देहाती परिवेश है; और इसी से मैं अनुमान लगाने लगता कि भूस्वामी कैसा आदमी होगा, क्या वह हट्टा-कट्टा होगा, क्या उसके बेटे होंगे या पूरी छ: बेटियों की एक सेना होगी जो लड़कियों जैसी आवाज में खिलखिलाकर हंसती होंगी, लड़कियों का खेल खेलती होंगी, और जैसा कि हमेशा देखा जाता है, सबसे छोटी लड़की बहुत खूबसूरत होगी, क्या उन सबकी आंखें काली-कजरारी होंगी, और कि क्या बूढ़ा आदमी खुशदिल होगा या सितम्बर के आखिरी दिनों की व्यस्तता की भांति, खेती-बारी की कार्यसूची बनाने में लगा होगा और राई और गेहूं की चर्चा कर-करके युवक-युवतियों को बोर कर रहा होगा।[23]

तोल्सतोय

सामने, खड्ड के उस पार, बहुत दूर, चमकते नीले आकाश में एक गांव का हरी छत वाला चर्च दिखायी दे रहा है, सामने एक छोटा सा पुरवा है, एक भद्र आदमी के मकान की लाल छत और एक हरा बाग दिखायी दे रहा है। कौन रहता होगा इस घर में? क्या उसमें बच्चे, पिता, माता और शिक्षक भी होंगे? क्यों न हम उस घर पर चलें, और उसके मालिक से परिचय करें?][24]

आइए, हम बुर्जुआ समाज के विघटन-काल से सम्बन्धित 'वादों' – घनवाद, स्पर्शवाद और अतियथार्थवाद-के कार्यक्रम में से कुछ अभिधारणाएं यादृच्छिक ढंग से चुन लें।

जब ये अभिधारणाएं अपने समय में अस्तित्वमान थीं, तब वे स्वयं 'शैलियों' के रूप में, *सम्पूर्ण* की कीमत पर *अंश* की अतिवृद्धि ही थीं, यानी प्रत्येक चीज जो एक सामान्यत: यथार्थवादी कलाकृति में एक एकता में भागीदारी करती है, यहां आकर विशिष्टताओं में विखण्डित हो जाती हैं, और प्रत्येक खण्ड सम्पूर्ण के मुकाबले में खड़ा हो जाता है।

यथार्थवाद में pars pro toto (अंश से सम्पूर्ण का बोध-अनु.)

प्रभाववाद में pars pro toto (अंश से सम्पूर्ण का बोध-अनु.)

(एक *विशिष्ट* विवरण की असम्बद्ध तात्क्षणिकता वाले और सामान्यीकरण न करने वाले प्रभाववाद के रूप में **जोला** का प्रकृतवाद। **हैमान** के अनुसार)[25]

दूसरे 'वादों' में pars pro toto (अंश से सम्पूर्ण का बोध - अनु.)

यदि सभी 'प्रवृत्तियों', या कभी-कभी अहम 'प्रवृत्तियों', जैसे कि प्रभाववाद में यह बात है, तो किसी एक लेखक की 'शैली', 'ढंग', 'रुझान', 'हस्तलेखन' और 'पद्धति' में भी ठीक यही बात होगी।

Ausblick for uns (हमारे लिए एक दृष्टिकोण)

हमारे साथ भी ठीक ऐसा ही है। अस्तित्व में आते हुए। जन्म लेते हुए। निर्मित होते हुए। यह इस समय हमारे हाथ का मामला है। लेकिन यह पहले से ही उल्टी दिशा में काम करना शुरू कर चुका है। यह सम्बन्धों के दायरे में प्रवेश कर रहा

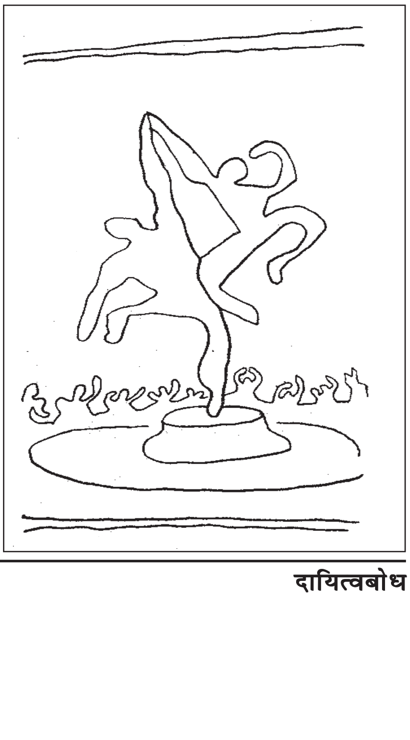

है। चेतना की समस्याएं। नैतिकता। नीतिशास्त्र। क्रियाशीलता। अधिरचनाएं टूट रही हैं। नूतन। अभूतपूर्व। वर्गहीनता का उनमें प्रवेश हो रहा है।

टिप्पणियां और व्याख्याएं

1. **आइजेंस्ताइन** की पाण्डुलिपि में यहां खाली स्थान छूटा हुआ है। यहां वह जो उद्धरण देना चाहते थे, उसका पता नहीं चल सका है।

2. **जॉन स्टिनबेक**, '*द ग्रेप्स ऑफ रॉथ*' (न्यूयार्क: वाइकिंग प्रेस, 1939), पृ. 89.

3. उदाहरण का स्रोत : इओसिफ ई. मान्देल्शताम, o kharaktere gogolevskago stilya (सेंट पीटर्सबर्गः तिप्. गुवुस्तादोल्लादेत, 1902), पृ. 118. इसी उदाहरण को उन्होंने 8 जनवरी 1935 को, **सोवियत सिनेकला के कार्यकर्ताओं के अखिल संघीय सृजनात्मक सम्मेलन** में भी इस्तेमाल किया था। इस व्याख्यान को स्वयं **आइजेंस्ताइन** ने '**फिल्म रूप : नयी समस्याएं (फिल्म फार्म : न्यू प्राब्लम्स)** नाम से निबन्ध का रूप दिया। देखें: जाय लीडा (सम्पादक और अनुवादक), '*फिल्म फार्मः एस्सेज इन फिल्म थिअरी*' (न्यूयार्क : हरकोर्ट, ब्रेस एण्ड कम्पनी, 1949).

4. '*पोल्तावा*' इन ' *अलेक्सान्द्र पुश्किन : कलेक्टेड नैरेटिव ऐण्ड लिरिकल पोएट्री*', अनु. **वाल्टर ऑर्त** (ऐने, आर्बरः आर्दिस, 1984)-पृ. 348.

5. **लेव तोल्सतोय**, '*खोल्सतोमर*' : **एलिजाबेथ हैपगुड** (अनु.), '*द नावेल्स ऐण्ड अदर वर्क्स*', खण्ड 12 : '*द इनवेडर्स ऐण्ड अदर स्टोरीज*' (न्यूयार्क : **चार्ल्स स्क्रिबनर्स' सन्स**, 1913), पृ. 240 -1.

6. प्रकटतः **आइजेंस्ताइन तोल्सतोय** की कहानी की तुलना **सहभागिता** के उस **ईसाई अनुष्ठान** से करना चाहते थे, जिसमें व्यक्ति अपने शरीर (ब्रेड) और खून (शराब) की सहभागिता करते हुए, यीशू की आत्मा को प्रतीकात्मक रूप से 'समाविष्ट करता है'। बाद की एक टिप्पणी में **आइजेंस्ताइन** बताते हैं कि ये दोनों ही चीजें टोटेमवाद के आदिम विश्वास की प्रतीक हैं (देखें, नीचे टिप्पणी संख्या 9)।

7. यहां पर **आइजेंस्ताइन** के दिमाग में *अक्टूबर* और *ओल्ड ऐण्ड न्यू* में किये गये खुद के प्रयास हैं जहां वे सुविचारित फिल्म-संग्रंथन (मोन्ताज) के विन्यासों के जरिये दर्शक में 'ऐन्द्रिक' प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करना चाहते हैं। इसके लिए *फिल्म फॉर्म* पुस्तक में उनके आलेख 'ए डायलेक्टिक एप्रोच टु फिल्म फॉर्म' और 'मेथड्स ऑफ मोन्ताज' दृष्टव्य हैं।

8. **मैक्स नोर्दाऊ**, *डिजेनरेशन* (न्यूयार्क : डी. एपल्टन एण्ड कम्पनी, 1895), पृ. 176.

9. **आइजेंस्ताइन** की पाण्डुलिपि में हाशिये पर निम्नलिखित अधूरी टिप्पणी है : 'सहभागिता का एक वर्णन और ... क्योंकि क्या हम (मूर्त चिन्तन का एक उदाहरण) नहीं जानते....' इसके लिए ऊपर दी गयी सन्दर्भ संख्या 6 देखें।

10. यहां **आइजेंस्ताइन** जो उद्धरण देना चाहते हैं उसका पता नहीं चल पाया है।

11. **आइजेंस्ताइन** की पाण्डुलिपि में निम्नलिखित टिप्पणी दी गयी है : 'स्टिनबेक के (सन्दर्भ में): एक शेरनी अपने बच्चे को लिए *पिंजरे में चारों ओर* घूमती है और यह समझती है कि वह जहां से चली थी उससे काफी दूर चली आयी है जबकि वह उसी बिन्दु का चक्कर लगा रही होती है।' ऐसा लगता है कि **आइजेंस्ताइन** इसकी तुलना 'आदिमता' से करना चाहते थे, जिसके चलते स्टिनबेक का किसान अपने घोड़ों की तुलना वर्षों की मेहनत से करता है।

12. '**फिल्म फॉर्म : न्यू प्रॉब्लम्स**' में **आइजेंस्ताइन** वर्णन करते हैं कि कैसे **शेक्सपियर** एक प्राक्-तार्किक चिन्तन की अभिलाक्षणिक पद्धति के तौर पर, परिवेश को **लिअर** की आन्तरिक मनोदशा के सदृश बना देते हैं। उदाहरण के तौर पर, वह, ***हेंज वर्नर*** की कृति *Enfiihrung in die Entwicklung spychologie*, में वर्णित, एक **पोलीनेसियाई** रिवाज का हवाला देते हैं: 'जब कोई पोलीनेसियाई स्त्री प्रसूतावस्था में होती है, तब एक अनुलंघनीय नियम यह होता है कि आवास के सारे दरवाजे निश्चित तौर पर खुले रखे जायें ... ताकि प्रसव के अनुकूल उपयुक्ततम परिवेश सुनिश्चित किया जा सके, (**फिल्म फॉर्म**, पृ0 135)। दूसरा उदाहरण **फ्रेजर** से लिया गया है 'जब **डाइएक** गांव के लोग जंगली सूअरों का शिकार करने जंगल में जाते हैं तो जब तक वे वापस नहीं आते, तब तक जो गांव में रहने वाले होते हैं, वे अपने हाथ से तेल या पानी का स्पर्श नहीं करते , यादि ऐसा कर दें तो सभी शिकारियों की "अंगुलियो में मक्खन" पुत जाता है और शिकार उनके हाथों से फिसल जाता है' (**जेम्स ज्यार्ज फ्रेजर**, द *गोल्डेन बाऊ: ए स्टडी इन मैजिक ऐण्ड रिलीजन*, एकखण्ड में, संक्षिप्त संस्करण (**न्यूयार्कः द मैकमिलन कम्पनी**, 1944), पृ0 243.

13- '**फिल्म फॉर्मः न्यू प्राब्लम्स**' में **आइजेंस्ताइन** *पोतेम्किन* के उस शॉट का विश्लेषण करते हैं जिसमें डॉक्टर की जगह उसके चश्में का एक क्लोज-अप दिखा दिया जाता है: 'वस्तुतः यह पद्धति प्रारम्भिक चिन्तन-प्रक्रियाओं के भण्डार से लिये गये चिन्तन-रूप का एक सबसे टिपिकल उदाहरण है.....। अविभेदीकृत चिन्तन की उस अवस्था में अंश एक ही समय में अंश और समष्टि *दोनों ही* होता था। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, यदि आपको भालू के दांत से बना कोई आभूषण उपहार में दिया जाता है, तो इसका मतलब यह है कि एक पूरा भालू ही आपको दे दिया गया है, अथवा, यह कि, आपको एक भालू की पूरी ताकत प्रदान कर दी गयी है' (फिल्म फॉर्म, पृ0 132).

14- पहले दिये गये दो उदाहरण भी **आइजेंस्ताइन** ने '**फिल्म फॉर्मः न्यू प्रॉब्लम्स**' में, कलात्मक व्यवहार में निहित आधारभूत आदिम चिन्तन-प्रक्रियाओं के सबूत के तौर पर, उद्धृत किये हैं। यहां वह एक ऐसे कलाकर्म का विश्लेषण करते हैं जिसमें 'रूप-सृजन की उपादान-सामग्री स्वयं कलाकार ही है...। इस उदाहरण में स्वयं परिवेश ही सृजन के कर्म और कर्ता के साथ संयुक्त होकर एक समष्टि बन जाता है, और एक ऐसी मनोदशा और अभिव्यक्ति की अनुकृति प्रस्तुत करता है, जो चिन्तन के प्रारंभिक रूपों से पूरी तरह मेल खाती है।' आगे चलकर, वह **बरो इण्डियन** कबीला (जिनका यह 'मानना है कि वे ब्राजील में मनुष्य होने के साथ-साथ लाल टुंइया तोता (**पैराकीट**) की एक खास नस्ल भी हैं) और 'अपने कलाकर्म या भूमिका की प्रस्तुति के दौरान एक कलाकर्मी की' मनोवैज्ञानिक 'आत्मानुभूति' की परस्पर तुलना करते हैं। वह इस तुलना को स्पष्ट करने के लिए अभिनेत्री **सेराफिमा जी. बरमैन** (1890-1976) का एक अवतरण उदधृत करते हैं: 'एक अभिनेता के लिए एक उसी तरह की वर्षगांठ वह दिन, और उस दिन का प्रत्येक क्षण होता है जिस दिन वह छवि के बारे में "वह" कहना त्यागकर "मैं" कहता है। यहां निश्चय ही यह नया "मै" अभिनेता या अभिनेत्री का व्यक्तिगत "मै" नहीं बल्कि उसकी छवि (इमेज) का "मै" होता है। (*फिल्म फॉर्म*, पृ0 135-7)। यहां **आइजेंस्ताइन** अभिनेता **व्लादिमीर एन. दावीदोव** (1849-1925) के अभिनय-जीवन का कौन सा उदाहरण देना चाहते हैं, उसका पता नहीं लग सका है।

15- **आइजेंस्ताइन** पुनः इस सवाल को जनवरी 1948 में अपने आलेख '*टुवर्ड्स द क्वेश्चन ऑफ मिजे-एन सीन*, (Mise-en-scene) में उठाते हैं (यह आलेख पहली बार समग्र रूप से **आइजेंस्ताइन** की कृति, *Le mouvement de l'art* में हाल ही में, प्रकाशित हुई है (पेरिस : Editions du Cerf, 1986) 'फ्रायड ने अपने समय में एकदम तहलका ही मचा दिया, जब उन्होंने (यह साबित करते और निष्कर्ष देते हुए) घोषित किया कि वक्तृता की चूक और *फेह्लैण्डलुंग* (आकस्मिक क्रिया) वास्तव में वक्तृता की चूक या *फेह्लैण्डलुंग* (आकस्मिक क्रिया) नहीं, बल्कि उन सच्चे इरादों की अभिव्यक्ति हैं जो उसी *डेकहैण्डलुंग* (अवगुण्ठनकारी क्रिया) से बाहर फूट निकलते हैं, जिसके द्वारा ऐसे इरादे, बाहरी दशाओं, आवश्यकताओं, और परिस्थितियों के कारण, ढंके, छिपे , या "दबे" होते हैं। इसी सन्दर्भ में **कोंस्तांतिन सेर्गेयेविच** (**स्तानिस्लाव्स्की**) ने इसे वक्तृता की सही अन्तर्वस्तु की धारा के एक "उपपाठ" की संज्ञा दी और कहा कि अनपेक्षित प्रकटीकरण के रूप में वस्तु की यह सही धारा अति-परम्परागत संवाद क्रिया के साथ-साथ ही चलती रही है...। लेकिन इस परिघटना का सम्बन्ध केवल मानसिक अन्तर्वस्तु यानी कलाकार की कलाकारी की अन्तर्वस्तु के दायरे से ही नहीं, बल्कि कला-कर्म की समस्त दृश्य-श्रव्य अभिव्यक्ति (मूर्तमानता) और साथ ही कला-प्रस्तुति के परिवेश के समस्त अवयवों के साथ भी होना चाहिए' (**आइजेंस्ताइन**, Izbrannye proizvedeniya v shesti tomakh (**मास्को : इस्कुस्तवों**, 1966), 4 : 717).

अपनी अधूरी और अभी तक अप्रकाशित पुस्तक, *मेथॅड* (1940.8), में **आइजेंस्ताइन क्रेशमर** की रचना, Medizinische Psychologie, के 'Der bewegungsstrum' (स्नायुविक तूफान) वाले अध्याय से इसी उदाहरण की विवेचना करते हैं : 'एक कुलागत स्नायुविक तूफान का सबसे सटीक उदाहरण हिस्टीरिया का दौरा है, जो लयात्मक लक्षण (कंपकंपी और ऐंठन) पैदा करने के अतिरिक्त, अत्यन्त उग्र हरकतों का एक ऐसा तूफान भी पैदा करता है जिसमें निश्चेष्ट और अनैच्छिक क्रियाओं की सशक्त सहभागिता के साथ आत्मरक्षा और हर्षविह्वलता दोनों के भाव होते हैं....। (हिस्टीरिया ग्रस्त महिला) अपनी दशा के बारे में और उससे होने वाली अपनी परेशानी से उबरने के बारे में न तो सोचती है, और न ही किसी स्पष्ट निर्णय पर पहुंचती है। वह एक ऐसी अविभेदीकृत, उत्पीड़नकारी, पर एक बहुत ही प्रबल भावदशा में उलझ जाती है कि उसे ही

वह अपनी सामान्य भावना समझती है, और इसी भावना के तहत वह प्रत्येक चीज को असहनीय मान कर, हर हालत में, उससे छुटकारा पा लेना चाहती है। भावनात्मक तनाव की यह मनोदशा, बिना किसी पूर्व प्रेरित ज्ञान के, उत्तेजनापूर्ण स्नायविक विसर्जन के रूप में ठीक वैसे ही शांत हो जाती है, जैसे पिंजरे में कैद कोई नन्हा कीट, चुहिया या चिड़िया शांत हो जाती है। एक पिंजरे में कैद मुर्गी तबतक कुड़कुड़ाती, फड़फड़ाती और संघर्ष करती है, जबतक कि वह अन्तत: उस पिंजरे में कोई ऐसा सूराख नहीं पा जाती जिससे होकर वह निकल भाग सके' (**अर्न्स्ट क्रेश्मर**, *ए टेक्स्ट-बुक ऑफ मेडिकल साइकॉलॉजी*, अनुवाद – **ई. बी. स्ट्रॉस** (लन्दन: ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1934), पृ. 117).

16. *मेथॅड* कृति के '**द रिद्मिक ड्रम**' वाले एक खण्ड में, **आइजेंस्ताइन** ऐन्द्रिक चिन्तन की परिधि में प्रवेश कर जाने के लिए ''अभिशप्त'' मनुष्य द्वारा प्राथमिक तौर पर अख्तियार की गयी मनोवृत्ति' की पद्धतियों का विश्लेषण करते हैं....। इस मनोवृत्ति का पहला उपक्रम वही है जिसे ''रिद्मिक ड्रम'' कहा गया है...। इसकी चर्चा हम सबसे सरल और सबसे सटीक उन आनुष्ठानिक ड्रमों से कर सकते हैं, जो (**क्यूबा** में) जादू-टोना वाले सम्प्रदाय में बजाये जाते हैं। उसका नपा-तुला वादन, मनोवेग को निरन्तर बढ़ाते-बढ़ाते श्रोताओं को एक उन्माद की स्थिति में पहुंचा देता है। और वे पूरी तरह से उन्हीं बिम्बों के वशीभूत हो जाते हैं जो उनकी उत्तेजित मन:कल्पना में अथवा उनके अभिचार के द्वारा अभिचारित मनोदशा में कौंधते रहते हैं....।

जोला ने कैथोलिन धार्मिक अनुष्ठान में इस्तेमाल किये जाने वाले ऐसे ही रिद्मिक ड्रम का वर्णन अपनी कृति, Lourdes में किया है....। ऐसी परम्परानिष्ठ आनन्दमग्नता का जिक्र **गोर्की** ने भी किया है....। संक्षेप में कहें तो, एक स्वाभाविक सवाल यहां उठता है कि क्यों एक 'रिद्मिक ड्रम', हमें, इस तरह से, बोध की प्रतिगामी अवस्थाओं में पहुंचा देता है? इसका उत्तर तो अपने-आप ही मिल जाता है यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि *चेतना* और इच्छा *से अलग* घटने वाली प्रत्येक घटना *लयात्मक रूप से ही* घटती है : जैसे हृदय की धड़कन, श्वांसक्रिया, आंतों की लहरदार संकुचनकारी गति, कोशिकाओं का परस्पर विलय और पृथक्करण, आदि। नींद के दौरान जब हमारी चेतना लुप्त हो जाती है, तब हम श्वांस-क्रिया, स्वप्न-विचरण आदि के अखण्ड लय में निमग्न हो जाते हैं। और ठीक इसके विपरीत जब कोई लय बार-बार दुहरायी जाती है, तो उसकी एकरसता हमें ''चेतना से परे'' उन मनोदशाओं के करीब पहुंचा देती है, जहां ऐन्द्रिक बोध के विशेषक ही पूरी तरह कार्यशील रह पाने में समर्थ होते हैं।

17. पाण्डुलिपि में खाली स्थान। जहां 'बोध के ''आरम्भिक रूपों से'' जुड़ी परिघटनाएं भी अपना स्थान रखती हैं – ऐसे सभी भूली-बिसरी यादों के क्षेत्र से एक कलाकर्म की सैद्धान्तिक भिन्नता को **आइजेंस्ताइन** ने ऐन्द्रिक बोध के तत्वों और एक स्पष्टत: सचेत चिन्तन-प्रयास एवं बुलन्द मानसिक उड़ान की एक अविभाज्य एकता के रूप में निरूपित किया। उन्होंने कलाकर्मों की द्वंद्वात्मकता को निम्नप्रकार से परिभाषित भी किया: एक कलाकर्म की प्रभावोत्पादकता इस तथ्य के आधार पर उत्पन्न होती है कि इसके अन्तर्गत एक दुहरी प्रक्रिया चलती है : चेतना के उच्चतम स्पष्ट सोपानों की ओर एक तीव्रगामी उत्कर्ष और इसीके साथ-साथ गहनतम ऐन्द्रिक बोध की परतों में रूप की संरचना का अन्त:प्रवेश। प्रवाह की इन दो धाराओं का ध्रुवीय पृथक्करण रूप और अन्तर्वस्तु की एकता का जो विलक्षण तनाव सृजित करता है, वही सच्चे कलाकर्मों की अभिलाक्षकिण विशिष्टता है' (*फिल्म फॉर्म*, पृ. 144-5)।

18. **जिगित** घुड़सवार काकेशस पर्वत के पार एशियाई गणराज्यों में पाये जाते हैं। ये अपनी साहसिक और कलाबाजी भरी घुड़सवारी के कौशल के लिए मशहूर हैं। वे लम्बे समय से रूसी और सोवियत सर्कसों में अपने करतब दिखाते रहे हैं।

19. पाण्डुलिपि में खाली स्थान। यहां **आइजेंस्ताइन** अपने मन में ठीक-ठीक कौन-सा उद्धरण रखे हुए हैं – इसका पता नहीं चल पाया है।

20. **लेविस हेनरी मार्गन**, *एशिएंट सोसायटी* (और *रिसर्चेज़ इन द लाइन्स आफ ह्यूमन प्रोग्रेस फ्राम सैवेजरी थ्रू बार्बेरिज़्म टु सिविलिजेशन* (न्यूयार्क : हेनरी होल्ट ऐण्ड कम्पनी, 1878), पृ. 552.

21. यहां **आइजेंस्ताइन** के दिमाग में **कार्ल मार्क्स** की कृति, '*इन्ट्रोडक्शन टु ए क्रिटीक ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी*' का निम्नलिखित अवतरण है : 'एक वयस्क आदमी फिर से बच्चा नहीं हो सकता। अलबत्ता ऐसा करते हुए वह बचकाना जरूर हो जायेगा। लेकिन तब भी क्या एक बच्चे का भोलापन उसे खुश नहीं करता, और क्या वह स्वयं उसके भोलेपन को एक उच्चतर स्तर पर पुनर्सृजित करने का प्रयास नहीं करता? क्या प्रत्येक युग में बच्चा उस समय के चरित्र का प्राकृतिक यथातथ्यता के साथ प्रतिनिधित्व नहीं करता? तब आखिर क्यों न मानवता की ऐतिहासिक शैशवावस्था, जिसमें मानवता ने अपना सबसे सुन्दर रूप ग्रहण किया था, एक शाश्वत आकर्षण पैदा करे, जबकि यह एक ऐसी अवस्था थी जो फिर कभी नहीं आने वाली है? अशिष्ट बच्चे भी होते हैं और अकालप्रौढ़ भी। बहुतेरे प्राचीन जन इसी कोटि में आते हैं। यूनानी सामान्य बच्चे थे। उनकी कला हमारे लिए जो आकर्षण पैदा करती है वह उस अपरिपक्व अवस्था से कतई बेमेल नहीं है जिसमें यह कला पैदा हुई। इसके विपरीत, इसका आकर्षण इसी के नाते ही है और अविभाज्य रूप से इस तथ्य से जुड़ा हुआ है कि वे अपरिपक्व सामाजिक दशाएं, जिन्होंने इस कला को जन्म दिया और जिसे ये ही दशाएं जन्म दे सकती थीं, 'अब कभी लौटकर नहीं आने वाली हैं' (**कार्ल मार्क्स** और **फ्रेडरिक एंगेल्स**, *द जर्मन आइडियालॅजी*, सम्पा. **सी.जे. आर्थर** (न्यूयार्क : इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, 1981), पृ. 150-1)।

22. **आइजेंस्ताइन** ने अपनी पाण्डुलिपि में यहां एक संकेत : '**गोगोल-तोलस्तोय** (मायश्कोव्स्काया में)' भर लिखकर खाली स्थान छोड़ दिया है'। प्रकटत: वह उस हिस्से को उद्धृत करना चाहते थे जिसे **लिया एम. मायश्कोव्स्काया** की पुस्तक, *L.Tolstoy : rabota i stil* में दिया गया है (मास्को: **सोवियत्स्काई पिसातेल**, 1938), पृ. 91-21.

23. **निकोलाई गोगोल**, *डेड सोल्स*, अनु.- **ज्यार्ज रीवे** (लन्दन : आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1957), पृ. 129-30.

24. **लेव तोल्सतोय**, '*चाइल्डहुड, बॉयहुड, यूथ*', *द नावेल्स ऐण्ड अदर वर्क्स*, का खण्ड 10, (अनु. – **एलिजाबेथ हैपवुड** (न्यूयार्क : **चार्ल्स स्क्रिब्नर्स सन्स**, 1913), पृ. 119.

25. देखें **रिचर्ड हैमान**, *Der Impressionismus in Leben und kunst* (कोलोन : ड्यूमांट -शाउबर्ग, 1907).

–अनुवाद : **विश्वनाथ मिश्र**

माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य

❑

रेमण्ड लोट्टा

*माओइस्ट इकॉनमिक्स एण्ड द रिवोल्यूशनरी रोड टु कम्युनिज्म: दि शंघाई टेक्स्टबुक ऑन सोशलिस्ट पोलिटिकल इकॉनमी** हर उस व्यक्ति को भी एक दिलचस्प कृति लग सकती है जो देख रहा है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था क्रूर और अन्यायपूर्ण है, और जो कुछ मौलिक और आमूलचूल रूप से भिन्न एक सामाजिक व्यवस्था की सम्भावना का सपना देखता आ रहा है। इसी दिशा में यह पुस्तक एक मुक्तिदायी समाजवाद की चर्चा करती है। यह एक मुक्तिदायी अर्थशास्त्र की बात करती है। यह माओवाद के बारे में बताती है।

क्या समाज को एक ऐसे आधार पर संगठित किया जा सकता है जो शोषण, प्रतियोगिता और व्यक्तिगत लाभ के आधार से भिन्न हो? क्या अलगाव (एलियेशन), सामाजिक विघटन और नौकरशाहाना प्रभुत्व आर्थिक और तकनोलॉजिकीय विकास के अपरिहार्य परिणाम हैं? लेकिन क्रान्तिकारी चीन में 1949 और 1976 के बीच जो बातें खोजी और पायी गयीं, वे सारी की सारी बातें तो मानवता की क्षमता के बारे में अब तक चली आ रही ऐसी मान्यताओं को ही पूरी तरह चुनौती देती हैं। यह पुस्तक 1975 में लिखी गयी थी। यह सारी दुनिया में ज्ञात अब तक के समाजवादी अर्थशास्त्र का सबसे उन्नत अनुभव प्रस्तुत करती है।

चीन की समाजवादी क्रान्ति, 1949 में, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में, मजदूरों और किसानों द्वारा सत्ता पर देशव्यापी स्तर पर कब्जा करने के साथ शुरू हुई। यह क्रान्ति कई महत्वपूर्ण चरणों से होकर आगे बढ़ी, जिसके दौरान स्वामित्व की व्यवस्था में परिवर्तन किये गये, नये समाजवादी आर्थिक और सस्थागत रूप अस्तित्व में आये, और इसके अनन्तर भारी राजनीतिक जन-उभार और उथल-पुथल के दौर चले। लेकिन चीन की समाजवादी क्रान्ति को अंततः पराजय का सामना करना पड़ा, और 1976 में जब एक सैनिक तख्तापलट के जरिये मजदूर वर्ग की सत्ता को उखाड़ दिया गया तब इसका अवसान भी हो गया। वैसे 27 वर्ष, एक ऐतिहासिक कालखण्ड की दृष्टि से, एक राडार के परदे पर प्रकट होने वाले एक मामूली बिन्दु (Blip) के ही समान हैं। फिर भी 1949 और 1976 के बीच हासिल हुई जिन उपलब्धियों की हम यहां चर्चा करने जा रहे हैं, वे निश्चय ही युगान्तरकारी रही हैं। इस अवधि में मानवजाति की एक-चौथाई आबादी ने भविष्य का मार्ग निर्मित करने के लिए शौर्यपूर्ण संघर्ष किया, तथा राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन की एक ऐसी महायात्रा पर प्रयाण किया जो अपने आप में अप्रतिम थी। यह पुस्तक उसी शौर्यपूर्ण स्थायी विरासत का हिस्सा है। लेकिन आज यही पुस्तक चीन में प्रतिबन्धित है।

एक मुक्तिदायी अर्थशास्त्र? इसे बुर्जुआ अर्थशास्त्र में खोजना व्यर्थ ही है, तथा उसमें भारी सामाजिक समस्याओं जैसे गरीबी, असमानता, या पर्यावरणीय ह्रास के समाधान खोजना तो और भी व्यर्थ है। उसका दायरा तो कहीं और भी अधिक संकीर्ण और खुद को उचित बताने वाला है। उसमें इस तरह के विचार-विमर्श तो मिल सकते हैं कि मूल्य निर्धारण की विधि से संसाधनों का कैसे दक्षतापूर्ण वितरण किया जा सकता है, परन्तु यह दक्षता किस उद्देश्य के लिए और किनके हित में? यह सवाल कभी नहीं उठाया जाता। उसमें तो बस इतना ही किया जाता है कि एक बाजार-अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत निर्णय लेने और "पूर्ण प्रतियोगिता" के आदर्शीकृत मॉडल प्रस्तुत कर दिये जाते हैं, जो आर्थिक और राजनीतिक सत्ता की असली (असमान) संरचना को दरकिनार कर देते हैं, तथा (पूंजीपति बनाम मजदूर, पूंजीपति बनाम पूंजीपति, साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्वी बनाम साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्वी के) टकरावों की दुनिया पर परदा डाल देते हैं; "सामान्य संतुलन" का मिथक खड़ा करते हैं, जबकि सच्चाई यह है कि पूंजीवाद एक संकटग्रस्त होती रहने वाली प्रणाली है जो संसाधनों और श्रम को पूरा-पूरा इस्तेमाल करने की सुनिश्चितता दे ही नहीं सकती, और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार जैसे मुद्दों पर उनके बंजर गणितीय निरूपण तो विश्वव्यापी भुखमरी को किसी भी भांति अपने समीकरणों में फिट नहीं कर सकते।

और जब बुर्जुआ अर्थशास्त्री देखते हैं कि उनके अमूर्त सिद्धान्त द्वारा चित्रित दुनिया और जीवन को कुचल डाल रही वास्तविकता में भारी अन्तर है, तब वे यह सफाई देने लगते हैं कि नस्लभेद या औद्योगिक प्रदूषण जैसी समस्याएं बाजार-अर्थव्यवस्था में संचालन-सम्बन्धी "अपूर्णताओं" या "नकारात्मक बाह्य प्रभावों" के कारण हैं – मतलब, ये दुर्भाग्यपूर्ण तो हैं, पर ये अपने आप को स्वतः ठीक करती रहने वाली व्यवस्था के कार्य-संचालन की महज परिधिगत विच्युतियां भर ही हैं। और यह कि इसपर चिन्ता करने की कोई जरूरत भी नहीं है, क्योंकि बाजार तो अन्ततः अपना जादू कर ही

* यह पुस्तक सर्वप्रथम चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान 1974 में 'राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त' नाम से दो खण्डों में प्रकाशित हुई थी। पुनः दिसम्बर 1975 में इसका परिष्कृत संस्करण प्रकाशित हुआ। चीनी संस्करण के पहले खण्ड में पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के राजनीतिक अर्थशास्त्र की विवेचना की गई थी। दूसरे खण्ड में समाजवादी संक्रमण काल की सामाजिक-आर्थिक संरचना पर विस्तृत चर्चा की गई थी। समाजवाद के राजनीतिक अर्थशास्त्र पर मार्क्स से लेकर माओ तक की प्रस्थापनाओं और सोवियत तथा चीनी प्रयोगों के समस्त अनुभवों के निचोड़ के आधार पर पहली बार इस एक कृति में समाजवाद के अर्थतंत्र की (और राजनीति की भी) इतनी विस्तृत चर्चा की गई। देङ सियाओ पिङ के चीन में यह पुस्तक प्रतिबंधित है और दुनिया भर के संशोधनवादी और अकादमिक अखाड़ेबाज मार्क्सवादी इसकी चर्चा से भरसक बचते हैं।

पहली बार इस पुस्तक के 1974 संस्करण के दोनों खण्डों का अंग्रेजी अनुवाद (एक जिल्द में जार्ज सी. वाङ ने तैयार किया जो M.E. SHARPE. INC., NEWYORK ने 1977 में प्रकाशित किया। 1994 में BANNER PRESS, NEWYORK ने इसके 1975 संस्करण के दूसरे खण्ड का अनुवाद रेमण्ड लोट्टा के सम्पादन में एक लम्बी भूमिका और पश्चलेख के साथ उपरोक्त शीर्षक से प्रकाशित किया। इस पुस्तक की ऐतिहासिक महत्ता को स्पष्ट करने के लिए किंचित असहमतियों के बावजूद उसे हम यहां प्रकाशित कर रहे हैं। पाठक जानते ही हैं कि इस पुस्तक में हिन्दी अनुवाद का धारावाहिक प्रकाशन 'दायित्वबोध' में जारी है। कुछ माह के भीतर ही भारत में पहली बार इस पुस्तक के दोनों खण्ड राहुल फाउण्डेशन द्वारा प्रकाशित किये जायेंगे। – सं.

माओइस्ट इकनॉमिक्स एण्ड दि रिवोल्यूशनरी रोड टु कम्युनिज़्म : *द शंघाई टेक्स्टबुक*
सम्पादन, भूमिका और पश्चलेख
: रेमण्ड लोट्टा
बैनर प्रेस, पो.आ. बॉक्स 21195, न्यूयार्क एन.वाई. 10129, यू.एस.ए.
प्रथम संस्करण : 1994, मूल्य : $ 15.

देगा। पूंजीवाद की यही केन्द्रीय धारणा है, जिसकी शुरुआत एडम स्मिथ के "अदृश्य हाथ" वाले इस प्रसिद्ध रूपक से हुई कि व्यक्ति अलग-अलग अपने ही स्वार्थों को सिद्ध करने में संलग्न रहते हुए, और स्वायत्त अभिकर्ताओं की भांति कार्य करते हुए उस चीज में अपना योगदान करते रहते हैं जो युक्तिसंगत ढंग से प्रत्येक व्यक्ति के लिए सर्वोत्तम है।

अर्थशास्त्र समाज के सम्पन्नों और विपन्नों में विभाजन को खत्म कर सकता है और स्वतंत्र रूप से साहचर्यबद्ध होने वाले मनुष्यों के सर्वतोमुखी विकास की दशाएं उपलब्ध करा सकता है, इस बात को इसके (यानी बुर्जुआ अर्थशास्त्र के) बुर्जआ व्यवहारकर्ता बेतुका कहकर खारिज ही कर देंगे और. ....पूंजीवादी आर्थिक नियमों की दृष्टि से उनका ऐसा करना ठीक ही होगा। कारण कि बुर्जुआ अर्थशास्त्र, समाज की भांति ही, केवल उन्हीं चीजों के प्रति दिलचस्पी रखता है जो खरीदी-बेची जा सकती हैं। उसकी दिलचस्पी सिर्फ नफा और नुकसान में होती है। पूंजीवाद निश्चित तौर पर, एक ऐसी प्रणाली है कि इसमें मानवीय आवश्यकताओं को सिर्फ मुनाफे के लक्ष्य के उपोत्पाद (बाइप्रोडक्ट) के तौर पर ही लिया जाता है और पूरा किया जाता है। यही शोषण एवं उत्पीड़न पर आधारित, लाभ को अधिकतम सीमा तक बढ़ाते जाने की प्रक्रिया का अन्तर्निहित तर्क है। यह भौगोलिक विस्तार से लेकर, श्रम प्रक्रिया तक और यहां तक कि स्त्री-पुरुष सम्बन्धों तक – प्रत्येक चीज का स्वरूप निर्धारित करती है और उसे अपने अधीन कर लेती है।

लेकिन *माओइस्ट इकॉनॅमिक्स ऐण्ड द रिवोल्यूशनरी रोड टु कम्युनिज्म* (अब से आगे, शंघाई टेक्स्ट बुक) में जिस दृष्टि का, जिस आर्थिक सिद्धान्त का, और एक नया समाज बनाने के जिस अनुभव का समाहार किया गया है, वह एक सर्वथा भिन्न दिशा में इंगित करता है। समाजवादी क्रान्ति एक नये प्रकार की अर्थव्यवस्था को जन्म देती है। इसमें उत्पादन के साधन अब समाज के एक छोटे से हिस्से की निजी सम्पत्ति नहीं रह जाते, बल्कि समाज के सामूहिक नियंत्रण में ला दिये जाते हैं। आर्थिक संसाधन अब अधिकाधिक मुनाफा कमाने के लिए नहीं, बल्कि व्यापक जनता की बुनियादी आवश्यकताओं और हितों को पूरा करने के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं। अब सामाजिक उत्पादन बिना पहले योजना बनाये या बिना सामाजिक उद्देश्य के नहीं, बल्कि सचेत रूप से किये गये लक्ष्यों के अनुसार निर्धारित किया जाता है, तथा उसे समग्ररूप से संयोजित, समन्वित किया जाना है। पूंजीवाद के कार्य-विधान और प्रयोजन का स्थान नयी चीज ले लेती है: जैसे, सामाजिक नियोजन, सामाजिक सहकार, तथा आर्थिक और सामाजिक विकास के सभी क्षेत्रों में जनता की सचेत भागीदारी। सामाजिक उत्पादन की शक्तियां विविध और सर्वतोमुखी मानवीय सक्रियता की जिस निगूढ़ क्षमता को पहुंच की सीमा में ला चुकी होती हैं उसे अब व्यवहार में चरितार्थ करना शुरू किया जा सकता है।

कहने का मतलब यह है कि पूंजीवाद के अन्तर्गत जो बदहाली, अमानवीयकरण और असमानता रोजमर्रा की जिन्दगी में चल रही होती है, उनके अब चलते रहने की कोई वजह नहीं रह जाती। अब अमीर और गरीब के बीच की भारी खाई, बेरोजगारी की पीड़ा, महिलाओं का उत्पीड़न और अपमान, सभी राष्ट्रों और राष्ट्रीयताओं का अधीनीकरण और उनके बीच भेदभाव, स्वास्थ्य-सम्बन्धी समस्याओं, आवास-सम्बन्धी समस्याओं और शहरी पतनशीलता......सारी की सारी समस्याओं एवं वर्ग समाज के अन्य सारे दूषणों से निपटा और उन्हें दूर किया जा सकता है। अब जीने के लिए और नोच-खसोट कर आगे बढ़ने के लिए सबका सबके विरुद्ध चलने वाला निराशोन्मत्त गलाकाटू संघर्ष आवश्यक नहीं रह जाता। अब समाज के सबसे निचले संस्तर के "नाचीज लोगों" की सृजनशीलता, ऊर्जा और उत्कट आवेग को एक विशाल और परिवर्तनकारी पैमाने पर निर्बन्ध किया जा सकता है। अब समस्याओं को सामूहिक ढंग से निपटाया जा सकता है, अब लाखों-लाख लोग समाज की आवश्यकताओं और दिशा पर बहस कर सकते हैं। और संघर्ष एवं बहस-मुबाहसे की इस प्रक्रिया के जरिये, लोग ऐसे-ऐसे तरीकों से परिवर्तन ला सकते हैं कि वर्तमान व्यवस्था में उनकी कल्पना तक नहीं की जा सकती। समाजवाद यह सब कुछ सम्भव बना देता है।

हम एक ऐसी दुनिया में जी रहे हैं जिसमें बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी की जीवन-क्रियाएं एक ऐसे अल्पसंख्यक वर्ग की नियंत्रणकारी सत्ता के अधीन हैं, जिसके हित उस मेहनतकश आबादी के हितों के विपरीत हैं। हम ऐसी दुनिया में जी रहे हैं जिनमें लोगों के जीवन पर अंधी आर्थिक शक्तियां राज कर रही हैं : शेयरों या बिकाऊ मालों के दामों की स्वत:स्फूर्त गति रातोंरात सारी दुनिया के लाखों लाख लोगों की जिन्दगियों में उलट-फेर कर सकती है। लेकिन जब एक सामाजिक रूप से संगठित और सामाजिक रूप से निर्देशित उत्पादन की प्रणाली सृजित कर दी जाती है, तब मानवता एक ऐतिहासिक दहलीज लांघ जाती है। तब समाज की संरचना और कार्यवाही किसी रहस्य के आवरण में नहीं होती, बल्कि उसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों के समुदाय द्वारा जानी जा सकती है। तब व्यापक जनता समूची आर्थिक प्रणाली और समूचे समाज के लिए कोई बाहरी तत्व या विजातीय नहीं रह जाती और न ही उसके अधीनीकरण का शिकार होती है, बल्कि अधिकाधिक सचेत होती हुई स्वयं उस पर अपना नियंत्रण कायम करती जाती है, और इस नियंत्रण में प्रवीणता हासिल करती हुई, उसे अपने हित में परिवर्तित करती जाती है। बुनियादी तौर पर, यह पुस्तक इसी चीज के बारे में है।

माओवाद इस बात पर जोर देता है कि आर्थिक विकास अपने आप में ही पर्याप्त नहीं है, और न यही समाजवाद का सार है। विकास को निश्चय ही वृहत्तर राजनीतिक-सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समर्पित होना चाहिए और उन्हीं से निर्देशित भी होना चाहिए – अर्थात बुनियादी तौर पर विकास की दिशा यह होनी चाहिए कि सर्वहारा और मेहनतकश आबादी पूरे समाज का स्वामी बनने की दिशा में, और अन्ततोगत्वा समूचे विश्व से वर्गों का खात्मा कर सकने की दिशा में आगे बढ़े। आर्थिक परिवर्तन और सामाजिक सम्पदा के सृजन के साथ-साथ समाज के प्रत्येक क्षेत्र में भी परिवर्तन आवश्यक है, जिसमें यह अति महत्वपूर्ण परिवर्तन भी शामिल है कि लोगों के दृष्टिकोण और सोचने के ढंग में भी परिवर्तन आये। माओवाद जोर देकर कहता है कि "चीजें" नहीं, बल्कि लोग निर्णायक होते हैं। पूंजी का भण्डार या तकनोलॉजी का स्तर अपने आप में महत्वपूर्ण नहीं होता, बल्कि यह तो मेहनतकश आबादी की सक्रिय गतिविधियां हैं जो आर्थिक और सामाजिक विकास के महत्वपूर्ण कारक बनती हैं। मेहनतकश आबादी के लिए इसी के मद्देनजर तकनोलॉजी में प्रवीणता हासिल करना आवश्यक है, न कि किसी और उद्देश्य के तहत। और माओवाद इस बात पर जोर देता है कि समाजवादी नियोजन को निरन्तर ऊर्जस्वित करते रहना आवश्यक है: अर्थात क्रान्ति का निरन्तर जारी रहना आवश्यक है तथा समाज और दुनिया को बदलने के काम में वर्ग संघर्ष निरन्तर जारी रहना चाहिए। निश्चय ही यह अर्थशास्त्र और समाज के विकास के बारे में गुणात्मक रूप से भिन्न पहुंच (अप्रोच) है।

जब द *शंघाई टेक्स्टबुक* 1975 में प्रकाशित हुई, तब चीन अभी महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के असाधारण संघर्ष और उफान से गुजर ही रहा था। शंघाई और अन्य शहरों की फैक्टरियों में प्रबन्धन में मजदूरों की भागीदारी को लेकर नये-नये रूप और तौर-तरीके प्रयोग में लाये जा रहे थे। किसान उन तौर-तरीकों पर बहस-मुबाहसे में लगे हुए थे जिनके जरिए कनफ्यूशियसवादी पितृसत्तात्मक और सर्वाधिकारवादी मूल्य अभी भी उनके जीवन को प्रभावित किये हुए थे। वैज्ञानिक अपने प्रयोग व्यावहारिक अनुभव से समृद्ध मजदूरों के बीच और उनकी समझदारी को साथ लेकर कर रहे थे। जो प्रशासक जनता से कटे हुए थे उनकी रोजाना खिंचाई की जा रही थी। इंजीनियर मजदूर बन गये थे, शिक्षक छात्र बन गये थे और राजनीतिक पदाधिकारी कूड़ा इकट्ठा करने वाले का काम करने लगे थे और ठीक इसके विपरीत, मजदूर इंजीनियर बन रहे थे, छात्र शिक्षक बन रहे थे और कूड़ा इकट्ठा करने वाले राजनीतिक पदाधिकारी बन रहे थे। इस प्रकार एक ऐसा

समाज बन रहा था जो पूंजीवाद पर चौतरफा प्रहार करता जा रहा था। इस सच्चाई से दोस्त या दुश्मन कोई भी शायद ही इंकार कर सकेगा।

आर्थिक विकास और संगठन का कोई भी पहलू जस का तस नहीं स्वीकार कर लिया गया था – चाहे वह "आधुनिकीकरण" और शहरीकरण का अपरिहार्य माना जाने वाला रास्ता रहा हो (शहरी और औद्योगिक विकास के चले आ रहे अराजक और एकांगी विकास के परम्परागत पश्चिमी और अपेक्षाकृत हाल के तीसरी दुनिया के पैटर्नों से सम्बन्ध-विच्छेद करने तथा उद्योग को कृषि के साथ एवं शहर को देहात के साथ एकीकृत करने के लिए क्रान्तिकारी चीन ने जबर्दस्त कदम उठाये); या तकनोलॉजी का मामला रहा हो (माओवादियों ने इस बात पर जोर दिया कि तकनोलॉजी की डिजाइनें, उनके प्रयोग और तकनोलॉजी के साथ जनता के सम्बन्ध केवल उत्पादक शक्तियों के विकास द्वारा ही निर्धारित नहीं होते, बल्कि आर्थिक प्रणाली के सामाजिक सम्बन्धों द्वारा भी निर्धारित होते हैं); अथवा आर्थिक दक्षता और उपयुक्तता की धारणा का मामला रहा हो (इन्हें मूल्य-प्रभाविता या 'कास्ट-इफेक्टिवनेस' के संकीर्ण फ्रेम में देखने के बजाय व्यापकतर आर्थिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्यों में देखा गया)। यह ऐसा समाजवाद था जिसने केवल मुनाफे को ही सर्वोपरि मानने वाले निर्मम हिसाब-किताब और पूंजीवादी के संगठन की विधियों के अध्ययन को ही जबर्दस्त चुनौती नहीं दी, बल्कि इसने "मैं ही प्रथम रहूं" की सम्पूर्ण मानसिकता को भी चुनौती दी। "जनता की सेवा करो" फैक्टरियों, स्कूलों, अस्पतालों और फुटकर बिक्री की दूकानों की दीवारों पर लिखा जाने वाला महज एक नारा ही नहीं था; बल्कि यह एक विचारधारात्मक मानक था जिससे लाखों-लाख लोग अपना और दूसरों का मूल्यांकन करते थे। यह एक क्रान्ति थी जिसने पहलकदमी, सृजनशीलता और साहस को आगे बढ़ा दिया...... लेकिन सामूहिकता के लिए न कि व्यक्तिवादिता के लिए।

लेकिन आज यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि चीन अब एक बहुत ही भिन्न समाज बन चुका है। 1976 में माओ त्से-तुङ की मुत्यु के बाद, देङ सियाओ पिङ के नेतृत्व में दक्षिणपंथी ताकतों ने एक सैनिक तख्तापलट कर दिया[1] और बहुत सुनियोजित ढंग से समाजवाद को विघटिकत करने, पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने और चीन को पुन: साम्राज्यवाद का गुलाम बना देने की शुरुआत कर दी गयी।

इतना बड़ा परिवर्तन सबसे स्पष्ट रूप से तब उजागर हुआ जब इस नेतृत्व के 1980 के दशक के आरम्भ में यह नारा दिया: "धनी बनना गौरव की बात है।" और यह बहुत थोड़े लोगों के लिए ही है। शंघाई में एक शेयर बाजार खुल चुका है, शहरी 'रीयल इस्टेट' में सट्टेबाजी अब एक कानूनी आर्थिक गतिविधि करार दी जा चुकी है और बहुराष्ट्रीय निगमों की सेवा के लिए 'विशेष आर्थिक क्षेत्रों' (स्पेशल इकनॉमिक जोन्स) का निर्माण किया गया है। चीन के नेता देश को एक अल्प उजरत वाले 'असेम्बली काम्प्लेक्स' में तब्दील कर चुके हैं तथा घरेलू और विदेशी पूंजी का उत्पादन-आधार क्षेत्र बना चुके हैं – 1992 के आरम्भ में, प्रतिदिन औसतन 45 नये विदेशी सहायता प्राप्त उद्यमों के अनुबन्ध किये गये। अब मजदूरों को कहा जाता है कि वे अपनी नाक मशीन में घुसेड़े रखें और राजनीति से दूर रहें। देहाती क्षेत्रों में, सुधार के झण्डे तले, कम्यूनें तोड़ी जा चुकी हैं और ग्रामीण सामूहिक सम्पत्तियों पर ओहदे-रुतबे वाले लोग काबिज हो चुके हैं। इसके नतीजे के तौर पर जो सामाजिक ध्रुवीकरण हुआ है उसने लाखों-लाख खस्ताहाल किसानों को शहरी क्षेत्रों की ओर भागने को मजबूर कर दिया है। सुविधासम्पन्न समुद्रतटीय क्षेत्र (जहां चीन का सर्वाधिक विकास हो रहा है) और देश के विशाल भीतरी भागों (जहां ठहराव और गरीबी ही मानक बन चुके हैं) के बीच आर्थिक और सामाजिक विषमताएं तेजी से बढ़ रही हैं।

आज वहां की अर्थव्यवस्था उछाल और मंदी भरे दुश्चक्री विकास के सारे लक्षण प्रकट कर रही है। परिस्थितिकीय महाविनाश का खतरा भी बढ़ रहा है। विकास और मुनाफे के अल्पकालिक हितों के चलते (यानी तात्कालिक मुनाफे की अदूरदर्शितापूर्ण सोच के चलते) सिंचाई और बाढ़ नियंत्रण के उपायों की घोर उपेक्षा और बर्बादी हो रही है, देश के अधिकांश पुराने जंगल काट डाले जा रहे हैं और विशाल औद्योगिक कचरे से स्वच्छ जलस्रोत प्रदूषित होते जा रहे हैं। बाहरी कर्ज और निर्भरता बढ़ती जा रही है। पुरानी सामाजिक बुराइयां फिर से उभरने लगी हैं: देहाती क्षेत्रों में बच्चियों की हत्या बढ़ रही है (कारण कि पुरुष श्रम शक्ति को अब फिर से प्रत्येक परिवार की निजी अर्थव्यवस्था में एक महत्वपूर्ण सम्पदा माना जाने लगा है, और इसे व्यापक ग्रामीण आबादी में प्रचलित किया जा रहा है) तथा कौटुम्बिक हिंसा भी बढ़ रही है, शहरों में बेरोजगारी, भिक्षावृत्ति और वेश्यावृत्ति फैल रही है। "आधा आसमान उठाये रखो" वाली महिलाओं की क्रान्तिकारी छवि, अब संस्कृति के नाम पर, आज्ञाकारी गृहणियों की पुरातन रूढ़ि में तब्दील हो चुकी है, उन्हें "सफलता के लिए परिधानित" उपभोक्ता और यौन-वस्तु बना दिया गया है। भ्रष्टाचार चीन में अब इतना व्यापक हो चुका है कि किसी को आश्चर्य नहीं होता।

ये हैं चीन की गर्वोक्तिभरी विकास-दरों के पीछे की आर्थिक-सामाजिक सच्चाइयां। और 1989 में तिएन-आन-मेन चौक में मजदूरों और छात्रों के कत्ले-आम ने तो राजनीतिक सच्चाई को भी पूरी तरह खोल कर रख दिया। ऐसा है आज का नया (पुराना) चीन। आज यह केवल नाम में ही समाजवादी है। लेकिन पश्चिम में यह कहानी प्रचारित है कि देङ सियाओ पिङ से जुड़े "व्यवहारवादी" नेताओं ने चीनी समाज को सर्वाधिकारवादी माओवादी पागलपन की जकड़ से मुक्त करके स्वस्थ बना दिया है। बेशक कुछ ऐसे भी हैं जो यह भी खेदपूर्वक स्वीकार करते रहते हैं कि चीन में कुछ अप्रिय राजनीतिक कार्रवाइयां भी जारी है, फिर भी वे यह कहकर अपने आपको तसल्ली दे लेते हैं कि जब वहां का नेतृत्व कर रहे जर्जर बूढ़े मर जायेंगे, तब जनतंत्रीकरण (यानी पश्चिमी शैली का संस्थाबद्ध नियंत्रण और छलप्रपंच) पूरी तरह से फूलने-फलने लगेगा। लेकिन आज की सच्चाई यह है कि चीन में मजदूरों और किसानों के शासन को पूरी तरह रौंद डाला गया है; सम्पत्ति और ऊंच-नीच का भेद फिर से बहाल किया जा चुका है; और मुनाफा ही आर्थिक विकास का नियामक बन चुका है। एक नये शोषक वर्ग ने चीनी समाज में स्वास्थ्य नहीं बल्कि पूंजीवाद बहाल किया है – ठीक वैसे ही जैसे माओ ने कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर मौजूद दक्षिणपंथियों द्वारा सत्ता पर कब्जा कर लेने के खतरे के बारे में आगाह किया था। इन "पूंजीवादी पथगामियों" ने जिस व्यवस्था को उखाड़ा और तहस-नहस किया है, उसी का विस्तृत विवरण देने और उसी की प्राणप्रतिष्ठा में यह पुस्तक खासतौर से समर्पित है।

द *शंघाई टेक्स्टबुक* पूंजीवादी के स्थान पर समाजवादी विकल्प की प्रकृति और कार्यप्रणाली के बारे में माओवादी क्रान्तिकारियों के दृष्टिकोण की सर्वाधिक सांगोपांग प्रस्तुति है। यह समाजवादी आर्थक सिद्धान्त में एक भारी योगदान है। यह किसी भी परिस्थिति के लिए मूल्यवान है। और वर्तमान विश्व परिवेश में तो इसका महत्व और भी बढ़ जाता है - जहां अब यह कहा जाने लगा है कि पूंजीवाद का कोई विकल्प नहीं है, और हमें यह विश्वास दिलाने की कोशिश की जा रही है कि समाजवाद असफल हो गया....और कि इसे असफल होना ही था।

आज गत कुछ वर्षों के घटना-प्रवाह से परिचित हर कोई यह भलीभांति जानता है कि, पश्चिम के सत्ताधारी वर्गों ने एक विचारधारात्मक विजय परेड आयोजित कर रखा है। इसकी शुरुआत 1989 में पूर्वी यूरोप की सोवियत-प्रभुत्व वाली व्यवस्थाओं के धराशायी होने के साथ हुई। और जब स्वयं सोवियत संघ का ही बिखराव हो गया तब यह विचारधारात्मक

1. इस तख्तापलट में देंङ ने परदे के पीछे से अपनी भूमिका अदा की। हुआ गुआफेङ तो बस नाम का नेता था। जबकि पूरी तरह से देङ ने ही परदे के पीछे से इस तख्तापलट और उसके बाद पूंजीवादी प्रस्थापना का नेतृत्व किया। और जब हुआ के जरिये देङ ने अपना प्रतिक्रियावादी उद्देश्य पूरा कर लिया, तब देङ ने हुआ को किनारे लगाकर परिदृश्य से हटा दिया।

विजय-परेड एक महोत्सव में तब्दील हो गया। लेकिन सोवियत संघ में जो व्यवस्था धराशायी हुई, वह समाजवाद था ही नहीं। यह पूंजीवाद का ही एक विशिष्ट रूप, एक अत्यन्त केन्द्रीकृत राज्य-एकाधिकारी पूंजीवाद था, जिसमें राजकीय स्वामित्व और राजकीय नियोजन पूंजीवादी अन्तर्वस्तु से लैस थे। इस वर्ग-विभाजित, शोषणकारी और उत्पीड़नकारी समाज में कुछ भी क्रान्तिकारी नहीं था। दरअसल सोवियत संघ में समाजवाद को तो 1950 के दशक में ही उखाड़ फेंका जा चुका था – और इस सोवियत अनुभव के सबक इस पुस्तक की प्रमुख विषयवस्तु हैं।[2]

आज सत्ताधारी वर्ग जिस चीज का महोत्सव मना रहे हैं वह पश्चिमी शैली का पूंजीवाद है। वे यह कह रहे हैं कि और किसी भी प्रकार के आर्थिक उपाय, ऐसी दक्षता या बुद्धिमानी के साथ काम नहीं कर सकते; और कोई दूसरी राजनीतिक प्रणाली औद्योगिक विकास का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकती। बस इसकी चिन्ता बिलकुल न करें कि इस अद्भुत विश्वबाजार अर्थव्यवस्था में अमीर और गरीब राष्ट्रों के बीच की खाई पिछले 30 वर्षों में दूनी हो चुकी है, अथवा यह कि अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक और राजनीतिक पूंजीवादी संस्थाओं के प्रभुत्व में तीसरी दुनिया में प्रतिदिन 40,000 बच्चे कुपोषण और ऐसी बीमारियों के शिकार होकर मर रहे हैं जिन्हें रोका जा सकता है। मत सोचें इस पर कि आज पश्चिमी जगत युद्धोत्तर काल की सबसे पीड़ादायी और दीर्घकालिक भूमण्डलीय आर्थिक मंदी झेल रहा है। इस दावे की अश्लीलता पर मत गौर करें कि पश्चिमी शैली का बाजार, जो अमेरिका के अपने शहरों को बर्बाद कर चुका है, किसी न किसी तरह रूस की आवासीय समस्या को हल कर देगा। पिछली तीन शताब्दियों के उस औद्योगिक विकास पर बिलकुल न सोचें जो इतना अंधा रहा है कि इस ग्रह के पारिस्थितिकीय संतुलन को ही लूट-लूट कर बर्बाद कर देने की दिशा में आगे बढ़ता रहा है। और उस प्रणाली पर कभी न सोचें जिसकी जरूरत यही होती है कि लोग अपने आप को तथा अपने मानवीय सम्बन्धों को बाजार में बिकने वाले मालों के रूप में तब्दील कर डालने की कुशलता हासिल कर लें। कहने का मतलब यह कि आप भूल जाइए इन सब बातों को ... बस बाजार ही दुनिया में सबकुछ को सर्वोत्तम रूप से ठीक कर देगा।

आज यदि पश्चिमी पूंजीवाद सोवियत शिविर में समाजवाद के नाम से व्याप्त शोषण और भ्रष्टाचार पर अपनी विजय की दुन्दुभि बजा रहा है, तो वह इसी के साथ इसका भी उद्घोष कर रहा है कि अब मानवता शोषण, असमानता, विघटन और लालच एवं व्यक्तिगत स्वार्थ के वातावरण से निजात पाने के लिए तथा एक सर्वथा नये किस्म का समाज बनाने के लिए आगे नहीं जा सकती। आज इसके सत्ताधारी वर्ग केवल यही नहीं कह रहे हैं कि यही "इतिहास का फैसला" है, बल्कि इससे भी आगे बढ़कर वे यह कह रहे हैं कि अब "इतिहास का ही अन्त" हो चुका है, और कि अब समाज और इतिहास आगे नहीं जा सकते – और इसी को पश्चिम ने किसी ईश्वरीय आदेश की भांति, सारे सभ्य लोगों के लिए एक आदर्श बना दिया है। और कि कोई भी चीज जो पूंजीवाद को चुनौती देगी, खाली स्वप्न बन कर रह जायेगी, और इससे भी बुरी बात होगी यदि कोई इसके ऊपर कोई यूटोपिया आरोपित करेगा, क्योंकि वह काम तो आयेगा नहीं, उल्टे एक दु:स्वप्न ही बन जायेगा। वस्तुत: पूंजीवाद का यह विजय-अभियान, जैसा कि इतिहासकार आर्नो मेयर ने कहा है, "दुर्व्यवस्था का एक वज्रपाती महोत्सव" भर है। इसका निहितार्थ यही है कि चूंकि आप एक सर्वथा साफ-सुथरी दुनिया नहीं पा सकते, इसलिए लालच, उत्पीड़न और नीचता ही अमर रहे। और ऐसा नहीं है कि इन सबका कोई राजनीतिक प्रभाव नहीं पड़ रहा है। बहुतेरे ऐसे हैं जो कभी न कभी पूंजीवाद के विकल्प की बात किया करते थे और अपनी गलत समझदारी के चलते सोवियत आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को समाजवादी व्यवस्था मानते आ रहे थे, आज उसी के धराशायी हो जाने पर, समाजवाद की विचारधारा की ही लानत-मलामत करने लगे हैं तथा समाजवाद की प्रकृति और उसके भविष्य को लेकर गहरे संशय में डूब चुके हैं।

आज मुद्दा क्रान्तिकारी कम्युनिज्म के औचित्य और भविष्य को लेकर उठ खड़ा हुआ है: कि लाखों लोगों के स्वैच्छिक और सामूहिक प्रयास के आधार पर सभी प्रकार के उत्पीड़न और वर्ग-विभेदों को खत्म करना सम्भव है या नहीं; कि राजनीतिक नेतृत्व और आर्थिक संस्थाएं ऐसे उद्देश्य पूरे कर सकती हैं या नहीं; और कि क्या सचमुच एक समाजवादी अर्थव्यवस्था व्यावहारिक सिद्ध हो सकती है? ऐसे सवालों के जवाब में माओ और 1976 में उनकी मृत्यु तक के क्रान्तिकारी चीन के अनुभव बुनियादी प्रस्थान-बिन्दु सिद्ध हो सकते हैं। वस्तुत: भूतपूर्व सोवियत संघ के बुर्जुआ सिद्धान्तकार औपचारिक और कानूनी तौर पर राजकीय स्वामित्व, लोककल्याणवाद, तकनीकी दक्षता और राजनीतिक निश्चेष्टता को ही समाजवाद कहते आ रहे थे जब कि दरहकीकत यह एक भोंड़ा और नकली मार्क्सवाद ही था। परन्तु इसके विपरीत, माओ त्से-तुङ ने, एक पूर्ण कम्युनिस्ट समाज की ओर संक्रमित होने वाले एक ऐसे नये समाजवादी समाज के सृजन की दिशा में – जिसमें स्त्री-पुरुष सचेत तौर पर और स्वेच्छया भारी संघर्षों के जरिये इस दुनिया और अपने आप को बदलने का कार्य करेंगे – मार्क्स और एंगेल्स की कम्युनिस्ट समाज की कल्पना और लेनिन के नेतृत्व में उसे साकार करने के प्रयासों के संक्षिप्त लेकिन ऐतिहासिक अनुभव को और परिष्कृत किया। और इसी के साथ ही, सोवियत संघ में एक समाजवादी अर्थव्यवस्था के निर्माण में किये गये प्रथम प्रयासों के सकारात्मक अनुभवों से सीखते हुए, उन्होंने स्तालिन के नेतृत्व के अन्तर्गत संस्थाबद्ध हो चुके नियोजित समाजवादी अर्थव्यवस्था के मॉडल पर पुनर्विचार किया और उसे पुन: संशोधित भी किया ।

माओ एक ऐसी नियोजित समाजवादी अर्थव्यवस्था विकसित करने की वास्तविक समस्याओं पर सोचने और उससे सम्बन्धित तमाम समाधानों को लागू करने में लगे हुए थे जो नौकरशाही द्वारा नियंत्रित न हो और न ही उत्पीड़नकारी पूंजीवादी सम्बन्ध पैदा करे। उनके पहुंच की दिशा यह थी कि समृद्धि और विकास को सामाजिक और राजनीतिक मानकों के मातहत रखा जाये, आर्थिक संयोजन के सवाल को व्यापक जनता की पहलकदमी और भागीदारी से जोड़ा जाये, स्वत: प्रेरणा और सामूहिक हित के मुद्दों पर जोर दिया जाये, और उस विचारधारात्मक और राजनीतिक परिवेश पर जोर दिया जाये जिसके अन्तर्गत सभी स्तरों पर निर्णय लिये जा सकें और योजना की एक सुसंगत प्रणाली को विकेन्द्रीकृत प्रबन्धन के साथ संयुक्त किया जा सके।

माओवादी मॉडल "अल्पविकास" के उस रूढ़िवादी पश्चिमी पहुंच को पूरी तरह खारिज भी करता है जिसका मानना है कि अल्प विकास एक विलम्बित विकास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और कि जिसे केवल विदेशी पूंजी से सम्पूरित करके तथा श्रम के अन्तरराष्ट्रीय विभाजन में भागीदारी करके ही त्वरान्वित किया जा सकता है और पटरी पर लाया जा सकता है। लेकिन इसके विपरीत, क्रान्तिकारी चीन ने अपने आपको विश्व साम्राज्यवादी प्रणाली से पूरी तरह अलग कर लिया। इसने कृषि को प्राथमिकता देने के आधार पर अपने विकास की रणनीति सुत्रित और लागू की, जिसके लिए इसने ऐसी सरल और मध्यवर्ती तकनोलॉजियों का इस्तेमाल किया जिन्हें पूरी अर्थव्यवस्था में प्रसारित-प्रचारित और लागू किया जा सकता था, तथा साथ ही उन्नत तकनोलॉजी विकसित और लागू करने के ऐसे तरीके भी खोजे जाते रहे जो अर्थव्यवस्था को विकृत और छिन्न-भिन्न न कर सकें, बल्कि आत्मनिर्भरता को बढ़ावा दें, और सर्वोपरि रूप से जनता को मुक्त करें। ऐसे आधार पर ही एक गरीब देश, जिसका विकास अर्द्धऔपनिवेशिक प्रभुत्व द्वारा विकृत और

2. सोवियत संघ में चले आ रहे राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद की बुनियादी विशिष्टताओं के विश्लेषण के लिए देखें, **रेमण्ड लोट्टा** : द *सोवियत यूनियन : सोशलिस्ट एण्ड सोशल इम्पीरियलिस्ट?* (शिकागो: आर सी पी पब्लिकेशन, 1983)।

क्षतिग्रस्त कर दिया गया था, टिकाऊ और सन्तुलित विकास करने तथा अपनी जनता की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा कर पाने में समर्थ हो सका।

निश्चय ही ऐसा करते हुए समस्याओं का भी सामना करना पड़ा और गलतियां भी हुईं। अर्थव्यवस्था में निश्चय ही कुछ कमजोर बिन्दु भी थे; नयी सामाजिक संस्थाओं में निश्चय ही कुछ त्रुटियां भी थीं; और जनसंघर्ष के तूफानी चढ़ाव-उतार में गलतियों का होना तो अपरिहार्य ही था – जो कभी चीजों को बदल रहे लोगों के अति उत्साह के कारण हो जाया करती थीं, या कभी अड़ियलपन के कारण। लेकिन यह सब कुछ एक ऐसी क्रान्ति के सिलसिले में हो रहा था जो शोषण और उत्पीड़न का समूल नाश करने और व्यापक जनता को राजनीतिक जीवन में शामिल करते जाने के काम में लगी हुई थी। इसमें विकास की दरें इतनी अधिक हो चलीं थीं कि सी.आइ.ए. भी इंकार नहीं कर सकी थी। बाहर से देखने आने वालों का तांता लगा रहता था और वे यहां पैदा हो रहे नये-नये मूल्यों और दृष्टिकोणों को देखकर आश्चर्यचकित हुए बिना न रहते थे। सचमुच यह सब बहुत प्रभावशाली था, फिर भी इसके युक्तिविधान और सिद्धान्त कहीं अधिक गहरी समस्याओं के जिस व्यापकतर समाधान के हिस्से थे उनकी सबसे बड़ी समस्या यह थी कि कैसे इस तूफानी प्रवाह को एक वर्ग विहीन समाज यानी साम्यवाद की दिशा में ले जाने के लिए समाज और जनता का क्रान्तिकारीकरण किया जाये। माओ का राजनीतिक अर्थशास्त्र इसी पर रोशनी डालता है, और इसीलिए यह उचित ही है कि इसे *एक दूरदर्शितापूर्ण और जीवन्त समाजवाद का राजनीतिक अर्थशास्त्र* कहा गया।

वर्तमान व्यवस्था के पैरोकार माओवादी अनुभव की जो बदगोई करते हैं उसके स्पष्ट कारण हैं। यह उनके शोषण के पूरे तंत्र और दृष्टिकोण के पूरीतरह खिलाफ जो पड़ता है। लेकिन कुछ अधिक "प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों के दायरे में माओवाद को इतिहास द्वारा किनारे लगा दिये गये एक युग की कलाबाजी कहकर खारिज कर देने का एक फैशन भी चल पड़ा है। चाहे ऐसा करने के पीछे कोई इरादा हो या न हो, लेकिन यह दलील यथास्थिति के पक्ष में ही जाती है। फिर भी यह सवाल तो है ही कि क्या यह अनुभव और समझदारी सही मायने में मुक्ति पाने के लिए प्रासंगिक है? जो सचमुच इस दुनिया को समझने और आमूलचूल बदलने के इच्छुक हैं, उनके लिए तो यह सवाल और भी अपरिहार्य है।

मार्क्सवाद और समाजवाद की प्रकृति एवं उसका निर्माण

समाजवाद के राजनीतिक अर्थशास्त्र से दो बातें इंगित होती हैं: पहली, समाजवादी समाज के आर्थिक मूलाधार (उत्पादन-सम्बन्ध) का सिद्धान्त-निरूपण और उसकी अनवरत छानबीन; और दूसरी, आर्थिक विकास और नियोजन का एक मॉडल और व्यावहारिक पहुंच। अर्थव्यवस्था और समाज के समाजवादी पुनर्गठन का सिद्धान्त बहुत लम्बे समय से मजदूर आन्दोलन के शस्त्रागार का एक अंग रहा है। परन्तु समाज का एक बोधगम्य और क्रान्तिकारी राजनीतिक अर्थशास्त्र वास्तव में अपेक्षाकृत, हाल का विकास है।

बोल्शेविक क्रान्ति होने से पहले तक, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र का विश्लेषणात्मक जोर लगभग पूरी तरह से पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली पर ही केन्द्रित था। इसकी ऐतिहासिक वजह और आवश्यकता थी। 19वीं शताब्दी के मध्य तक, औद्योगिक पूंजीवाद परिपक्व हो चुका था। यह उत्पादन की तकनीक का क्रान्तिकारीकरण कर चुका था, और आधुनिक उद्योग को जन्म देकर, औद्योगिक उजरती-मजदूरों का एक विशाल नया वर्ग पैदा कर चुका था। यह तकनोलॉजिकीय परिवर्तन की सम्भावना और उसकी गति को इतना अधिक त्वरान्वित कर चुका था कि इससे पहले अन्य कोई भी आर्थिक प्रणाली ऐसा न कर सकी थी। औद्योगिक पूंजीवाद पूरी तरह से अपने ढंग से –और एकदम बर्बर तरीके से–इस दुनिया की पुनर्रचना कर रहा था। यह एक पूंजीवादी विश्वबाजार निर्मित कर चुका था तथा अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप श्रम का एक अन्तरराष्ट्रीय विभाजन भी कर चुका था। विकास की दृष्टि से, इस प्रणाली के पैटर्न में ही उसकी यह चरित्रगत विशिष्टता निहित थी कि इसका तीव्र विकास समय-समय पर प्रचण्ड आर्थिक बाधाओं से अवरुद्ध होता रहे। इसे अस्थिर और संकटग्रस्त होते ही रहना था। और वह महान ऐतिहासिक क्षण था जब इसके वर्ग-सम्बन्धों और अन्तरविरोधों ने एक नयी राजनीतिक–शक्ति–सर्वहारा या मजदूर वर्ग को–जन्म दिया, जिसने मुक्ति के लिए संघर्ष की शुरुआत की। लेकिन पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली को समझना अभी बाकी था; मजदूर वर्ग के उठ खड़े हो रहे संघर्षों की सेवा के लिए एक क्रान्तिकारी रणनीति और रणकौशलों को सूत्रित करना अभी बाकी था।

कार्ल मार्क्स ने पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली का सैद्धान्तिक विवेचन किया। उन्होंने इसे ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में प्रस्तुत किया और स्पष्ट किया कि यह सामाजिक विकास की एक विशिष्ट और संक्रमणकालीन अवस्था के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो सामाजिक श्रम के एक ऐसे विशिष्ट संगठन और ऐसे विशिष्ट युक्ति विधान पर आधारित है जिसके जरिये सम्पत्तिशाली सत्ताधारी वर्ग अधीनीकृत उत्पादन वर्ग से बेशी श्रम का दोहन करता है।[3] उन्होंने उजरती मजदूरी और पूंजी के बीच के सम्बन्ध को पूंजीवादी समाज के कुंजीभूत सम्बन्ध के रूप में अभिचिन्हित किया। उन्होंने इस प्रणाली के बुनियादी अन्तरविरोध को समाजीकृत उत्पादन और निजी विनियोजन के बीच के अन्तरविरोध के रूप में अभिचिन्हित करके उसकी पूरी असलियत को खोलकर रख दिया–इस प्रणाली के अन्तर्गत बड़े पैमाने की और अति विकसित उत्पादक शक्तियां केवल तभी काम में लायी जा सकती हैं जब हजारों-लाखों मजदूर सम्मिलित रूप से उनका इस्तेमाल करें, लेकिन साथ ही, यह भी रहे कि उत्पादक शक्तियां केवल खास तरह के (निजी) हितों के लिए प्रतियोगिता में वृद्धि करने के ही काम आती रहें। इस प्रकार उन्होंने पूंजीवाद के आन्तरिक आर्थिक अन्तरविरोधों और उसकी गति (विकास की प्रवृत्तियों) के नियमों को खोल कर रख दिया।

इन खोजों से मार्क्स यह स्पष्ट करने में समर्थ हो गये कि पूंजीवाद अन्ततः साम्यवाद की दिशा में ले जाने वाला भौतिक आधार (उत्पादक शक्तियों का जबर्दस्त विकास और समाजीकरण) और उसका अभिकर्ता (सर्वहारा वर्ग) दोनों ही पैदा कर देता है, जिससे वर्ग-विभेदों और वर्ग-विभाजन के बीजों से युक्त सारे सामाजिक विभाजनों का अन्त हो सकता है। लेकिन मार्क्स ने इस भावी समाज का कभी कोई एक विस्तृत ब्लूप्रिंट नहीं पेश किया। उनकी दृष्टि में, समाजवाद का संघर्ष और रूप तो ठोस दशाओं के अनुसार ही निर्धारित हो सकता था; समाजवाद के ठीक-ठीक क्या रूप होंगे जो अन्ततः साम्यवाद में परिणत होंगे–यह सब क्रान्ति के पूर्ववर्ती ऐतिहासिक विकास और विशिष्ट दशाओं द्वारा निर्धारित होता है।

मार्क्स की महान खोजों के बाद मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के विकास क्रम का समाहार करते हुए, सचमुच इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि समाजवाद और साम्यवाद के बारे में मार्क्सवाद का सिद्धान्त-निरूपण उसके द्वारा पूंजीवाद के विश्लेषण की तुलना में पिछड़ा हुआ रहा है। 19वीं शताब्दी के अन्त और 20वीं शताब्दी के आरम्भ में चले समाजवादी आन्दोलन को कुछ ऐसे दबावकारी (और अधिक तात्कालिक) राजनीतिक सवालों से जूझना पड़ा था जो पूंजीवादी विकास की विशिष्टताओं और वर्ग-संघर्ष की आवश्यकताओं द्वारा उपस्थित किये गये थे। जर्मनी और रूस में खासतौर से यही स्थिति थी, जहां मजदूरों का आन्दोलन आगे बढ़ रहा था, तथा जर्मनी और रूस दोनों ही देशों के मार्क्सवादी उन संरचनात्मक परिवर्तनों के महत्वपूर्ण विश्लेषणों में लगे हुए थे जिन्होंने पूंजीवाद के विकास को एक नयी अवस्था में ला दिया था (लेनिन की कृति, *साम्राज्यवाद*, इन विश्लेषणों में सर्वाधिक उन्नत और सर्वाधिक उत्कृष्ट थी।)। लेकिन इसका मतलब यह कतई नहीं था कि 1917 से पहले के सामाजिक आन्दोलन में भावी समाज के राजनीतिक-आर्थिक संगठन को लेकर कोई दिलचस्पी न थी। दिलचस्पी निश्चित थी, और उस समय के ज्वलंत मुद्दों, जैसे भूमि सम्बन्धी सवालों पर

3. बेशी श्रम मेहनतकश वर्गों द्वारा स्वयं अपनी आवश्यकताओं को पूर्ति के लिए किये जाने वाले श्रम के काल के अतिरिक्त किये जाने वाले श्रम का काल है।

समाजवादी पुनर्गठन की दृष्टि से सोचा भी जा रहा था। फिर भी, यह एक गौण सरोकार का ही मुद्दा था, और जहां तक उस वक्त के आन्दोलन के सबसे प्रभावी पक्ष, **जर्मन सामाजिक जनवाद,** की बात थी, तो उसकी समाजवाद की अवधारणा प्राय: गलत और गैर-क्रान्तिकारी समझौतों, जैसे समाजीकरण, केन्द्रीकरण और संगठन के प्रति पूंजीवादी प्रवृत्तियों के विकासवादी विस्तार और उनके औचित्य-प्रतिपादन से ही भरी हुई थी।

उस वक्त समाजवाद की अवधारणा में अभी कुछ अधिक बुनियादी बातों को स्पष्ट करने का काम बाकी था: और सच बात तो यह थी कि समाजवाद को गहराई से समझा जा सके – इसके लिए अभी स्वयं समाजवाद का प्रकट होना ही शेष था। अभी समाजवादी क्रान्ति की जानी बाकी थी और उसकी सम्यक् समझदारी की एक पूर्वशर्त के तौर पर समाजवादी रूपान्तरण की व्यावहारिक चुनौतियों से निपटना भी शेष ही था। लेकिन न तो यही समस्या का आरम्भ था, न ही अन्त, क्योंकि समाजवाद की आन्तरिक प्रकृति अभी किसी भी तरह से स्पष्ट या पारदर्शी नहीं थी– उसका तो अभी अवगाहन किया जाना था।[4]

माओ ने अपनी कृति, *क्रिटीक ऑफ सोवियत इकॉनमिक्स* में लिखा कि "वस्तुगत नियमों को जानने के लिए आपका एक प्रक्रिया से होकर गुजरना आवश्यक है।" समाजवादी समाज के नियमों – अर्थात उसकी संरचना और गतिकी – को जानने की प्रक्रिया सैद्धान्तिक अवगाहन के गहन से गहनतर होते जाने और अवधारणा के अधिकाधिक परिष्कृत होते जाने की प्रक्रिया रही है जो समाजवाद के निर्माण के लिए किये जाने वाले सामाजिक व्यवहार पर आधारित और उसी से सम्बन्धित रही है। इस प्रक्रिया में ठोस सामाजिक (समाजवादी) यथार्थ की छानबीन, पिछली जानकारी का परिवर्द्धन और परिष्कार तथा समाजवादी समाज के अग्रवर्ती यात्रा-पथ पर चलने वाले वर्ग और विचारधारा के संघर्ष की बातें शामिल रही हैं। इस प्रक्रिया में मील के पत्थर – यानी ऐसे निर्णायक ऐतिहासिक प्रकरण भी निर्मित होते रहे हैं जिनके लिए मार्क्सवाद केवल आवश्यक ही नहीं रहा है, बल्कि समाजवाद के राजनीतिक अर्थशास्त्र को और विकसित एवं विस्तारित करके उन्हीं की बदौलत स्वयं मार्क्सवाद भी समर्थ हुआ है। यहां हम 1917 से 1975 के बीच सोवियत संघ में एक समाजवादी समाज और अर्थव्यवस्था के निर्माण के लिए किये गये प्रथम प्रयास, और स्तालिन की मृत्यु के बाद वहां हुई पूंजीवादी प्रस्थापना, तथा चीन में माओ के नेतृत्व में 1966 से 1976 तक चली सांस्कृतिक क्रान्ति को याद करें। इस प्रक्रिया में भी एक मील का पत्थर है: समाजवादी समाज के अन्तर्निहित अन्तरविरोधों और सत्ताधारी सर्वहारा वर्ग के सामने उपस्थित ऐतिहासिक कार्यभारों का माओ त्से-तुङ द्वारा किया गया सैद्धान्तिक संश्लेषण।

मार्क्स और एंगेल्स ने समाजवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की नींव रखी। जैसा कि इंगित किया जा चुका है, उन्होंने पूंजीवादी उत्पादन की उन प्रवृत्तियों को अभिचिन्हित किया जो केवल इतना ही नहीं कर रही थीं कि पूंजीवादी समाज को बड़े से बड़े संकटों में ठेलती जा रही थीं, बल्कि वे आर्थिक और सामाजिक संगठन के एक उच्चतर रूप की भौतिक सम्भावनाओं के द्वार भी खोलती जा रही थीं। अब केवल सामाजिक स्वामित्व और सामाजिक नियोजन पर आधारित प्रणाली ही पूंजीवादी उत्पादन की अराजकता (बाजार द्वारा अर्थव्यवस्था के स्वत:स्फूर्त और विनाशकारी "नियमन") से मुक्ति दिला सकती थी और पूंजीवाद द्वारा निरन्तर पैदा किये जाते रहने वाले अन्तरविरोधों को हल कर सकती थी। परन्तु एक ऐसी प्रणाली के सृजन का रास्ता अब केवल एक प्रचण्ड राजनीतिक क्रान्ति करके ही साफ किया जा सकता था। अत: सर्वहारा वर्ग के समक्ष सत्ता पर कब्जा करने और अपना अधिनायकत्व स्थापित करने का कार्यभार आ उपस्थित हुआ अर्थात पूर्ववर्ती अल्पसंख्यक शोषकों के ऊपर बहुसंख्यक उत्पादकों का शासन स्थापित करने का कार्यभार। इसके तहत सर्वहारा को तकनीकी रूप से विकसित उत्पादक शक्तियों के ऊपर चले आ रहे निजी नियंत्रण के आधार को बदल डालना था। तब मानवीय क्रियाशीलता के उत्पादों का उनके सृजनकर्ताओं के ऊपर कोई नियंत्रण नहीं रह जाता; तब मानसिक और शारीरिक श्रम मानवीय क्रियाशीलता को दो परस्पर विरोधी और वर्ग विशिष्ट परिधियां भी नहीं रह जाती। अब सर्वहारा क्रान्ति एक ऐसी विश्व-ऐतिहासिक प्रक्रिया चालू कर देती जिसके जरिये मजदूर वर्ग अपने आपको और समूची मानवता को शोषणकारी आर्थिक सम्बन्धों और उत्पीड़नकारी सामाजिक सम्बन्धों से सर्वतोभविन मुक्त कर लेता।

मार्क्स की दृष्टि में, एक ऐसा नया समाज पूंजीवादी समाज से बाहर रचे गये किसी नीतिशास्त्रीय विचार या यूटोपिया से पैदा होने वाला नहीं था। समाजवाद को तो पुराने समाज की दशाओं और अन्तरविरोधों के भीतर से ही पैदा होना था। इसीलिए उन्होंने कम्युनिस्ट क्रान्ति को एक निम्नतर अवस्था से उच्चतर अवस्था में जाने वाली क्रान्ति के रूप में देखा था: अर्थात यह क्रान्ति पूंजीवाद को विस्थापित कर उसका स्थान लेने वाले समाजवाद – जिसमें पूंजीवाद के उपादान और विचारधारात्मक जन्मचिन्ह भी अभी मौजूद रहते – से कम्युनिज्म की ओर गति करती जिसमें वर्ग नहीं रह जाते, राज्य खत्म हो चुका होता, और सर्वसुलभ भौतिक उपादोनों का प्रचुर मात्रा में सृजन होता। मार्क्स के अनुसार, समाजवादी क्रान्ति दो "निर्णायक विच्छेद" करती: एक परम्परागत सम्पत्ति सम्बन्धों से और दूसरा परम्परागत विचारों से।

यह वैज्ञानिक समाजवाद था (जिसको लेनिन ने और परिपुष्ट किया तथा उसकी थीसिसों को अपनी कृति, *राज्य और क्रान्ति* में और अधिक गहराई प्रदान की)। लेकिन मार्क्स और एंगेल्स मजदूर वर्ग को सत्ता पर काबिज होते और वर्ग समाज के रूपान्तरण के ऐतिहासिक रूप से अभूतपूर्व कार्यभार को शुरू करते हुए देखने के लिए जीवित न रहे।[5] वे केवल यही कर सके कि समाजवादी समाज की प्रकृति और उसके साम्यवाद की दिशा में संक्रमण की चरित्रगत विशिष्टता और इस संक्रमण में लगने वाली अवधि का मोटे तौर पर सैद्धान्तिक विवेचन किया – हालांकि इस कार्य को भी उन्होंने अत्यन्त सशक्त और दूरदर्शितापूर्ण ढंग से किया। लेकिन साथ ही, उन्होंने समाजवाद की बुनियादी आर्थिक संरचना के बारे में कुछ ऐसी मान्यताएं भी प्रस्तुत कीं जो निश्चय ही उन वास्तविक भौतिक दशाओं के अनुरूप नहीं थीं जिनके अन्तर्गत आगे चलकर समाजवादी समाज विकसित हुआ। वे तो यही आशा किये हुए थे कि उत्पादन के सारे के सारे साधन, कमोबेश जल्द ही सर्वनिष्ठ सामाजिक सम्पत्ति बन जायेंगे; कि एक बार जब अनियोजित मुनाफा-निर्दिष्ट उत्पादन का स्थान नियोजित उपयोग -निर्दिष्ट उत्पादन ले लेगा तो समाज के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन (मुद्रा से विनिमय के लिए किये जाने वाले उत्पादन समेत) का चरित्र माल-उत्पादन का नहीं रह जायेगा; और कि समाजवाद की अवस्था में ही मुद्रा और उजरतों का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा।

लेकिन कोई भी समाजवादी समाज इस स्थिति को प्राप्त नहीं कर सका। जिन देशों में अब तक समाजवादी क्रान्तियां हुई हैं, उनमें खासतौर से किसानी आधारित कृषि की मौजूदगी और उसके आर्थिक बोझ के चलते सार्वजनिक-राजकीय स्वामित्व के स्तर पर उत्पादन के सारे साधनों का तीव्र समाजीकरण सम्भव नहीं हो पाया, इसी लिए निजी और सार्वजनिक-राजकीय स्वामित्व के बीच सामूहिक स्वामित्व को, एक मध्यवर्ती चरण के तौर पर, लागू करना आवश्यक था। उत्पादन की इकाइयों के बीच माल-विनिमय

4. बीसवीं सदी के आरम्भिक दिनों में, रोजा लक्जेमबुर्ग जैसे कई मार्क्सवादी सिद्धान्तकार, और कुछ मशहूर बोल्शेविक अर्थशास्त्री भी, इस गलत समझदारी के शिकार थे कि एक समाजवादी अर्थव्यवस्था की कार्यप्रणाली इतनी आसानी से समझ में आ जायेगी और उसका प्रबन्धन इतनी अच्छी व्यवहार कुशलता से कर लिया जाएगा कि राजनीतिक अर्थशास्त्र एक अलगविद्वान के रूप में लुप्त ही हो जाएगा।

5. बेशक 1871 का पेरिस कम्यून उन के जीवन काल में हुआ और मार्क्स ने फौरन इस अल्पकालीन परन्तु समृद्ध अनुभव से महत्वपूर्ण सबक भी निकाले। परन्तु कम्यून केवल दो महीनों तक ही टिका रहा और वह आर्थिक स्तर पर एक नयी उत्पादन-प्रणाली स्थापित करने में असमर्थ था।

सम्बन्धों को खत्म कर देना भी सम्भव नहीं था। और भले ही समाजवादी देशों में "प्रत्येक से उसकी क्षमता के अनुसार, और प्रत्येक को उसके कार्य के अनुसार" का समाजवादी सिद्धान्त लागू किया गया था, फिर भी उपभोक्ता मालों का वितरण मद्रा के माध्यम से ही होता रहा और इसके साथ ही मुद्रा में उजरत-भुगतान का चलन भी बरकरार रहा।

मार्क्स और एंगेल्स ने यह भी उम्मीद कर रखी थी कि समाजवाद सबसे पहले उन्नत पूंजीवादी देशों में ही आयेगा, जहां उत्पादक शक्तियां अति विकसित हो चुकी रहेंगी। लेकिन स्पष्ट है कि सब कुछ ऐसे हुआ नहीं। कारण कि पूंजीवाद एक और उच्चतर अवस्था, साम्राज्यवाद में विकसित हो गया, जिसकी अभिलाक्षणिकताएं थी: विशाल एकाधिकारी उद्यमों और वित्त पूंजी की प्रभुत्वकारी आर्थिक भूमिका, पूंजीवादी उत्पादन का अन्तरराष्ट्रीकरण, साम्राज्यवादी राष्ट्र-राज्यों के बीच तीखी प्रतिद्वंद्विता, और बहुसंख्यक मानव-आबादी वाली तीसरी दुनिया के उत्पीड़ित राष्ट्रों के ऊपर मुट्ठी भर समृद्ध पूंजीवादी देशों का प्रभुत्त्व। साम्राज्यवादी प्रणाली के विकास और अन्तरविरोधों ने समाजवादी क्रान्ति के मार्ग को व्यापक रूप से प्रभावित किया। बेशक सर्वहारा आन्दोलन उपनिवेशों और उत्पीड़ित देशों में काफी फैला है, परन्तु इसकी प्रगति उन्नत पूंजीवादी देशों में बाधित हुई है (कारण कि वहां शासक वर्गों ने अन्तरराष्ट्रीय शोषण और लूट के जरिये जो विपुल सम्पदा संचित कर ली है उसका इस्तेमाल करके उन्होंने आगे की अवधियों तक के लिए एक सापेक्षित स्थिरता सुनिश्चित कर ली है।

मार्क्सवाद के कुछ बुर्जुआ आलोचक यह कहते हैं कि चूंकि समाजवाद मार्क्स द्वारा पूर्वानुमानित तरीके के बजाए कुछ भिन्न ढंग से अस्तित्व में आया इसलिए उसके विश्लेषण की मूल्यवत्ता सन्देहास्पद है। लेकिन यह एक बहुत ही सतही दलील है। मार्क्स की मान्यताएं पूरी तरह युक्तियुक्त थीं (और उन्हें कोई अटल और अविचल भविष्यवाणियों के रूप में नहीं पेश किया गया था – वैसे मार्क्सवाद भावी सामाजिक विकास की सारी की सारी विशिष्टताओं की भविष्यवाणी कर डालने का कोई दावा भी नहीं करता)। और इससे भी महत्वपूर्ण बात, जिसे 20वीं शताब्दी के अनुभव ने बड़े सशक्त ढंग से सही भी साबित कर दिया है, यह है कि मार्क्स की दृष्टि में क्रान्ति और समाजवाद ऐसी ऐतिहासिक परिघटनाएं हैं जो पूंजीवादी उत्पादन और विकास के अन्तरविरोधों से नि:सृत होती हैं, जिसे आज पहले से कहीं अधिक पूर्णता के साथ एक भूमण्डलीय प्रक्रिया के रूप में समझने की आवश्यकता है।

लेकिन मार्क्स द्वारा किये गये सारे के सारे विशिष्ट पूर्वानुमानों का पूरी तरह व्यवहार में चरितार्थ न होना भी भारी व्यावहारिक और सैद्धान्तिक महत्व रखता है। रिवोल्यूशनरी कम्युनिस्ट पार्टी, यू.एस.ए. के चेयरमैन **बॉब अवाकिएन** ने इस समस्या का इसी रूप में समाहार किया है। समाजवाद, जो वास्तव में 20वीं शताब्दी में प्रकट हुआ, यह सिद्ध कर चुका है कि यह एक अपेक्षाकृत अधिक जटिल और अस्थिर सामाजिक संरचना है, तथा समाजवादी रूपान्तरण मार्क्स या लेनिन द्वारा किये गये पूर्वानुमान से कहीं अधिक कठिन और दीर्घकालिक प्रक्रिया है। यह "जटिलता" बहुत हद तक उसी समस्या से जुड़ी हुई है जो अन्तरराष्ट्रीय मजदूर आन्दोलन के समक्ष, समाजवादी क्रान्तियों की "प्रथम लहर" के दौरान ही उपस्थित हो चुकी थी: चूंकि दुनिया आज भी पूंजीवाद-साम्राज्यवाद के ही प्रभुत्व में है, इसलिए क्रान्ति करने, उसे टिकाये रखने और आगे बढ़ाने की समस्या आज भी बनी हुई है। यहां सवाल केवल यही नहीं – हालांकि यह भी महत्वपूर्ण है – कि साम्राज्यवाद राजनीतिक और सैनिक रूप से ताकतवर है, बल्कि यह भी है कि पूंजीवाद एक उत्पादन प्रणाली के तौर पर पूरी दुनिया पर अपना प्रभुत्व बनाये हुए हैं – और इसने नये-नये उदीयमान समाजवादी समाजों पर भारी भौतिक और विचारधारात्मक प्रभाव भी डाला है, और इस तरह वे जितना कुछ कर सकते थे उसे भी सीमित और विकृत किया है। फिर भी यह कहना कि समाजवादी राज्य पूंजीवाद-साम्राज्यवाद के महासमुद्र में भी अस्तित्वमान रहे हैं, दरहकीकत इस सच्चाई को कम करके आंकना है कि समाजवादी राज्य स्वयं में कोई अन्तिम लक्ष्य नहीं है। क्रान्तिकारी सत्ता का सर्वोच्च कार्यभार समाजवाद को उसकी मौजूद सीमाओं के भीतर ही विकसित करना और बचाये रखना नहीं है, हालांकि यह भी एक महत्वपूर्ण कार्यभार है। एक समाजवादी राज्य के लिए जरूरी है कि वह सर्वप्रमुख तौर पर विश्व सर्वहारा क्रान्ति के समर्थन और प्रसार के लिए एक "आधार क्षेत्र" का कार्य करे। दिशा-सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण बिन्दु, जिसपर, '*शंघाई टेक्स्टबुक*' में जोर दिया गया है, वह यह है कि सर्वहारा क्रान्ति की अंतिम विजय केवल अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर ही हासिल की जा सकती है और मजदूर वर्ग तबतक मुक्त नहीं हो सकता जबतक कि पूरी मानवता मुक्त न हो जाये।

दूसरी बात यह है कि समाजवादी क्रान्ति की जटिलता स्वयं समाजवाद की प्रकृति में ही शामिल है। ऐतिहासिक अनुभव ने स्पष्ट कर दिया है कि समाजवाद समाज का एक अनन्य, संक्रमणकालीन रूप है। यह बात आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और विचारधारात्मक – सभी स्तरों पर लागू होती है। उदाहरणस्वरूप, समाजवाद के अन्तर्गत माल उत्पादन के ही सवाल को लें, जो इस *टेक्स्टबुक* में विस्तारपूर्वक लिया गया है।

माल-उत्पादन वाली व्यवस्थाओं में, जिसका कि पूंजीवाद सर्वाधिक विकसित टाइप है, चीजें विनियम (यानी दूसरों को बेचने) के लिए पैदा की जाती हैं। विनियम की यह प्रक्रिया श्रम के बहुविध विभाजनों पर आधारित है (लोग इस या उस क्रियाकलाप में विशेष योग्यता प्राप्त करते हैं), और ये श्रम-विभाजन इस विनियम-प्रक्रिया द्वारा और गहरे और व्यापक बनते जाते हैं। बिकाऊ मालों के उत्पादक वस्तुगत तौर पर एक दूसरे से जुड़े होते हैं – वे आपूर्तिकर्ता और ग्राहक के रूप में एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं। लेकिन सामाजिक तौर पर वे एक दूसरे से अलग-थलग भी होते हैं – कारण कि उत्पादन की अलग-अलग इकाइयां निजी नियंत्रण में होती हैं, और अलग-अलग ढंग से ही उत्पादन सम्बन्धी निर्णय लेती हैं। कहने का मतलब यह कि इनमें उत्पादों का सृजन उत्पादन के अलग-अलग अभिकर्ताओं की सम्पत्ति के तौर पर किया जाता है। क्या और कितनी मात्रा में उत्पादन किया जाये, और श्रम का आवंटन कैसे किया जाये – इन सबको निर्धारित करने वाली सामाजिक प्रक्रिया सचेत तौर पर समाजव्यापी तालमेल का परिणाम नहीं होती, बल्कि यह मालों के विनिमय के जरिये चरितार्थ होती है। अलग-अलग माल-उत्पादन इकाइयां बाजार और दाम के संकेतकों के अनुरूप होती हैं, जो अन्ततः सामाजिक उत्पादन की अन्तर्निहित दशाओं को ही प्रतिबिम्बित करती हैं।

उत्पादन का बिकाऊ माल वाला स्वरूप उन वास्तविक सामाजिक सम्बन्धों को धुंधला और विकृत कर देता है जो व्यक्तियों को एक-दूसरे से जोड़ने का कार्य करते हैं। यह स्वरूप इस प्रकार कार्यरत प्रतीत होता है मानों चीजें (बिकाऊ माल और मुद्रा) सामाजिक सम्बन्धों को अभिव्यक्त करने के बजाय स्वयं अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका के एक नव-उपनिवेश, दक्षिण कोरिया में, अतिशोषित मजदूरों द्वारा एक नाइक स्नीकर पैदा किया जाता है। लेकिन इतनी महत्वपूर्ण सामाजिक सूचना कीमत द्वारा सम्प्रेषित नहीं होती। लोग अपने आपको चीजों के सम्बन्ध, में ही परिभाषित करते हैं, और चीजों को हासिल कर लेना ही सबकुछ और अन्तिम होता है, जब कि स्वयं लोगों को चीजों के रूप में ही समझा और इस्तेमाल किया जाता है। माल उत्पादन यह विभ्रम पैदा करता है कि हम सभी निजी कारक तत्व हैं जो अपने निजी उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में एक-दूसरे से अलग-थलग कार्यकलाप करते हैं, और सर्वहारा समेत – जिसका सारभूत बिकाऊ माल उसकी काम करने की योग्यता (श्रमशक्ति) ही होता है – स्वतंत्र माल उत्पादकों/विक्रेताओं का प्रतियोगितात्मक संघर्ष ही "मैं पहले" वाली मानसिकता या एक बाजार आधारित समाज के मूल में निहित होता है। पूंजीवादी माल उत्पादन के अन्तर्गत, प्रत्येक चीज "हृदयहीन गणना" (लेनिन की उक्ति) के अधीन हो जाती है; जो चीज कीमत के रूप में दर्ज नहीं होती वह गौरतलब भी नहीं मानी जाती।

समाजवादी समाज के लिए माल उत्पादन को प्रतिबन्धित और अन्ततः खत्म कर देना आवश्यक है; यदि ऐसा न हो, तो नया समाज निर्मित नहीं हो सकता। क्यों? इसलिए कि माल उत्पादन और उसका नियमन करने वाले मूल्य के नियम[6] को यह निर्धारित करने की इजाजत नहीं दी जा सकती कि क्या और कैसे पैदा किया जाये; यदि मुनाफा-दक्षता के विचार अहम् बन जायें, तो सामाजिक आवश्यकता – जन समुदायों की बुनियादी आवश्यकताएं और हित पूरी नहीं की जा सकती। कारण कि माल उत्पादन और मुद्रा के जरिये विनिमय में ही पूंजीवादी उत्पीड़न के कीटाणु निहित होते हैं: उत्पादन के साधनों से मजदूरों के अलगाव और उजरती श्रम के शोषण के रूप में। माल उत्पादन और उसके द्वारा पैदा किये जाने वाले विभाजनों और अलगावों में ही तो वह अवरोध निहित है जो लोगों को अपनी सामाजिक सम्बद्धता को ठीक से समझने और अपने सामाजिक संगठन में प्रवीणता हासिल करने तथा, मार्क्स के शब्दों में, "उत्पादन के साधनों पर साझा स्वामित्व के साथ अपना काम करने वाले स्वतंत्र व्यक्तियों के समुदाय" के रूप में अपनी गतिविधि चलाने से रोकता है।

शंघाई टेक्स्टबुक स्पष्ट करती है कि कैसे समाजवादी समाज सामाजिक उत्पादन को संगठित करने वाले एक प्राथमिक माध्यम के रूप में उत्पादन के माल रूप (और मुद्रा-सम्बन्धों) को ठोस रूप में अपने अधीन कर लेता है। यह स्पष्ट करती है कि कैसे सर्वहारा वर्ग अर्थव्यवस्था को एक भिन्न तरीके से (सामाजिक आवश्यकता के अनुसार सामाजिक रूप से नियोजित उत्पादन के रूप में) संगठित करने के लिए "प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादन" का एक रूप चालू करने के लिए आगे बढ़ता है; श्रम प्रक्रिया को रूपान्तरित करने के लिए आगे बढ़ता है (जिसमें कि उत्पादक उत्पादन की दशाओं पर प्रभावी हों, न कि इसके उलट स्थिति हो) और एक भिन्न सामाजिक मनोविज्ञान विकसित करने के लिए आगे बढ़ता है (ताकि लोग सबके हित में काम करें)। लेकिन उत्पादन का यह नया प्रकार माल के संस्कारों से पूरी, तरह मुक्त नहीं होता और न ही हो सकता है। समाजवाद के अन्तर्गत माल-मुद्रा सम्बन्धों के विविध प्रकार मौजूद रहते हैं और लोगों की सोच को प्रभावित भी करते रहते हैं। श्रम की समतुल्य मात्राओं पर आधारित विनिमय का सिद्धान्त अभी भी अपनी भूमिका अदा करता रहता है। समाजवादी उद्यमों के लिए दक्षता पर ध्यान देना तथा नियोजित लागत और किसी चीज को पैदा करने की वास्तविक लागत के बीच तुलना करने के लिए मौद्रिक गणना का इस्तेमाल आवश्यक बना रहता है। टेक्स्टबुक इसके कारणों तथा इनके चलते पैदा होने वाली जटिलताओं और उपस्थित होने वाले खतरों की छानबीन करती है। इसी तरह, समाजवादी समाज में भले ही मजदूर वर्ग शासन करता है और वर्गों एवं वर्ग-विभेदों को खत्म करने का लक्ष्य रखता है, फिर भी समाजवादी समाज वर्गों, वर्ग-विभेदों और असमानताओं को पैदा करता रहता है जिनकी अभिव्यक्ति वर्ग-शत्रुताओं के रूप में होती रहती है। समाजवाद एक ऐसा समाज होता है जिससे पूंजीवाद में उलटाव का खतरा हर जगह मौजूद रहता है।

बेशक कोई यह कर सकता है कि समाजवाद की परिभाषा में से उसकी जटिलता को ही खारिज कर दे और यह कहे कि चूंकि सोवियत संघ में 1917-53 के दौरान और चीन में माओ के नेतृत्व के अन्तर्गत मजदूरों का शासन मार्क्स द्वारा पूर्वरूल्पित महत्वपूर्ण तरीकों से मेल नहीं खाता था, इसलिए वहां जो कुछ था वह वास्तव में समाजवाद था ही नहीं। कुछ लोग यही बात कहते हैं। दूसरे जो वास्तविक कठिनाई को महसूस करते हैं, यह निष्कर्ष देते है कि समाजवाद बस विफल भर हुआ है और निश्चय ही उसे पुनरान्वेषित किया जाना चाहिए[7] इन पहुंच-प्रयासों के चलते यथार्थ जीवन की जटिलता ही अमूर्त और भाववाची कोटियों में तब्दील हो जाती है। और इससे भी बुरी बात यह है कि वे उस समृद्धि और मुक्तिपरक अनुभव को ही नकार देते हैं जिसे समाजवादी क्रान्ति, अपनी तमाम कठिनाइयों और विफलताओं के बावजूद, यथार्थ में प्रदान कर चुकी है।

सोवियत संघ : छलांग एवं सीमाएं

अब हम बोल्शविक क्रान्ति और सोवियत संघ की चर्चा पर आते हैं। अक्तूबर क्रान्ति मजदूर वर्ग के राज्य का पहला उदाहरण थी जिसने पूर्व के सम्पत्तिशाली वर्गों का स्वहरण किया और अर्थव्यवस्था का एक समाजवादी रूप स्थापित किया। निजी तौर पर नियंत्रित उत्पादन के साधनों को सार्वजनिक सम्पति में रूपान्तरित कर दिया गया और विकास को सचेत नियोजन के अधीन ला दिया गया। मजदूरों और किसानों ने अपनी पार्टी और राज्य के उपक्रमों के जरिये समाज के आर्थिक संसाधनों के सामूहिक नियंत्रण और युक्तिसंगत इस्तेमाल की व्यवस्था शुरू की। अर्थव्यवस्था के इस नियोजित रूप के लिए केवल समन्वय और सामाजिक लामबन्दी की ही जरूरत नहीं थी, बल्कि आर्थिक विकास और रूपान्तरण के एक मार्गदर्शक सिद्धान्त की भी जरूरत थी। और इस प्रकार, इस प्रथम मजदूर राज्य में ही यह संभव हुआ कि समाजवाद के राजनीतिक अर्थशास्त्र में अनुसंधान का श्रीगणेश हुआ और एक सुव्यवस्थित राजनीतिक अर्थशास्त्र पहली बार प्रस्तुत हुआ। यह एक सैद्धान्तिक उद्यम था जो खोज की अन्त:प्रेरणा, बहस-मुबाहसा, और उस आवेग से अनुप्राणित था जो क्रान्ति के आरंभिक वर्षों की अभिलाक्षणिक विशिष्टता थे। परन्तु यह सब कोई अपने-आप में सीमित एक बौद्धिक कसरत नहीं थी, और न ही ऐसा हो सकती थी। समझदारी और नीति-निर्धारण का विकासक्रम उस तीखे संघर्ष द्वारा रूपायित हुआ था जो कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर क्रान्ति की दिशा और जीवन्तता को लेकर आन्तरिक और बाहरी दोनों प्रकार की प्रतिक्रान्ति को परास्त करने के जीवन-मृत्यु के संघर्ष के रूप में चला था।

इस प्रथम प्रयास से जो चीज उभर कर सामने आयी वही समाजवादी समाज की प्रकृति और समाजवादी निर्माण के कार्यभार और तरीकों की एक निश्चित अवधारणा बनी। इसमें सैद्धान्तिक विकास के तत्व निहित थे, जो सोवियत समाज में हो रहे व्यापक परिवर्तनों को प्रतिबिम्बित करते थे। लेकिन दूसरी तरफ, समाजवादी अर्थव्यवस्था और समाज की समझदारी आंशिक ही बनी रही, जिसका कारण मुख्य रूप से ऐतिहासिक अनुभव की सीमाएं ही थीं। यह कमी कुछ कुंजीभूत मामलों में भी रही, जिसके कारण पहुंच और प्रणाली विज्ञान में निहित थे। यहां पर कुछेक सारभूत तथ्य इंगित किये जा सकते हैं।

सोवियत क्रान्ति एक विशाल किसान आबादी वाले पिछड़े पूंजीवादी देश में विजयी हुई थी (मजदूर वर्ग कुल आबादी का मात्र पांच प्रतिशत ही था)। यह तथ्य स्वयं में एक विकट चुनौती था। क्या यह क्रान्ति अपना समर्थन मजबूत कर सकती थी और जीवित रह सकती थी? क्या समाजवाद ऐसी परिस्थितियों में निर्मित किया जा सकता था, जबकि अति विकसित औद्योगिक आधार और बड़े पैमाने की कृषि जैसी भौतिक पूर्वदशाएं अभी मौजूद नहीं थीं? बोल्शेविक इन कठिनाइयों से भलीभांति वाकिफ थे। विजय के तात्कालिक जोशोखरोश में उन्हें इस बात की भारी आशा हो चुकी थी कि यूरोप के अपेक्षाकृत अधिक विकसित देशों में इस क्रान्ति के समर्थन में क्रान्तियां होंगी और समाजवाद का फैलाव होगा। लेकिन यूरोप में और खासतौर से जर्मनी में क्रान्ति की गति पृष्ठभूमि में चली गयी। बोल्शेविकों को जल्द ही यह स्पष्ट हो गया कि नव निर्मित सोवियत गणराज्य को शायद कुछ समय तक अकेले ही चलना होगा। लेनिन इस बात पर दृढ़ थे कि क्रान्ति अपना रास्ता स्वयं बनाती है: आखिरकार, बोल्शेविकों ने क्रान्ति करने के लिए जनसमुदायों का नेतृत्व करने का जब

6. मूल्य का नियम माल उत्पादक समाज का एक वस्तुगत नियम है। यह मालों के उत्पादन में खर्च हुए सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम की मात्राओं के अनुसार मालों के विनियम का नियमन करता है। पूंजीवादी माल विनिमय का नियमन करते हुए, यह नियम उत्पादन की विभिन्न शाखाओं मश्रम और उत्पादन के साधनों के वितरण का भी नियमन करता है। समाजवाद में श्रमशक्ति माल नहीं रह जाती।

7. यह दृष्टिकोण कि समाजवाद विफल हो चुका है और इसे फिर से नये रूप में लाया जाना चाहिए इस आलेख के अन्त में विवेचित किया गया हैं

जोखिम उठा ही लिया था, तो अब वे ही उसे आगे बढ़ाने का भी जोखिम उठाते। क्रान्ति को जीवित रहने के लिए संघर्ष करना ही था, और उसने किया भी। उसे विदेशी साम्राज्यवादी हस्तक्षेप का वरदहस्त पाये पुराने स्वामी वर्गों के प्रतिक्रान्तिकारी प्रयासों को कुचलना ही था। "युद्ध कम्युनिज्म" के उग्र परिवर्तनवादी बाजार-प्रतिबंधी उपायों से नि:सृत आर्थिक नीति अब नयी आर्थिक नीति के अल्पकालिक बाजार-विस्तारी प्रावधानों की ओर चल पड़ी।

लेकिन यह अपने जीवन के लिए लड़ रही *क्रान्ति* थी, और इसने आर्थिक और गहरे सामाजिक रूपान्तरण का काम जारी रखा। जनता के शासन के नये राजनीतिक और सामाजिक अवयव स्थापित किये गये, और संघर्ष की आंच में तपे मजदूर महत्वपूर्ण सरकारी और प्रबन्धकीय पदों पर कार्यभार संभालने लगे। पूर्व जारशाही के "राष्ट्रों का कारागार" खत्म हो गया: क्रान्ति ने आत्म-निर्णय के अधिकार को मान्यता दी, और राष्ट्रों एवं राष्ट्रीयताओं की समानता पर आधारित एक बहुराष्ट्रीय राज्य स्थापित हुआ। महिलाओं की मुक्ति के लिए भारी प्रयास किये गये – 1921 तक तलाक आसान बना दिया गया, गैरकानूनीपन का औपचारिक दाग मिटा दिया गया, गर्भपात कानूनी हो गया, तथा समान अधिकार और समान वेतन सम्बन्धी नीति और नियम बन गये। निरक्षरता को दूर करने के लिए व्यापक जन-अभियान चलाये गये (राष्ट्रीय भाषाओं के लिए लिखित भाषाएं सृजित की गयीं, जिनका पूर्व में अभाव था)।

1924 में लेनिन की मृत्यु के बाद वाले वर्षों में, यह सवाल फिर नये सिरे से और अधिक तीखे रूप में उठ खड़ा हुआ कि क्या आंतरिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक पिछड़ेपन तथा साम्राज्यवादी घेरेबन्दी के अन्तर्गत समाजवाद संभव है? स्तालिन ने इस दृष्टिकोण को लेकर संघर्ष किया कि क्रान्ति के निकट भविष्य में फैलने की न संभावना होते हुए भी सोवियत संघ में क्रान्ति के जीवित रहने और निरन्तर विकास के लिए तथा विश्व क्रान्ति की दिशा में आगे बढ़ने के लिए एक देश में समाजवाद का निर्माण किया जा सकता है और अवश्य किया जाना चाहिए। उस समय में सिर उठा रही वैकल्पिक अवस्थितियों के मद्देनजर, स्तालिन की अवस्थिति सबसे सही थी। लेकिन जैसा की बॉब अवाकिएन "कांकर द वर्ल्ड" में कहते हैं, "एक देश में समाजवाद" की बहस और संघर्ष ने एक हद तक इस सबसे महत्वपूर्ण सवाल को ला उपस्थित कर ही दिया....... आखिर समाजवाद है क्या?

सोवियत नेतृत्व ने समाजवाद की अभिलाक्षणिक विशिष्टता के तौर पर दो चीजों की शिनाख्त की थी: शत्रुतापूर्ण वर्गों का खात्मा, और राजकीय स्वामित्व के अन्तर्गत आधुनिक, बड़े पैमाने के उद्योगों की स्थापना। परन्तु ये ही वे समस्यामूलक धारणाएं थीं जिनकी माओ ने आलोचना की और माओवाद इसी की छानबीन करता रहा। जहां तक वर्गों का सवाल था, बोल्शेविकों के बीच प्रभावी दृष्टिकोण यह प्रचलित था कि एक बार जब उत्पादन के साधनों पर से निजी स्वामित्व का खात्मा कर दिया गया, तब शोषक/शोषित सम्बन्धों और बुर्जुआ वर्ग का आर्थिक और सामाजिक आधार भी खत्म हो गया। दूसरे शब्दों में, उखाड़ फेंके गये वर्गों के प्रतिरोध को तोड़ देने के बाद, वर्गों और वर्ग संघर्ष की कोई महत्वपूर्ण या निर्णायक भूमिका आर्थिक और राजनीतिक जीवन में नहीं रह गयी।

लेकिन बोल्शविक यह जानते थे कि वर्गों और सामाजिक ध्रुवीकरण का मुद्दा इतना आसान नहीं था कि आज्ञप्ति कर देने भर से शोषण का खात्मा हो जाता। लेनिन ने *राज्य और क्रान्ति* में समाजवाद के अन्तर्गत असमानता के बरकरार रहने पर बार-बार जोर दिया है और इस असमानता के मुख्यस्रोत के तौर पर मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच बरकरार विभाजन को इंगित किया है। 1920 के दशक में ही उन्होंने कुछ सरकारी अहलकारों के बीच नौकरशाहाना के भ्रष्टीकरण तथा समाजवाद के अन्तर्गत माल-सम्बन्धों के पुनरुत्पादन की समस्या से सम्बन्धित परिघटनाओं – और इनसे क्रान्ति के लिए उपस्थित होने वाले खतरों पर भी गहराई से सोचना आरम्भ कर दिया था। लेकिन यह सब मात्र आरंभिक छानबीन भर ही थी, जो समाजवाद के अन्तर्गत माल-उत्पादन को महज छोटे पैमाने के उत्पादन के साथ तथा वर्गों को महज निजी सम्पत्ति रूपों के साथ सम्बन्धित करने की प्रवृत्ति रखने वाली अवधारणा पर आधारित थी। "सार्वजनिक राजकीय" सम्पत्ति की जटिलता और अन्तरविरोधी प्रकृति को अभी उस समय तक समझा नहीं जा सका था– इस बिन्दु पर हम आगे फिर चर्चा करेंगे।

1930 के दशक के मध्य में, स्तालिन वर्ग के मुद्दे को इस रूप में सूत्रित करने की ओर प्रवृत्त हुए: पुराने सम्पत्तिशाली वर्गों को उखाड़ फेंकने तथा उद्योगों के राष्ट्रीकरण एवं कृषि के सामूहिकीकरण के साथ ही शोषण का आर्थिक आधार भी खत्म हो गया। अब समाज में दो अशत्रुतापूर्ण वर्ग ही रह गये, मजदूर वर्ग और सामूहिकीकृत किसान और इन्हीं के साथ जुड़ा हुआ बुद्धिजीवी समुदाय और सफेद कालर वाले समूहों का संस्तर। पुराने शासक वर्गों का वर्गों के रूप में सफाया कर दिया गया। जो कुछ बचे हैं वे इन उखाड़ फेंके गये वर्गों के अवशेष, अर्थात मात्र वे व्यक्ति भर हैं जो किसी न किसी रूप में क्रान्ति पूर्व वर्ग-संरचना से जुड़े हुए हैं। लेकिन पुरानी व्यवस्था के इन अवशेषों को तो महज बाहर से ही सहारा मिल सकता है; इस प्रकार समाज को खतरा बाहरी पूंजी द्वारा पोषित और समर्थित इन सत्ताच्युत वर्गों के एजेण्टों से ही हो सकता है। इस प्रकार, शत्रुतापूर्ण वर्गों और वर्ग-संघर्ष द्वारा समाजवादी समाज में अदा की जा रही महत्वपूर्ण भूमिका को नहीं देखा गया, कारण कि बुर्जुआ वर्ग के अस्तित्व को केवल निजी स्वामित्व के प्रत्यक्ष रूप से चिन्हित किये जा सकने के सन्दर्भ में ही देखा गया था। यह एक ऐसी नीति थी जो यथार्थ और सामाजिक व्यवहार से मेल नहीं खाती थी, कारण कि समाज तो वर्ग-विभेदों और अन्तरविरोधों से भरा ही हुआ था।

वर्ग की यह धारणा समाजवाद की विकासात्मक प्रस्थापनाओं की अवधारणा से जुड़ी हुई थी। उस समय समाजवाद को भौतिक तकनीकी रूपों में ही देखने की प्रवृत्ति थी। अर्थात, समाजवाद को सार्वजनिक स्वामित्व के अन्तर्गत उत्पादक शक्तियों के विकास का एक निश्चित स्तर प्राप्त कर लेना भर माना जाता था। इसी के अनुरूप साम्यवाद की प्राप्ति की एक विशिष्ट व्यवहारवादी और ऐतिहासिक पहुंच भी मौजूद थी। यह मान लिया गया कि उत्पादन के साधनों का राजकीय स्वामित्व और औद्योगीकरण समाजवाद के उच्चतर स्तरों और, अन्ततोगत्वा, साम्यवाद के अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण-सुसंगत मार्ग की ओर ले जायेंगे। समाजवादी औद्योगीकरण सामाजिक सम्बन्धों, श्रम-विभाजन, और वर्ग-समाज से विरासत में मिली विचारधाराओं के रूपान्तरण के लिए आधार और उत्प्रेरक का काम करेगा। यह उम्मीद की गयी थी कि ये परिवर्तन समाजवादी औद्योगीकरण की दिशा में लगभग स्वचालित समायोजनों के तौर पर होते रहेंगे। इस प्रकार, एक बार जब उत्पादन के साधनों का सामाजिक स्वामित्व हासिल कर लिया गया, तब कुंजीभूत कार्यभार बस भौतिक उत्पादक शक्तियों का विकास करना भर ही रह गया। सोवियत संघ को अपने पिछड़ेपन की विशिष्ट दशाओं के चलते, अपेक्षाकृत अधिक फैक्टरियों, मशीनरी, आधुनिक तकनोलॉजी, यातायात, और अवरचनागत ढांचे (इन्फ्रास्ट्रक्चर) की आवश्यकता थी; इसे अपेक्षाकृत अधिक प्रशिक्षित तकनीकी कर्मचारियों, इंजीनियरों आदि की आवश्यकता थी, और एक ऐसी शिक्षा प्रणाली चाहिए थी जो ऐसे लोग पैदा करने की दिशा में निर्दिष्ट हो; इस जनसंख्या को देहात से शहर की ओर स्थानान्तरित करने की आवश्यकता थी।

इस तरह, समाजवादी निर्माण को पूंजी-सघन भारी उद्योग[8] के तीव्र विकास हेतु संसाधन जुटाने का काम बना दिया गया। और उत्पादन के अधिकांश साधनों में निजी सम्पत्ति के कानूनी आधार के खात्मे तथा राजकीय स्वामित्व की स्थापना को इस गारण्टी के रूप में लिया गया कि औद्योगीकरण

8. यहां "पूंजी-सघन" का आशय "पूंजीवादी" से नहीं बल्कि एक व्यापक तकनीकी तंत्र वाले उद्योग से है जो "श्रम-सघन" उद्योग से इस मायने में विपरीतत: भिन्न होता है कि "श्रम-सघन" उद्योग में तकनॉलॉजिकी स्तर अपेक्षाकृत निम्न होता है और वह काफी हद तक मानव श्रम पर ही आधारित होता है।

मजदूर वर्ग के शासन के काम आयेगा। राजकीय सम्पत्ति-रूपों की जटिलता और अन्तरविरोधों को तथा इस तथ्य को समझा ही नहीं गया कि न्यायविधिक (औपचारिक/कानूनी) मजदूर-राजकीय स्वामित्व बुर्जुआ सम्बन्धों पर पर्दा डाल सकता है (*शंघाई टेक्स्टबुक* इस बिन्दु पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है, और राजकीय स्वामित्व के रूप से परे इसकी वास्तविक अन्तर्वस्तु पर सोचने की आवश्यकता पर बल देती है: राजकीय उद्यमों को वास्तव में कौन संचालित कर रहा है? क्या असमानताओं और विभेदों को प्रतिबंधित या विस्तारित करने वाली एक राजनीतिक-विचारधारात्मक दिशा कमान में है?)

ये खासतौर से या विशिष्ट रूप से बोल्शेविक या "स्तालिनवादी" धारणाएं ही नहीं थीं, यही अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर आमतौर पर प्रचलित समझदारी थी। लेकिन माओ ने इस अवधारणात्मक फ्रेमवर्क से विच्छेद कर लिया। उन्होंने समाजवाद के अन्तर्गत वर्गों और वर्ग संघर्ष का एक सिद्धान्त विकसित किया, और उसे समाजवादी समाज के भौतिक, सामाजिक और विचारधारात्मक अन्तरविरोधों पर आधारित किया। इस प्रकार उन्होंने समाजवाद की स्थापना की समस्याओं से निपटने की एक भिन्न पहुंच अख्तियार की। उन्होंने बताया कि तकनोलॉजिकीय प्रगति और आर्थिक विकास ही समाजवाद और साम्यवाद के बुनियादी गारण्टी नहीं है। महज उत्पादक शक्तियों में विकास (आर्थिक विकास) ही शोषणकारी सम्बन्धों और अन्य उत्पीड़नकारी सामाजिक एवं विचारधारात्मक सम्बन्धों (जैसे पितृसत्तात्मकता) का खात्मा नहीं कर सकता। माओ ने जोर देकर कहा कि आर्थिक विकास और आगे बढ़ रहे एवं गहराते जा रहे विचारधारात्मक रूपान्तरण के बीच एक द्वंद्वात्मक सम्बन्ध होता है: "यदि एक समाजवादी समाज सामाजिक रूप से सामूहिक उद्देश्यों को प्रोत्साहित नहीं करता, तो समाजवाद में रह ही क्या जाता है।"[9]

समाजवादी समाज के सम्मुख उपस्थित कुंजीभूत मुद्दा और उसके सम्पूर्ण चरित्र को निर्धारित करने वाला तत्व तो वह *मार्ग* ही है जिस पर वह चल रहा होता है। क्या वर्ग समाज के सम्बन्धों को अधिकतम सीमा तक खत्म करते जाना समाज के लिए सम्भव हो रहा है? क्या मजदूर वर्ग की मेहनत इस उद्देश्य के काम आ रही है? और क्या मजदूर वर्ग के पास अपने राज्य और राजनीतिक नेतृत्व के जरिये इस मार्ग पर आगे बढ़ते जाने और बने रहने की पूरी पहलकदमी है? संक्षेप में, कुंजीभूत बात यह है कि क्या क्रान्ति सभी मोर्चों पर गतिमान और गहरी हो रही है? यदि ऐसा नहीं हो रहा है, तो इसका मतलब यह है कि मजदूर वर्ग के सत्ताच्युत हो जाने का आधार तैयार हो रहा है, और पूंजीवादी पुनर्स्थापना हो सकती है। यदि क्रान्ति सतत गतिमान है, तो मजदूर वर्ग की राज्यसत्ता मजबूत होती जायेगी, तथा साम्यवाद के लिए संघर्ष भी आगे बढ़ता जायेगा। ऐसे समय भी आयेंगे ही जब क्रान्ति छलांग लगाकर आगे बढ़ेगी और ऐसा होना आवश्यक भी है, और ऐसे समय भी आ सकते हैं जब सुदृढ़ीकरण पर बल देना आवश्यक हो जाये, इसमें मोड़ और घुमाव भी आयेंगे। इसी तरंग-जैसी प्रक्रिया के जरिये क्रान्ति आगे बढ़ती है।

लेकिन यह सब अन्तरराष्ट्रीय फ्रेमवर्क के भीतर होता है और उसी के द्वारा – विश्व साम्राज्यवादी प्रणाली के विकास और अन्तरविरोधों के द्वारा – अनुकूलित होता है, जिसमें उसकी प्रतिद्वंद्विताएं, सैनिक हस्तक्षेप, तथा समाजवादी अर्थव्यवस्था पर साम्राज्यवादी विश्व अर्थव्यवस्था की संरचना और घुमावों के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव शामिल हैं, साथ ही, यह विश्वक्रान्ति को समाजवादी राज्य से मिलने वाली सापेक्षिक शक्ति, अग्रवर्ती छलांगों, और उससे की जाने वाली अपेक्षाओं से भी अनुकूलित होता है। दरअसल सर्वहारा क्रान्ति और उसके विकास की दशाओं को बुनियादी तौर पर एक अन्तरराष्ट्रीय प्रक्रिया के रूप में ही समझा जाना चाहिए। ऐसे ऐतिहासिक मोड़-बिन्दुओं पर जब कि विश्व क्रान्ति बड़े डग भर सकती हो, और ऐसे क्षण निश्चय ही भारी खतरे और संकट के भी क्षण होते हैं, पहले से चले आ रहे किसी समाजवादी राज्य के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह विश्व क्रान्ति को आगे बढ़ाने के लिए अपनी भौतिक और विचारधारात्मक ताकत को तदनुरूप निर्दिष्ट करने के लिए तैयार रहे। समाजवादी क्रान्ति के अनुभव का यही महत्वपूर्ण समाहार है।

इस समझदारी को दिमाग में रखते हुए, आइए हम सोवियत सिद्धान्त और व्यवहार पर लौटें। समाजवाद का पहले विवेचित किया जा चुका दृष्टिकोण सोवियत राजनीतिक अर्थशास्त्र में गहराई से पैठा हुआ था। इसका स्पष्ट सबूत तो औद्योगीकरण की रणनीति के ऊपर चली उस बहस में ही मिल चुका था जो 1920 के दशक में शुरू हुई थी और उस आर्थिक सिद्धान्त में भी मिल चुका था जो 1929-32 तक के वर्षों में प्रथम पंचवर्षीय योजना के कार्यान्वयन और कृषि के सामूहिकीकरण के लिए मार्गदर्शक बना था। इस दौरान महत्वपूर्ण कार्यभार लिया गया था, यह व्यावहारिक समाजवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का सही और सृजनात्मक आरंभ था, और इसके तहत ढेर सारा नया साहित्य रचा गया। जिन मुद्दों पर सैद्धान्तिक विचार-विमर्श चले, वे थे: समाजवादी निर्माण की प्रकृति; सर्वहारा को विरासत में मिली और रूपान्तरित किये जाने की अपेक्षा रखने वाली आर्थिक संरचना तथा क्रान्ति के लिए अभीष्ट आर्थिक संरचना के बीच सम्बन्ध, औद्योगीकरण के तरीके और रूप; निवेश की प्राथमिकताएं और निवेश संसाधन पैदा करने के उपाय; समाजवादी विकास के लिए वांछित उत्साह; अन्तरक्षेत्रीय सम्बन्ध (जैसे कृषि और उद्योगों के बीच) और क्षेत्रों के भीतर तथा बाहर भौतिक संतुलन कायम करना (आज जिसे निवेश-उत्पाद विश्लेषण कहा जाता है उसके प्रणेता सोवियत अर्थशास्त्री ही थे); आर्थिक लेखाजोखा में, समाज के अधिशेष (सरप्लस) के संयोजन में, तथा शहरी और ग्रामीण आबादी के बीच आय के वितरण में संतुलन स्थापित करने में मुद्रा और कीमतों की भूमिका। नियोजन के काम आने वाली गणितीय तकनीकों के विकास के लिए अग्रिम धनराशियां भी निर्धारित की गयीं।[10]

और यही *राजनीतिक* अर्थशास्त्र था। इसमें विचार-विमर्श के दौरान सामाजिक और राजनीतिक मुद्दे भी उठाये जाते थे – जैसे मजदूर-किसान संश्रय और अन्य सामाजिक सम्बन्धों पर विभिन्न नीतियों के प्रभाव। आर्थिक समस्याओं और नीतियों को भिन्न सीमाओं में, पुरानी सामाजिक व्यवस्था को नयी सामाजिक व्यवस्था में तब्दील किये जाने के सन्दर्भ में ही देखा जाता था। लेकिन कुल मिलाकर, व्यवहार में अमल किया जा रहा राजनीतिक अर्थशास्त्र अपने आप में निर्णायक तौर पर उत्पादनवादी और तकनीकवादी तेवर ही लिये रहा। एक तरफ, जिस व्यापक प्रेरणा से यह खोजबीन और बहस संचालित होती थी वह इस आवश्यकता के तहत ही थी कि कैसे आधुनिक तकनीक पर आधारित राजकीय उद्योगों का सबसे तेजी से विस्तार किया जाय, कारण कि इसे ही समाजवाद का बुनियादी आधार समझा जा रहा था। दूसरी तरफ, इस लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में नियोजन का जो पहुंच-प्रयास किया जा रहा था उसकी प्रवृत्ति तकनीकी गतिविधि के रूप में ही थी, और इसे मुख्यत: उत्पादक शक्तियों को बुद्धिसंगत ढंग से संगठित करने और विकास को संयोजित करने के उपाय के रूप में ही लिया जा रहा था।

1917-56 तक के वर्षों में, जबकि सोवियत संघ एक समाजवादी समाज बना रहा, एक समाजवादी अर्थव्यवस्था के विकास और नियोजन का अनुभव अत्यन्त अन्तरविरोधी हुए बिना नहीं रह सकता था। इसका कारण सिर्फ यही नहीं था कि एक नयी चीज आजमायी जा रही थी, बल्कि यह सब बहुत ही कठिन और प्रतिकूल परिस्थितियों में किया जा रहा था। साम्राज्यवादी सैनिक खतरों और घेरेबन्दी ने नयी सोवियत सत्ता को अपनी रक्षा के लिए सैन्य-उद्योग क्षमता विकसित करने की दिशा में संसाधनों को

9. माओ त्से तुङ सिकियाङ वान सुई (ताइपेई: एन.पी. 1969), पृष्ठ 197.

10. सोवियत संघ में समाजवादी आर्थिक सिद्धान्त के विकास तथा 1920 के दशक में आर्थिक रणनीति को लेकर चली बहसों के लिए देखें एन. स्पल्बर (समा.), फाउण्डेशन ऑफ सोवियत स्ट्रेट्जी फार इकानॉमिक ग्रोथ: सेलेक्टेड सोवियत एस्सेज 1924-30 (ब्लूमिंगटग: इण्डियामा यूनिवर्सिटी प्रेस, 1964); और मौरिस डॉब, सोवियत इकानॉमिक अलयमेण्ट सिंस 1917 (लन्दन: रुटलेज एण्ड केगन पॉ 1948)।

झोंकते जाने के लिए मजबूर कर दिया था, और जो तीव्र औद्योगीकरण किया जा रहा था उसकी समूची रणनीति को तथा अमल में लाये जा रहे औद्योगिक संगठन के रूपों को प्रभावित-अनुकूलित कर दिया था। वास्तव में, प्रथम मजदूर राज्य को ज्यादातर तो अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए ही युद्ध लड़ना पड़ा था, युद्ध की तैयारी करनी पड़ी थी, और युद्ध से हुई क्षतियों की भरपायी में संलग्न होना पड़ा था।

लेकिन यदि एक समाजवादी समाज और अर्थव्यवस्था निर्मित करने की चुनौतियां विकट थीं, तो उपलब्धियां भी वास्तव में उल्लेखनीय ही थीं। उत्पादन की एक ऐसी नयी प्रणाली स्थापित की जा चुकी थी जो न तो शोषण पर आधारित थी और न इसे कभी पूंजीवादी बाजार की शक्तियों के विनाशकारी आर्थिक संकटों का ही अनुभव करना पड़ा। एक आधुनिक समाजवादी औद्योगिक आधार और सामूहिकीकृत कृषि की एक प्रणाली सृजित हो चुकी थी। एक केन्द्रीय नियोजन की प्रणाली इतनी सक्षम बन चुकी थी कि यह आर्थिक विकास का चतुर्दिक मार्गदर्शन कर रही थी। यह नियोजन की प्रणाली ही थी जिसकी बदौलत यह सम्भव हो सका कि कुल औद्योगिक क्षमता में तेजी से बढ़ोत्तरी हुई, अपेक्षाकृत अधिक पिछड़े गणराज्यों और क्षेत्रों के विकास को प्रोत्साहन मिला, तथा जर्मन साम्राज्यवाद को पराजित करने के बहादुराना प्रयास के एक अंग के तौर पर स्मारकीय पैमाने पर संसाधनों और क्षमताओं को सुव्यवस्थित किया गया (कुछ ही सप्ताह के भीतर 1500 बड़ी फैक्टरियों को पूर्व की ओर स्थानान्तरित कर दिया गया)। प्रथम पंचवर्षीय योजना का नारा था: "हम एक नयी दुनिया बना रहे हैं" और लाखों-लाख मजदूर एवं किसान, खासतौर से, 1920 के दशक के अंत से लेकर 1930 के दशक के आरंभ तक, "स्वर्ग पर धावा बोल देने" के जोश में उठ खड़े हुए थे और यह सब वे विश्वक्रान्ति के लक्ष्य के लिए कर रहे थे।

सामूहिकीकरण ने देहाती क्षेत्रों में सदियों से चले आ रहे पुराने प्राधिकारों, परम्पराओं और दमन-उत्पीड़न के विरुद्ध एक वास्तविक उथल-पुथल की दावाग्नि भड़का दी थी। पुरानी शिक्षा प्रणाली आमूलचूल तौर पर बदल दी गयी थी और व्यापक जनता के लिए सुलभ कर दी गयी थी, तथा युवा मजदूरों को रूढ़ियों और दकियानूसी से निपटने के लिए एक सामाजिक शक्ति के रूप में लामबन्द कर लिया गया था। कलाकार, लेखक और दूसरे संस्कृतिकर्मी समाज में हो रहे भारी परिवर्तनों को चित्रित करने में लग गये थे, तथा क्रान्ति के काम आने वाली कला पर संघर्ष और बहसें चलने लगी थी। और यह नया मजदूर राज्य समूची दुनिया में क्रान्तिकारी संघर्षों की लाइन को समर्थन दे रहा था और उसे सूत्रित करने में मदद कर रहा था। लेकिन तब भी जोर आर्थिक मोर्चे पर केन्द्रित था, कारण कि इसी मोर्चे पर गम्भीर समस्याएं भी तो थीं।

सोवियत नियोजन प्रणाली समाज के निवेश संसाधनों के भारी हिस्से को कुंजीभूत औद्योगिक क्षेत्रों में झोंकने में समर्थ थी, इसी से तीव्र विकास भी हुआ। लेकिन इस प्रणाली ने भारी उद्योगों पर आवश्यकता से अधिक जोर दे डाला। नतीजतन इससे गम्भीर असंतुलन भी पैदा हुए, कारण कि भारी उद्यागों ने आर्थिक संसाधनों के एक भारी हिस्से को खपा लिया जिसकी कीमत किसानी कृषि को चुकानी पड़ी (और गौण रूप से, यातायात और वितरण के समुचित विकास को भी चुकानी पड़ी)। इसी के साथ ही, तीव्रगामी औद्योगिक विकास के लक्ष्य और बड़े पैमाने की निवेश-परियोजनाओं को दी जा रही प्राथमिकता के चलते-जिनमें से बहुतेरी पहले से ही औद्योगीकृत क्षेत्रों में स्थित थीं – शहरी आबादी में भारी वृद्धि भी हो गयी और औद्योगिक गतिविधियों का अनावश्यक संकेन्द्रण भी बढ़ गया। इसका प्रभाव शहर और देहात के बीच कुछ असमानताओं के बढ़ने में तथा पेशागत विशिष्टीकरण के अत्यधिक सीमा तक बढ़ जाने के रूप में भी पड़ा।

स्तालिन ने शहर और देहात तथा मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच इन अन्तरों को कम करने की आवश्यकता को महसूस किया था। लेकिन उन्होंने इस समस्या से निपटने के लिए मुख्यत: उत्पादन बढ़ाने के नजरिये से ही पहुंच – प्रयास अख्तियार किया। इस बात को पर्याप्त रूप से नहीं समझा जा सका कि कैसे इन अन्तरों और सम्बन्धों को तत्कालीन भौतिक दशाओं में अधिकतम समय सीमा तक पाबन्द किया जाये, कैसे उजरतों में अन्तरों को कम किया जाये, तथा कैसे जनसमुदायों को बुर्जुआ शक्तियों की उन लाइनों और नीतियों के विरुद्ध राजनीतिक संघर्ष में शामिल किया जाये जो शहर और देहात के बीच की खाई को चौड़ा करने वाली तथा मजदूर-किसान संश्रय को तोड़ने वाली थीं, और कि कैसे विशिष्टवर्गीयता (इलिटिसिज़्म) को, विशेषज्ञता की पूजा को, शारीरिक श्रम के प्रतिहीन भावना को, तथा पुरानी आदतों और विचारों को चुनौती दी जाये। यह राजनीतिक और विचारधारात्मक संघर्ष सारभूत रूप में महसूस नहीं किया जा सका।

इसके अतिरिक्त, नियोजन की संस्थाओं और तौर-तरीकों के साथ भी समस्याएं थीं। सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण और प्रबन्धन अति केन्द्रीकृत नियोजन-उपकरण पर ही आधारित थे। सोवियत नियोजन प्रणाली जो 1950 के दशक के आरम्भ तक विकसित हुई थी और जो खासतौर से दूसरे देशों द्वारा अपनाये जाने वाले एक मॉडल के रूप में औपचारिक बना दी गयी थी, उद्यम स्तर की एक-एक चीज पर शीर्षस्थ औद्योगिक मंत्रियों और नियोजन एजेंसियों के कड़े नियंत्रण को प्रश्रय देती थी। इस मॉडल के भीतर ही विशेषज्ञों और श्रेणीबद्धता पर एक निर्भरता निहित थी जो उत्पादकों की सचेत सक्रियता को उदासीन बनाती थी। इसकी सख्त प्राधिकारिक नीतियों और अकेले एक व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले प्रबन्धन के रूपों में ही श्रम के परम्परागत सामाजिक विभाजन के कुछ पहलू फिर से उत्पन्न करते रहने की प्रवृत्ति निहित थी। और प्रेरणा की दृष्टि से, यह प्रणाली अत्यधिक रूप से भौतिक प्रोत्साहनों पर तथा लोगों को अधिक से अधिक वेतन और बोनस देकर कड़ी मेहनत और कुर्बानी देने को प्रोत्साहित करने पर आधरित थी – इसी के चलते उजरत और आय के अन्तरों को एक निश्चित विचारधारात्मक समर्थन भी प्राप्त हो गया।

सोवियत नियोजन प्रणाली प्रशासनिक तौर पर बहुत भारीभरकम और नौकरशाहाना साबित हुई, जो अपने ऊपर अपनी क्षमताओं से कहीं अधिक कार्यभार लाद चुकी थी। जब भौतिक सामग्रियों के आंकड़े निर्धारित करने की बात आती थी (जैसे कि स्थानीय उद्यमों को कितने इस्पात की जरूरत होगी), और सामग्रियों के आवंटन की बात आती थी, तो यह प्रणाली इस ढंग से काम करती थी कि प्रत्येक चीज का हिसाब-किताब और नाप-जोख शीर्षस्थ स्तरों पर ही किया जाता था। नियोजन की यह कठोरता और निम्नतर स्तरों पर लचीलेपन के अभाव के चलते स्थानीय गतिशीलता बाधित होती रही जिसने अनपेक्षित परिस्थितियों के साथ समायोजन को और भी कठिन बना दिया। इसका नतीजा बर्बादी के रूप में तो हुआ ही, साथ ही इससे योजनाओं को और अधिक उपयुक्त रूप में संशोधित करने और लागू करने के काम को सुनिश्चित करना और भी कठिन हो गया।

माओ की अवधारणात्मक छलांग

माओ ने नियोजित समाजवादी अर्थव्यवस्था के इस मॉडल पर पुनर्विचार किया और इसे नये रूप में ढाला। एक तरफ जहां उन्होंने समाजवाद के निर्माण के इस प्रथम प्रयास के सकारात्मक पक्षों से सीख हासिल की, वहीं दूसरी तरफ, उन्होंने सोवियत नियोजन की अभिलाक्षणिकता बन चुकी ऊपर से नीचे की ओर काम करने के तौर-तरीकों और तकनोलॉजिकीय निश्चयवाद की इस जबर्दस्त प्रवृत्ति की आलोचना भी की। बेशक यह सही है कि समाजवादी निर्माण को एक ऐसे राजकीय आर्थिक नियोजन की आवश्यकता पड़ती है जो मजदूर वर्ग के बुनियादी हितों का प्रतिनिधित्व करे। लेकिन माओ ने केन्द्रीय नियोजन के इस सवाल को स्तालिन की अपेक्षा कहीं अधिक द्वंद्वात्मक ढंग से लिया। अर्थात, उन्होंने कृषि और उद्योग के बीच, भारी और लघु उद्योग के बीच केन्द्र और स्थानीयताओं के बीच, तथा संतुलन और असन्तुलन के बीच, विरोधों की एकता और संघर्ष को समझा। उन्होंने समझा

कि किसी योजना के सूत्रीकरण को या उसके अमल को एक हूबहू ब्लूप्रिंट के रूप में नहीं लिया जा सकता और कि उत्पादन के लक्ष्यों को ऐसे नहीं लिया जा सकता जैसे कि वे महज प्रशासनिक दबाव के अन्तर्गत काम करने वाले नियम हों। समाजवादी संक्रमण काल एक भारी संघर्ष, रूपान्तरण, और प्रयोगीकरण का काल होता है। समाजवाद एक गतिशीलता और परिवर्तन है और वही उसकी एक भारी ताकत भी है, जो उतनी ही अधिक होती जाती है जितनी कि जनसमुदायों को निर्बन्ध किया जाता है। और आर्थिक विकास इसे निश्चय ही प्रतिबिम्बित भी करता है; यह सपाट और समतल नहीं हो सकता। यह समझदारी निश्चित रूप से नियोजन के प्रणाली विज्ञान को सम्बोधित करती है।

अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण के एक तकनीकी उपकरण के तौर पर योजना के दृष्टिकोण के प्रति माओ ने एक और गहरे स्तर पर भी आलोचना प्रस्तुत की। उन्होंने बताया कि योजना, विचारधारा की, एक वर्ग के लक्ष्यों और दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति होती है। योजना सामाजिक यथार्थ का एक वर्ग-आधारित प्रतिबिम्ब होती है, जो यथार्थ पर क्रिया करती है, और जो मजदूर वर्ग और उसकी मुक्ति की दृष्टि से उत्पादन के सचेत, सामाजिक नियंत्रण का मार्ग प्रशस्त करती है।[11] किसी योजना का सूत्रीकरण कभी भी महज तकनीकी सूचना एकत्र करने और आर्थिक विकास का पूर्वानुमान करने का सवाल नहीं होता। इसके अन्तर्गत समाज के लक्ष्य और दिशा को लेकर विचारधारात्मक क्षेत्र में चलने वाला वर्ग-संघर्ष शामिल है। माओ सोवियत और चीन दोनों के क्रान्तिकारी अनुभवों का समाहार कर रहे थे।

आइए हम समाजवादी समाज की प्रकृति के बारे में माओ की कुंजीभूत अन्तर्दृष्टियों पर निकट से गौर करें। माओ ने जोर देकर कहा कि समाजवाद एक ऐसी आर्थिक मशीन और राजनीतिक संस्थाओं का एक ऐसा समुच्चय नहीं है जो बस टिक-टिक करके चलने लगे। यह मुनाफे के लिए उत्पादन के स्थान पर सामाजिक इस्तेमाल के लिए उत्पादन को लागू करने का एक महत्वपूर्ण संघर्ष होता है। यह एक ऐसा संघर्ष होता है जो समाज की सारी संस्थाओं और सम्बन्धों का क्रान्तिकारीकरण करता है, नये मूल्य और दृष्टिकोण पैदा करता है, और समाज पर मेहनतकश जनता का चौतरफा -नियंत्रण स्थापित करता है, ताकि मेहनतकश जनता समाज के सभी पक्षों का स्वामी बन सके और उसे रूपान्तरित कर सके, तथा सभी वर्ग-विभेदों को कम करते हुए अन्ततः उन्हें पूरी तरह समाप्त कर सके। संक्षेप में, यह पुरानी दुनिया को खत्म कर नयी दुनिया निर्मित करने का संघर्ष होता है। पूंजीवादी सिद्धान्तकार समाजवाद को मजाकिया ढंग से "मजदूरों का एक कल्पित स्वर्ग" कहकर हंसी उड़ाते हैं। लेकिन समाजवाद किसी प्रकार का हवाई लक्ष्य नहीं है। यह पूंजीवाद और साम्यवाद के बीच क्रान्तिकारी रूपान्तरण का एक काल होता है। यह वर्गशासन – सर्वहारा अधिनायकत्व – का एक रूप होता है जो अपनी संरचना में ही एक संक्रमण है और वर्ग समाज के भौतिक और विचारधारात्मक आधारों के रूपान्तरण और वर्गहीन समाज के लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु क्रान्ति को जारी रखने का एक माध्यम है।

माओ के अनुसार, समाजवाद एक अत्यन्त अन्तरविरोधी परिघटना है। एक तरफ यह एक महान छलांग है। उत्पादन एक योजना के अनुसार समाज की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए किया जाता है और यह सचेत सामाजिक पहलकदमी और सहकार के आधार पर संगठित होता है। इसमें श्रमशक्ति अब माल के रूप में नहीं खरीदी-बेची जाती; अब इसका नियंत्रण कोई विजातीय शक्ति नहीं करती; अब इसमें अधीनीकरण और अधिसेविता पैदा करने वाले आर्थिक सम्बन्ध नहीं पुनरुत्पादित होते। फिर भी, समाजवाद भले ही एक छलांग क्यों न हो, यह एक संक्रमणकालीन समाज ही बना रहता है, जिसमें पूंजीवाद के धब्बे और साम्यवाद के बीज दोनों ही मौजूद रहते हैं।

समाजवादी समाज या तो साम्यवाद की ओर जा सकता है या पुनः पूंजीवाद में लौट सकता है। दोनों ही रास्ते खुले होते हैं: समाजवादी मार्ग और पूंजीवादी मार्ग। और समाज किस दिशा में जायेगा – यह तीखे वर्ग संघर्ष और उथल-पुथल की भट्ठी में ही निर्धारित हो सकता है। यह एक ऐसा संघर्ष होता है जो समाज को संचालित और रूपान्तरित करने की आकांक्षा रखने वाले पहले के उत्पीड़ितों और प्रतिक्रियावादी ताकतों, यानी *खासतौर से उन नयी बुर्जुआ ताकतों* के बीच चलता है, जो पुरानी व्यवस्था फिर से बहाल करने और समाज को पूंजीवादी सिद्धान्तों के अनुसार फिर से गठित करने की फिराक में रहते हैं।

ये नयी बुर्जुआ शक्तियां समाजवादी समाज के अन्तरविरोधों – आय के अन्तरों, उत्पादन में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अख्तियार की गयी विशिष्टीकृत अवस्थितियों, लोगों द्वारा प्रशासन और नेतृत्व में अदा की जाने वाली विशिष्ट भूमिकाओं, शहर और देहात के बीच अन्तरों, तथा समाजवाद के अन्तर्गत अभी भी बरकरार अन्य प्रमुख सामाजिक अन्तरविरोधों से और साथ ही माल-मुद्रा सम्बन्धों के आम परिवेश से पैदा होती रहती हैं।[12] समाजवादी अर्थव्यवस्था की विशिष्ट इकाइयों और विशिष्ट क्षेत्रों में यह सम्भावना बरकरार रहती है कि नियंत्रण और शोषण के पूंजीवादी सम्बन्ध मजबूत हो जायें और यहां तक कि हावी भी हो जायें। और शिक्षा एवं संस्कृति जैसे अधिरचना के विविध तत्व भी एक बुर्जुआ-विशिष्टवर्गीय (इलीट) लाइन के प्रभावी हो जाने की दशा में सुदृढ़ बुर्जुआ दुर्ग बन सकते हैं।

यह नया बुर्जुआ वर्ग, एक वर्ग के तौर पर उत्पादन के समाजवादी सम्बन्धों के *भीतर* बुर्जुआ पक्षों असमानताओं, सामाजिक अन्तरों, आदि – तथा शोषण के उन वास्तविक सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करता है जो एक सामूहिक सम्पत्ति रूप के भीतर पनप सकते हैं। यह वर्ग सामाजिक स्वामित्व के फ्रेमवर्क के भीतर ही पैदा हो जाता है। एक राजनीतिक शक्ति के तौर पर इसकी ताकत समाजवादी समाज के नियंत्रणकारी पार्टी-राज्य उपकरण के शीर्षस्थ शक्ति केन्द्रों में संकेन्द्रित होती है और उन्हीं के जरिये संगठित भी होती है, जिनमें सशस्त्र सेनाएं भी शामिल हैं।[13] दूसरे शब्दों में, पुराने शोषक वर्गों के उखाड़ फेंके जाने, पुनः सत्तारूढ़ होने के लिए उनके द्वारा किये जाने वाले प्रयासों की पराजय, और नयी उत्पादन-प्रणाली के सुदृढ़ीकरण के साथ ही, वर्ग सम्बन्ध भी बदल जाते हैं तथा वर्ग संघर्ष का आधार और उसकी दशाएं भी परिवर्तित हो जाती हैं। जैसा कि माओ ने 1976 में कहा था, "आप समाजवादी क्रान्ति कर रहे हैं और अब भी नहीं जानते कि बुर्जुआ वर्ग कहां है। यह ठीक कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर ही है – सत्ता में बैठे वे लोग हैं जो पूंजीवादी राह पकड़े हुए हैं।"[14]

11. माओ के विपरीत, स्तालिन ने 1952 के अपने निबन्ध इकनॉमिक प्राब्लम्स ऑफ सोशलिज्म में नियोजन को, राजनीतिक अर्थशास्त्र के एक सैद्धान्तिक निरूपण के विपरीत, एक व्यावहारिक नीति-निर्देशित उद्यम के रूप में परिभाषित किया था।

12. समाजवादी राजकीय उद्यमों के सन्दर्भ में *शंघाई टेक्स्टबुक* का कहना है कि भले ही स्वामित्व का समाजीकरण कर दिया गया होता है और उद्यमों के बीच के सम्बन्धों को सामाजिक सहकार पर आधारित कर दिया गया होता है, फिर भी उद्यमों की पृथकता (कार्यसंचालन और प्रबन्धन की एक सापेक्षिक स्वतंत्रता) एक महत्वपूर्ण सीमा तक बरकरार रहती है जो प्रतिस्पर्द्धा और विभेदीकरण को जन्म दे सकती है।

13. माओ के लिए, आर्थिक नियोजन तथा पार्टी और राज्य के कार्य संचालन के दूसरे मामलों में नौकरशाही की समस्या महज एक प्रशासनिक अतिवृद्धि और विशिष्ट वर्गीयता की ही एक ऐसी समस्या नहीं थी, जिस पर काबू पा लेना हो। नौकरशाही संगठन का एक रूप भी है जिसके जरिये एक नया बुर्जुआ वर्ग अपना पुनरुत्थान करता रहता है, और यह नियंत्रण का एक तरीका भी है जिसके द्वारा यह नौकरशाही विशिष्ट क्षेत्रों में अपनी सत्ता सुदृढ़ करने की कोशिश करती है।

14. माओ त्से-तुङ, "रिवर्सिंग करेक्ट वर्डिक्ट्स गोज अगेंस्ट द विल ऑफ द पीपल", रिव्यू (II), 13 मार्च, 1976 में, तथा लोट्टा की कृति एण्ड माओ मेक्स फाइव, पृ. 261 में उद्धृत।

समाजवाद के अन्तर्गत वर्ग संघर्ष को ठीक से समझने के लिए माओ द्वारा पार्टी पर दिया गया ध्यान महत्वपूर्ण है। जनसमुदायों को अभी भी एक ऐसे नेतृत्वकारी कोर की आवश्यकता रहती है जिसके नेतृत्व में वे शासन करने और समाज को पुनर्निमित करने तथा विश्व-व्यापी पैमाने पर साम्यवाद का लक्ष्य हासिल करने के लिए जटिल और दीर्घकालिक संघर्ष चला सकें। जनता की राजनीतिक सत्ता के व्यावहारिक संचालन में सर्वहारा पार्टी ही नेतृत्वकारी राजनीतिक शक्ति बनती है। राजकीय-सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित शत्रु को नियंत्रित करने की यही मुख्य शक्ति बनती है। यह हरावल अवस्थिति और भूमिका सर्वहारा शासन के लिए अनिवार्य है। लेकिन इस हरावल अवस्थित का एक दोहरा चरित्र होता है – कारण कि वस्तुत: इसी नेतृत्वकारी संस्था के भीतर, और खासतौर से इसी के ऊंचे पदों पर, एक नया बुर्जुआ वर्ग संकेन्द्रित होता है। इस प्रकार, समाजवाद के अन्तर्गत पार्टी वर्ग संघर्ष के एक निर्णायक रणक्षेत्र के रूप में उभर कर सामने आती है और इसीलिए खुद इसका क्रान्तिकारीकरण किया जाना भी अनिवार्य हो जाता है।

समाजवादी समाज की अभिलाक्षणिकता यह होती है कि इसमें राजनीतिक और आर्थिक सत्ता के बीच अत्यन्त घनिष्ठ और सीधे सम्बन्ध होते हैं। इसमें केवल इतनी ही बात नहीं है कि उत्पादन के साधनों के आवंटन और प्रबन्धन की शक्ति एक संकेन्द्रित तरीके से (मंत्रालयों, वित्त, व्यापार तथा व्यक्तिगत उत्पादन इकाइयों आदि के ऊपर) राजनीतिक नेतृत्व के रूप में अभिव्यक्त होती है, बल्कि समाज की समूची गति की दिशा भी उस लाइन (उद्देश्यों और दृष्टिकोण) और नीतियों पर निर्भर करती है जो शीर्ष स्तरों पर नेतृत्वकारी रूप में चल रही होती है। सत्ता और प्रभुत्व की उच्चतम अवस्थितियों पर आरूढ़ जो लोग समाजवादी मार्ग को छोड़ देते हैं और अपने आपको जनसमुदायों से काट लेते हैं, तथा जो एक नवपूंजीवादी लाइन लागू करने की कोशिश करते हैं, वे ही अन्तत: एक बुर्जुआ सदरमुकाम गठित कर लेते हैं। ये "पूंजीवादी पथगामी" ही बुर्जुआ वर्ग (अपने मंतव्य में एक वास्तविक वर्ग) की मुख्य शक्ति होते हैं और ये ही जारी क्रान्ति के मुख्य निशाने भी। इन पूंजीवादी पथगामियों का राजनीतिक कार्यक्रम समाजवादी समाज के भीतर अपनी पकड़ मजबूत करते जाना और पूंजीवादी तत्वों का विस्तार करते जाना होता है ताकि वे समाजवादी स्वामित्व को महज एक खोखले खोल के रूप में तब्दील कर दें। और जब परिस्थितियां परिपक्व हो जाती हैं तब ये पूंजीवादी पथगामी सत्तारूढ़ हो जाने की अवश्य कोशिश करते हैं।

माओ के नेतृत्व में शुरू की गयी सांस्कृतिक क्रान्ति पूंजीवाद की पुनर्स्थापना चाहने वाली शक्तियों को शिकस्त देने का एक माध्यम और तरीका थी। जनसमुदायों की लामबन्दी और बहादुराना दृढ़निश्चयता के जरिये पार्टी और राज्य की संस्थाओं के भीतर के बुर्जुआ शक्तिकेन्द्रों पर राजनीतिक रूप से बमबारी की गयी, जिसके फलस्वरूप नेतृत्वकारी बुर्जुआ तत्वों को अपदस्थ कर दिया गया, और उनके द्वारा सत्ता के तमाम हिस्से जो नाजायज ढंग से हड़प लिये गये थे उन्हें नीचे से उठी क्रान्ति के जरिए फिर से वापस छीन लिया गया। इसमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि समाज को स्फुरणशील बना दिया गया, तथा जनव्यापी उथल-पुथल के आधार पर आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सम्बन्धों, एवं साथ ही जनता की चेतना का क्रान्तिकारीकरण हो गया। इस ढंग से, क्रान्ति को जारी रखकर, सर्वहारा वर्ग विशेषाधिकार के भौतिक और विचारधारात्मक आधारों पर, बुर्जुआ वर्ग पर, और उसके समर्थन आधार पर प्रहार करता है, सर्वहारा वर्ग उस जमीन को ही खोद डालता है जिससे वर्ग पैदा होते हैं।

समाजवादी समाज में वर्ग संघर्ष एक ऐसा संघर्ष होता है जो इस बात को लेकर चलता है कि एक योजना समाजवादी विकास के काम आयेगी या पूंजीवादी विकास के; सर्वहारा के श्रम के प्रतिफल वर्गों को खत्म करने का आधार निर्मित करने के लिए इस्तेमाल होंगे या उत्पादकों के विरुद्ध इस्तेमाल होंगे; समाज में मौजूद पूंजीवादी तत्व और विचार एवं संस्कृति के क्षेत्रों में हो रही उनकी अभिव्यक्तियां प्रतिबन्धित और खत्म की जायेंगी, या और फैलेंगी; समाज के संचालन में जनसमुदायों की भागीदारी और पहलकदमी की सम्भावना बढ़ेगी, या बाधित हो जायेगी; समाजवादी राज्य विश्वक्रान्ति के लिए एक आधारक्षेत्र का काम करेगा, या अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा से मुंह मोड़ लेगा? संक्षेप में, क्रान्ति जारी रहेगी, या पलटा खा जायेगी?

बेशक अर्थव्यवस्था का विकास आवश्यक है तथा सामाजिक श्रम की उत्पादकता भी अवश्य ही बढ़नी चाहिए। लेकिन, उत्पादक शक्तियों का विकास अपने आप में ही एक उद्देश्य नहीं बन जाना चाहिए, और न ही इसे अधिकाधिक भौतिक कल्याण करते जाने का मार्गदर्शन सिद्धान्त बन जाना चाहिए, बल्कि इसे तो वर्ग-विभाजनों से रहित समाज के एक उच्चतर रूप प्राप्त करने के संक्रमणकालीन और क्रान्तिकारी संघर्ष के मूल उद्देश्य के रूप में सामाजिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक रूपान्तरणों को आगे बढ़ाने के लिए एक आवश्यक भौतिक आधार प्रदान करना चाहिए। राजनीति का उत्पादन पर नियंत्रण आवश्यक है। और माओ ने जोर देकर कहा भी कि उत्पादक शक्तियों का विकास उत्पादन-सम्बन्धों और लोगों के दृष्टिकोण का सतत क्रान्तिकारी करने *के आधार पर* ही किया जाना चाहिए। जैसा कि माओ ने कहा था, वर्ग संघर्ष ही कुंजीभूत कड़ी है; क्रान्ति को गहराई से समझो, उत्पादन को आगे बढ़ाओ।

लेकिन एक बार जब राजनीतिक नेतृत्व इस अवस्थिति से बहक जाता है, एक बार जब उत्पादन को ही समाज के आगे बढ़ने की कुंजीभूत कड़ी मान लिया जाता है तथा उत्पादन के "सर्वाधिक सक्षम" तरीके ही जब सबसे महत्वपूर्ण मानक बन जाते हैं, तब उत्पादन ही अपने आप में एक उद्देश्य बन जाता है, और मृतश्रम (अर्थात पिछले श्रम द्वारा उत्पादित उत्पादन के साधन) जिन्दा श्रम पर प्रभुत्व जमा लेता है – और तब आप पूंजीवादी राह पकड़ लेते हैं। एक बार जब नियोजन प्रशासन और नियंत्रण की तकनीकी गतिविधि के अर्थ में हो जाता है, तब योजना और कुछ न होकर बस सर्वहारा को अपने अधीन करने लगती है – और इस प्रकार आप पूंजीवादी मार्ग पर चले जाते हैं।[15]

वर्गों और वर्ग-विभेदों से रहित एक दुनिया का निर्माण करने, समाजवादी क्रान्ति करने तथा उसे गहरा बनाते जाने के संघर्ष में मार्क्सवाद को नयी-नयी समस्याओं के समुच्चय से जूझने तथा ऐसी नयी अवधारणाएं सूत्रित करने की आवश्यकता पड़ती है जो समाजवादी समाज की जटिलता के अनुरूप हों। माओ त्से-तुङ ने मार्क्सवाद के दायरे को निर्णायक रूप से विस्तारित किया। ऐसा उन्होंने सैद्धान्तिक स्तर पर यह अवधारणा प्रस्तुत करते हुए किया कि समाजवाद वर्ग-समाज का ही एक संक्रमणकालीन रूप होता है। और राजनीतिक स्तर पर ऐसा उन्होंने इस बाबत एक दिशा विकसित करते हुए किया कि कैसे समाज का संचालन किया जाये कि वह वर्ग संघर्ष चलाते हुए क्रान्ति को निरन्तरता बनाये रखे। माओ ने समाजवाद से साम्यवाद में संक्रमण से सम्बन्धित अर्थशास्त्र और राजनीति की उस समय तक उपलब्ध समस्त समझदारी को क्रमव्यवस्थित किया। इस विषय में यह भी कहा जा सकता है कि माओ की बदौलत ही मजदूरों के आन्दोलन के

15. स्तालिन बहुत अधिक इन्हीं त्रुटिपूर्ण पहुंच – प्रयासों के शिकार हुए, और उनके द्वारा आगे बढ़ायी गयी बहुतेरी आर्थिक नीतियों ने पूंजीवादी पुनर्स्थापित की शक्तियों को बल प्रदान किया। लेकिन निश्चय ही इसे वास्तविक सन्दर्भ में रखकर देखना चाहिए। पहली बात तो यह कि इसके पूर्व का कोई ऐसा समाजवादी अनुभव – चाहे सकारात्मक या नकारात्मक – उपलब्ध नहीं था; जिसको पैमाना बनाया जाता। दूसरे, अपनी सारी गलतियों के बावजूद स्तालिन पूंजीवाद नहीं बल्कि समाजवाद ही निर्मित करने का प्रयास कर रहे थे, और सच बात तो यह थी कि वह अपने आप को उन सभी के विरुद्ध मुस्तैद रखते थे जो नियोजन और आर्थिक निर्माण को नियंत्रण में लेकर उसे मुनाफे के तंत्र में तब्दील कर देना चाहते थे।

इतिहास में पहली बार समाजवाद का एक वैज्ञानिक और सुस्पष्ट राजनीतिक अर्थशास्त्र स्थापित हुआ। *शंघाई टेक्स्टबुक* इसका विश्वसनीय प्रमाण है।

शंघाई टेक्स्टबुक : इसका इतिहास और विरासत

यद्यपि *शंघाई टेक्स्टबुक* को समाजवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का एक श्रमसाध्य विवेचन माना जाता है, फिर भी यह भारी संख्या में पढ़ी जाती है। इसका मूलपाठ और विपुलतर साहित्य जिससे कि यह नि:सृत किया गया है, संघर्ष और अध्ययन की एक प्रक्रिया के प्रतिफल हैं।

जब चीनी क्रान्तिकारियों ने 1949 में अपनी देशव्यापी सत्ता कायम कर ली, तभी से समाजवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र प्रचण्ड सैद्धान्तिक सरोकार का विषय बन गया। चीन राष्ट्रीय-जनवादी क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति की ओर संक्रमण कैसे करे? चीन की ठोस परिस्थितियों में समाजवादी विकास का रास्ता क्या हो? कैसे एक समाजवादी चीन सोवियत नेतृत्व वाले समाजवादी शिविर से अपना सम्बन्ध बनाये, कैसे साम्राज्यवाद की शक्तियों का मुकाबला करे, और कैसे अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर क्रान्तिकारी संघर्षों की मदद करे? ये ही सवाल उन महत्वपूर्ण मुद्दों में से थे जो सत्तारूढ़ क्रान्ति के सम्मुख उपस्थित हुए थे। और ये मुद्दे समाजवादी विकास और नियोजन की अपेक्षाकृत अधिक विशिष्ट समस्याएं उजागर कर रहे थे मसलन, औद्योगीकरण और कृषि के सामूहिकीकरण के बीच सम्बन्ध, निवेश की प्राथमिकताएं, मूल्य के नियम और नियोजन, उत्पादक शक्तियों के विकास को आगे बढ़ाने में विभिन्न प्रोत्साहन प्रणालियों की भूमिका, विकसित तकनोलॉजी का स्थान, आदि।

चीनी कम्युनिस्ट समाज के रूपान्तरण और संचालन में जनसमुदायों का नेतृत्व करने में कोई अनाड़ी नहीं थे। उनके पास 20 वर्षों से अधिक समय तक चलते रहे लोक-युद्ध का मूल्यवान अनुभव और समझदारी संचित थी। 1920 के दशक के अन्त से लेकर, जापान विरोधी युद्ध के दौरान और उसके बाद 1945 तक यानी लगभग एक दशक तक, तथा 1949 में राष्ट्रव्यापी विजय होने के पूर्व तक, पार्टी ने क्रान्ति के आधार-क्षेत्रों की भारी आबादी को आर्थिक निर्माण और रूपान्तरण के साथ सैनिक कार्रवाई करने के लिए भी लामबन्द कर दिया था। और माओ की युद्ध-नीति भी केन्द्रीकृत युद्ध-संचालनों के सिद्धान्तों से लैस थी, जिसमें व्यापकतर-व्यावहारिक प्रयोग की संभावनाएं निहित थीं। साथ ही, यह माओवादी पार्टी की परम्परा भी थी कि जनसमुदायों के बीच उनकी आवश्यकता और अनुभवों को समझने के लिए गहन सामाजिक अनुसंधान किये जायें तथा जनसमुदायों को ऐसी कार्यदिशाओं और नीतियों का पक्षधर बनाया जाये जो उनके उच्चतर हितों को घनीभूत करने वाली है। लेकिन समाजवादी निर्माण की दिशा में आगे बढ़ने के लिए सबसे प्रासंगिक उदाहरण सोवियत संघ ही था। उसने एक पूर्ण प्रौढ़ समाजवादी अर्थव्यवस्था विकसित और प्रबन्धित करने में अग्रणी भूमिका अदा की थी, और इसलिए चीन की नियोजन और विकास सम्बन्धी आरम्भिक पहुंच भारी रूप में सोवियत अनुभव और विकास से प्रभावित रही।

चीनी लोगों ने स्तालिन के निबन्ध, '*इकनॉमिक प्राब्लम्स ऑफ सोशलिज्म*' (1952) और साथ ही एक बोधगम्य सोवियत पाठ्यपुस्तक, *पोलिटिकल इकॉनमी : ए टेक्स्टबुक*, का अनुवाद और गहन अध्ययन किया था। यह सोवियत पाठ्यपुस्तक जिसकी रूपरेखा स्तालिन के उक्त निबन्ध के बाद 1950 के दशक के मध्य तक भी प्रकाशित नहीं हो सकी थी, माओवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र में बार-बार चर्चा में आती है। यह क्रान्तिकारियों को उपलब्ध होने वाली समाजवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की सबसे उन्नत और सुव्यवस्थित कृति थी। 1959 में, माओ ने पार्टी सदस्यों को निर्देश दिया कि वे कुछ निश्चित समस्याएं दिमाग में रखकर सोवियत राजनीतिक अर्थशास्त्र की इस पाठ्यपुस्तक के तीसरे संस्करण का अध्ययन करें। लेकिन जल्द ही यह पुस्तक अपने प्रणाली विज्ञान और साथ ही अपने विशिष्ट सैद्धान्तिक समीकरणों के चलते माओ की आलोचना की वस्तु बन गयी।

चीन ने समाजवादी निर्माण का आरम्भ करते हुए काफी हद तक सोवियत नियोजन और विकासपरक औद्योगीकरण मॉडल का ही अनुसरण किया – "आओ हम आधुनिक और सोवियत बनें" ही प्रथम पंचवर्षीय योजना का नारा था। लेकिन जब योजना का 1956-57 का वर्ष निकट आया, तब बहुतेरे मिश्रित परिणाम सामने आने लगे। अब माओ सोवियत मॉडल पर पुनर्विचार करने लगे। भारी निवेश परियोजनाओं ने संसाधनों की भारी मात्रा को लील जाने का खतरा उपस्थित कर दिया; कृषि की विकास-दरें बढ़ाने के लिए अधिक ध्यान और प्रेरणा दिये जाने की जरूरत महसूस होने लगी, नियोजन के विधान और प्रबन्धन के तरीके जनसमुदायों की भागीदारी को प्रोत्साहित नहीं कर रहे थे। इस अवधि में क्रान्ति भी उच्चतर स्तरों की ओर गति कर रही थी (शहरों में उद्योगों का राष्ट्रीकरण पूरा होने जा रहा था, और देहाती क्षेत्रों में सामूहिकीकरण आगे बढ़ रहा था) और नये-नये सामाजिक संघर्ष सामने आ रहे थे।[16] 1956 में "दस मुख्य सम्बन्धों पर" अपना व्याख्यान देते हुए माओ ने विकास की प्राथमिकताओं को लेकर एक भिन्न पहुंच प्रस्तुत की जिसमें भारी उद्योगों के मुकाबले (परन्तु भारी उद्योग की आधारभूत भूमिका को बिना तिलांजलि दिये) कृषि और लघु उद्योगों पर अधिक जोर देने तथा स्थानीय लोगों के हाथों में अधिक जिम्मेदारी सौंपने की बातें शामिल थीं। इसके तहत विकास को महज तकनीकी उत्पादन के परिवर्तनशील कारकों का एक मामला मानने के बजाय, आर्थिक सामाजिक सम्बन्धों और अन्तरविरोधों की एक श्रृंखला के रूप में लिया गया। 1958 में, जो कि चीन के महान अग्रवर्ती छलांग का दौर था, माओ ने स्तालिन के निबन्ध '*इकनॉमिक प्राब्लम्स ऑफ सोशलिज्म*' की लगाम दूसरी बातों के साथ-साथ उसमें उत्पादक शक्तियों पर दिये गये एकांगी जोर तथा राजनीति, विचारधारा, और संस्कृति के सवालों को कम करके आंकने की बातों को लेकर आलोचना की : "इस किताब में शुरू से लेकर आखिर तक, स्तालिन अधिरचना के बारे में कुछ भी नहीं कहते।"[17] उन्होंने तकनोलॉजी के राजनीति से ऊपर हो जाने, तथा कैडर के जनसमुदायों से ऊपर हो जाने के मुद्दे को भी उठाया।

1961-62 में माओ ने अपनी कृति *रीडिंग नोट्स ऑन द सोवियत टेक्स्ट दि पोलिटिकल इकॉनमी* लिखी। यह निबन्ध मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की एक अनिवार्य कृति होने का गौरव प्राप्त कर चुका है, जिसमें व्यापक दायरे को समेटने वाले प्रेक्षण और विषयवस्तु सम्बन्धी विचार-विमर्श दिये गये हैं, तथा अभिलाक्षणिक कुशलता के साथ लिखा गया है। इसमें माओ भारी जोर देकर कहते हैं कि जब समाजवादी स्वामित्व हासिल कर लिया जाता है तब उत्पादन के सम्बन्धों का क्रान्तिकारीकरण आवश्यक हो जाता है। वह निम्नतर से उच्चतर सामाजिक सम्पत्ति रूपों की ओर होने वाली गति को राजनीतिक क्रान्तिकारी संघर्ष की एक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं, और यह अवधारणा सूत्रित करते हैं कि समाजवाद से साम्यवाद में संक्रमण एक सामाजिक क्रान्ति से रत्तीभर भी कमतर नहीं होता।

इस प्रकार 1956 से 1964 तक के दौरान माओ समाजवादी विकास की एक वैकल्पिक पहुंच के निरूपण में लगे रहे। यह एक ऐसी पहुंच थी जो क्रान्तिकारी संघर्ष और जनता की व्यापक भागीदारी से नाभिनालबद्ध थी। इसी अवधि के दौरान वह प्रत्यक्ष अनुभव भी सामने आया जिससे चीन में 1950 के दशक के आरम्भ में अपनायी गयी सोवियत-प्रभावित रणनीति एवं औद्योगिक संगठन के नकारात्मक संघातों से, तथा महान अग्रवर्ती छलांग के

16. देहाती क्षेत्रों में, किसान जमीन और उत्पादक साधनों का फिर से वितरण और एकत्रीकरण करते जा रहे थे (माओ ने इस ऊंचे ज्वार का स्वागत किया)। शहरों में बुद्धिजीवियों और छात्रों के बीच असन्तोष और समाजवाद विरोध की कुछ अभिव्यक्तियां सामने आ रही थीं।

17. ए क्रिटीक ऑफ सोवियत इकॉनमिक्स (न्यूयार्क, मंथली रिव्यू प्रेस 1977), पृ. 135, में माओ त्से-तुङ के आलेख "क्रिटीक ऑफ स्टालिन्स 'इकनॉमिक प्राब्लम्स ऑफ सोशलिज्म' में कुछ भिन्न अनुवाद मिलता है।

सकारात्मक अनुभव से सबक निकाले गये। महान अग्रवर्ती छलांग ही वह दहन पात्र थी जिससे यह नयी पहुंच आरम्भिक तौर पर निःसृत हुई थी। इसी के चलते देहाती क्षेत्रों में किसानों के कम्यून निर्मित हुए, मजदूरों द्वारा प्रबन्धन के नये-नये रूपों के प्रयोग किये गये, शहर और देहात तथा मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच अंतरों को रोकने के व्यापक प्रयास किये गये, तथा इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए नयी नियोजन प्राथमिकताओं एवं प्रक्रिया विधियों का समावेश किया गया।

इसी अवधि के दौरान, माओ समाजवाद के अन्तर्गत वर्गों और वर्ग संघर्ष के सवाल की समझदारी के सवाल को और विकसित और संश्लेषित भी करते रहे। 1962 में एक पार्टी कांग्रेस के अपने भाषण में माओ ने समाजवाद के अन्तर्गत वर्ग-अन्तरविरोधों और वर्ग संघर्ष पर एक महत्वपूर्ण थीसिस प्रस्तुत की (जिसके तहत अब उन्होंने समाजवाद को एक अपेक्षाकृत लम्बे दौर के रूप में देखना शुरू किया)। और 1963-64 में सोवियत संघ के साथ चीन की पार्टी ने, माओ के समग्र मार्गदर्शन में तैयार किया गया जो वाद-विवाद चलाया उसके तहत उस विशेषाधिकार प्राप्त शासक संस्तर के अस्तित्व को इंगित किया गया जो सोवियत संघ में क्रान्ति की धारा को उलट चुका था। यह काफी हद तक आर्थिक विकास और रूपान्तरण से ही सम्बन्धित वाद-विवाद था: चीन में आर्थिक मोर्चे पर और कुल आर्थिक नीति को लेकर जो उग्र संघर्ष चल रहा था वह भी निश्चित तौर पर यही प्रकट कर रहा था कि एक वैसा ही संस्तर (जिसे बाद में बुर्जुआ वर्ग के रूप में चिन्हित किया गया) चीन में भी अस्तित्वमान हो चुका था।

बेशक माओ चीनी पार्टी की उन अनुदारवादी संशोधनवादी[18] शक्तियों के विरुद्ध वर्ग संघर्ष का नेतृत्व कर रहे थे जिन्होंने महान अग्रवर्ती छलांग पर प्रहार करके उसे ध्वस्त कर डालने की कोशिश की थी। ये शक्तियां आधुनिकीकरण और दक्षता के बैनर तले एक पूंजीवादी कार्यक्रम को आगे बढ़ा रही थीं। और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वे भी (बस नाम के तौर पर!) समाजवाद के एक राजनीतिक अर्थशास्त्र को ही क्रमव्यवस्थित कर रही थीं। 1950 के दशक से लेकर 1976 में क्रान्तिकारी शक्तियों के उखाड़ फेंके जाने के पूर्व तक, संकीर्ण-संशोधनवादी शक्तियां, जो कभी आपस में बंट जाती थीं, तो कभी अपनी अवस्थितियां बदल देती थीं, बुनियादी तौर पर दो आर्थिक मॉडल विकसित करती रहीं: एक विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था का मॉडल, जिसमें व्यक्तिगत उत्पादक इकाइयों को उत्पादन और बाजार सम्बन्धी निर्णय लेने में अधिक स्वायत्तता सुलभ हो रही थी, और दूसरा एक अपेक्षाकृत अधिक केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था का मॉडल जिसमें मंत्री, नियोजन एजेंसियां तथा पार्टी के ऊंचे ओहदेदार अपने पास निर्णय लेने के अधिकार और आर्थिक सत्ता (निवेश और वित्तीय संसाधनों आदि के आवंटन पर) संकेन्द्रित कर चुके थे। अपने सतही मतभेदों के बावजूद वे इस दृष्टिकोण पर एकमत थे कि औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण स्वयं में ही लक्ष्य हैं, और वे दक्षता मानकों एवं उत्पादन दर के संकेतकों पर ही भरोसा करते थे, और साथ ही यह भी चाहते थे कि इन सबमें नियंत्रण, प्रबन्धन और प्रेरणा के लिए पूंजीवादी युक्तिविधान ही लागू हो।[19]

1966-67 की सांस्कृतिक क्रान्ति माओवादी सिद्धान्त और व्यवहार में एक भारी छलांग थी। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान सत्ता पर कब्जा करने और आमूल परिवर्तनवादी संस्थागत रूपान्तरणों के प्रथम और उथलपुथल भरे चरण में ही माओवादी शक्तियों ने समाजवाद के एक राजनीतिक अर्थशास्त्र का विधिवत गठन करने का फैसला ले लिया था। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए उनके पास इस "दूसरी क्रान्ति" का अनुभव भी था, जैसा कि *शंघाई टेक्स्टबुक* में सांस्कृतिक क्रान्ति के विवरण से जाहिर होता है, और वह अनुभव भी था जो उन्होंने समाजवादी समाज और उसके वर्ग-सम्बन्धों की प्रकृति के अध्ययन से प्राप्त किया था। इस राजनीतिक अर्थशास्त्र को विकसित करने के लिए, उनके पास सोवियत संघ और चीन में हुए समाजवादी निर्माण में अपनाये गये रास्तों और रणनीतियों के माओ द्वारा किये गये समाहार, सोवियत संघ में संशोधनवादी सत्तारोहण के बारे में उनका विश्लेषण, और क्रान्ति को जारी रखने का उनका सिद्धान्त भी था।

अब समाजवाद की आर्थिक संरचना और सामाजिक अन्तरविरोधों, तथा पूंजीवादी पुनर्स्थापना के कारणों का एक सम्यक विश्लेषण सम्भव हो चुका था। यह दीर्घकालिक समाजवादी संक्रमणकाल की इस नयी समझदारी को सैद्धान्तिक रूप से दिशा निर्देशित करने तथा उसे आगे बढ़ाने के लिए भी महत्वपूर्ण रूप से आवश्यक था, और इससे भी अधिक फौरी तौर पर यह उन नीतियों के लिए एक सैद्धान्तिक समर्थन देने के लिए आवश्यक था जो संकीर्ण-संशोधनवादी शक्तियों के प्रचण्ड विरोध में क्रान्तिकारी शक्तियों द्वारा लागू की जा रही थीं और आगे बढ़ायी जा रही थी। इसके और अधिक सम्यक विवेचन के लिए कुछ आधारभूत चर्चा आवश्यक है।

1970 के दशक के आरम्भ और मध्य में, चीन की राजनीतिक परिस्थिति अधिक जटिल और खतरनाक बन चुकी थी। यह काफी हद तक सम्पूर्ण विश्व परिस्थिति में होने वाले परिवर्तनों और विकास से जुड़ी हुई थी। 1960 के दशक के अन्त से ही, सोवियत संघ चीन को धमकाने और उस पर हमला करने की गम्भीर कवायदें करने लगा था, 1969 तक, उसने चीन से लगी अपनी सीमा पर एक भारी फौज तैनात कर दी, और खुलकर नाभिकीय अस्त्र प्रयोग की बातें करने लगा। चीन की सशस्त्र सेनाओं के प्रमुख, लिन पियाओ, ने सोवियत संघ के साथ तालमेल बनाने की एक नीति की वकालत की। परन्तु जब माओ ने इंकार कर दिया, तब लिन ने 1971 में माओ के विरुद्ध एक असफल तख्तापलट की कोशिश की।

पार्टी नेतृत्व के भीतर काफी हद तक पश्चिमपरस्त अनुदारवादी तत्वों ने एक अवसर देखा और उसका लाभ उठाना चाहा। उन्होंने सांस्कृतिक क्रान्ति की उपलब्धियों को बदनाम करने की नीयत से इस तथ्य का अनुचित लाभ उठाया कि लिन सांस्कृतिक क्रान्ति से जुड़ा हुआ था। उन्होंने सोवियत आक्रमण के खतरे को इस दलील के रूप में इस्तेमाल किया कि चीन के लिए पश्चिम के साथ पूरी तरह एक सैन्य गठबन्धन तथा आर्थिक समेकन कर लेना तथा पूंजीवादी आधुनिकीकरण और प्रबन्धन अख्तियार करना आवश्यक है। और उन्होंने यह भी दलील दी कि चीन अब सांस्कृतिक क्रान्ति के उथलपुथल और प्रयोगीकरण को बर्दाश्त नहीं कर सकेगा। इस तरह सांस्कृतिक क्रान्ति की उपलब्धियों एवं माओवादियों की नीतियों एवं कार्यक्रमों पर अधिकाधिक हमले किये जाने लगे। एक भारी संघर्ष शक्ल लेने लगा। पूंजीवादी पुनर्स्थापना को रोकने का माओ त्से-तुङ का यही आखिरी महान संघर्ष रहा, और इस संघर्ष ने, 1973 से 1976 तक विस्तृत

18. "संशोधनवाद" एक नकली कम्युनिज्म है। यह मजदूरों के आन्दोलन के भीतर एक बुर्जुआ धारा है जो पूंजीवाद, राजनीतिक क्रान्ति, और समाजवाद-साम्यवाद की प्रकृति के बारे में मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों को "संशोधित करती है" और विकृत करती है। संशोधनवाद मार्क्सवाद में से उसके मुक्तिदायी मर्म को बाहर निकाल देता है। यह सुधारवाद और संकीर्ण भौतिक स्वार्थ के आधार पर मजदूरों का आह्वान करता है। और इसका उद्देश्य और प्रभाव मार्क्सवाद का नाम ले लेकर पूंजीवाद को बनाये रखने या पुनर्स्थापित करने तथा बुर्जुआ वर्ग अवस्थिति और हित की पक्षधरता या रक्षा करने में निहित होता है। संशोधनवाद समाजवाद के आवरण में छिपा पूंजीवाद है। देखें टेक्स्टबुक का अध्याय 2.

19. 1950 और 1960 के दशकों में आर्थिक सिद्धान्त पर चली बहसों के लिए दृष्टव्य है: ई.एल. ह्वीलराईट ऐण्ड मैक्फर्लेन, द चाइनीज रोड टु सोशलिज्म (न्यूयार्क : मंथली रिव्यू प्रेस, 1970); "सोशलिस्ट कॉस्ट्रक्शन ऐण्ड क्लास स्ट्रगल इन द फील्ड ऑफ इकॅनॉमिक्स," पीकिङ रिव्यू (16), 17 अप्रैल 1970; स्टीफन एण्डोर्स, चाइनाज इण्डस्ट्रियल रिवोल्यूशन (न्यूयार्क : पैन्थिअॅन, 1977); और क्रिस्टोफर होवे ऐण्ड केनेथ आर. वाकर, सम्पा., द फाउण्डेशन्स ऑफ द चाइनीज प्लैन्ड इकॉनमी (लन्दन : मैक्मिलन, 1989).

और गहरा होकर, सैद्धान्तिक कार्य को बहुत अधिक प्रभावित किया।

जून 1971 में '*समाजवाद के राजनीतिक अर्थशास्त्र*' के मूलपाठ का अनुसंधान और लेखन शुरू हुआ।[20] इसे समाजवादी अर्थव्यवस्था के मूलभूत सिद्धान्तों और गतिकी के एक प्रामाणिक अध्ययन के रूप में प्रस्तुत किया जाना था, जिसके अन्तर्गत समाजवादी अर्थव्यवस्था के कुंजीभूत गुणों तथा वर्गविहीन समाज की ओर संक्रमण के दौरान उपस्थित होने वाले कार्यभारों और संघर्षों की शिनाख्त की जानी थी। इसमें पद्धति के तौर पर राजनीतिक अर्थशास्त्र और वर्ग संघर्ष की मार्क्सवादी कोटियां अपनायी जानी थीं और उन्हें समाजवाद के जटिल ऐतिहासिक यथार्थ पर लागू किया जाना था।

'समाजवाद के राजनीतिक अर्थशास्त्र' को एक निरन्तर आगे बढ़ते रहने वाले कार्य के रूप में लिया गया था। इसके ड्राफ्टों को लिखने, वितरित करने और संशोधित करने की प्रक्रिया काफी उन्नत थी। 1972 से 1976 तक पुस्तक के चार ड्रॉफ्ट प्रकाशित हुए, जिनमें से प्रत्येक ड्रॉफ्ट सैद्धान्तिक समय की उल्लेखनीय रूप से एक गहनतर पकड़ प्रस्तुत करता था तथा प्रत्येक ड्रॉफ्ट में और आगे अनुसंधान किये जाने का एका मुद्दा भी प्रस्तुत किया गया होता था। मूलपाठ के प्रत्येक अगले ड्रॉफ्ट में किये गये नये-नये परिवर्तनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि माओवादी समाजवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के ढेर सारे अत्यन्त विवादास्पद मुद्दों से सृजनात्मक ढंग से जूझ रहे थे जिनमें समाजवादी श्रम प्रक्रिया के चरित्र से लेकर समाजवाद के अन्तर्गत काम करने वाले आर्थिक नियमों की स्थिति, अर्थशास्त्र और राजनीति के बीच सम्बन्ध, तथा समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों के बीच अन्तरविरोधों की प्रकृति तक की बातें शामिल रहती थीं। लेकिन **'समाजवाद के राजनीतिक अर्थशास्त्र'** की पांचवी पाण्डुलिपि कभी प्रकाशित न हो सकी। कारण कि अक्टूबर 1976 के दक्षिणपंथी तख्तापलट के तुरन्त बाद ही इसकी छपाई जब्त कर ली गयी।

शंघाई टेक्स्टबुक पोलिटिकल इकॉनमी ऑफ सोशलिज्म का एक लोकप्रिय संस्करण है। दोनों पुस्तकों का सम्पूर्ण संयोजन और तर्क निरूपण बुनियादी तौर पर एक समान ही है, इनके मूल पाठों की परस्पर तुलना करने पर सैद्धान्तिक विवेचन के मामलों में बहुत ही कम अन्तर दिखायी पड़ता है, और *शंघाई टेक्स्टबुक* में जो संशोधन किये गये वे भी दूसरे वृहत्तर ग्रंथ के क्रमश: निकले संस्करणों के अनुरूप ही हैं। यहां इस टेक्स्टबुक का जो अनुवादित संस्करण तैयार किया गया है वह 1975 के अंत के बाद की पोलिटिकल इकॉनमी ऑफ सोशलिज्म की चौथी पाण्डुलिपि पर आधारित है। इस परियोजना में जिन अर्थशास्त्रियों ने काम किया है वे शंघाई के फूदान यूनिवर्सिटी के इंस्टीट्यूट ऑफ पॉलिटिकल इकॉनमी से जुड़े रहे हैं, और चूंकि शंघाई ही आमूलपरिवर्तनवादी माओवादी गतिविधियों का आमतौर पर केन्द्र रहा था, इसीलिए फण्डामेण्टल्स ऑफ पोलिटिकलस इकॉनमी के मूलपाठ के इस अंग्रेजी संस्करण का शीर्षक बदल कर *शंघाई टेक्स्टबुक* कर दिया गया है।

समाजवाद की इस राजनीतिक अर्थशास्त्र की परियोजना को निर्देशित करने वाले प्रमुख व्यक्ति चाङ चुन-चियाओ थे। चाङ राष्ट्रीय नेतृत्वकारी निकाय के अंग थे जिस पर माओ ने विश्वास करके सांस्कृतिक क्रान्ति के जटिलता भरे संघर्षों का मार्गदर्शन और समाहार करने का दायित्व सौंपा था। उनको पहली प्रसिद्धि महान अग्रवर्ती छलांग के दौरान तब मिली, जब उन्होंने समाजवादी स्वामित्व की उजरत सम्बन्धी नीतियों और मुद्दों पर कई महत्वपूर्ण लेख लिखे। लेकिन वह एक बड़ी हैसियत के रूप में 1967 में आये जब सांस्कृतिक क्रान्ति एक तूफानी शक्ति धारण कर चुकी थी। उन्होंने 1967 में शंघाई के मजदूर उभार में एक केन्द्रीय भूमिका अदा की, जिसे जनवरी के शंघाई तूफान के नाम से जाना जाता है। आगे चलकर वह एक उपप्रधानमंत्री और पार्टी के उच्चतम नेतृत्वकारी निकाय, कम्युनिस्ट पार्टी केन्द्रीय कमेटी के पोलित ब्यूरो की स्टैंडिंग कमेटी के सदस्य बने, और उन्होंने पूंजीवादी सत्तारोहण रोकने के लिए माओवादी शक्तियों द्वारा चलाये गये राजनीतिक अभियानों को आगे बढ़ाने मे मदद की। वह एक प्रमुख क्रान्तिकारी सिद्धान्तकार भी थे। अक्टूबर 1976 में, चाङ और माओ की पत्नी चिआङ चिङ को याओ वेन-युआन और वाङ हुङ-वेन के साथ गिरफ्तार कर लिया गया। वे ही "चार के गिरोह" थे। 1980 में एक कंगारू कोर्ट में जब उन पर मुकदमा चलाया गया तो चाङ और चिआङ क्रान्तिकारी सिद्धान्त पर अड़े रहे, माओ और सांस्कृतिक क्रान्ति का बचाव किया (जब कि याओ और वाङ ने आत्मसमर्पण कर दिया)। उन्हें आजीवन कारावास की सजा दी गयी। चिआङ चिङ की 1990 में जेल में ही मृत्यु हो गयी। यह लिखते समय अभी भी यह स्पष्ट नहीं है कि चाङ जिन्दा हैं या मृत।

यह चाङ ही थे जिन्होंने *पोलिटिकल इकॉनमी ऑफ सोशलिज्म* की आरम्भिक योजनाओं को मंजूरी दी थी। उन्होंने ने ही इसकी विषय-सामग्री के निर्देश जारी किये थे, इसके मूल पाठ से सम्बन्धित कई महत्वपूर्ण बैठकें की थीं, और वर्तमान चीनी नेतृत्व के विवरणों के अनुसार, अंतिम ड्राफ्टों की समीक्षा की थी। 1972 में पहली पाण्डुलिपि प्रकाशित हो जाने के बाद, चाङ ने स्पष्ट तौर पर जिन तीन कुंजीभूत विषय वस्तुओं की शिनाख्त की जिनका विस्तृत विवेचन मूलपाठ में किया जाना था; वे हैं : उत्पादन के समाजवादी सम्बन्धों के भीतर पूंजीवादी तत्व क्यों मौजूद रहते हैं; स्वामित्व का सवाल सत्ता का सवाल क्यों बन जाता है; और उत्पादन प्रक्रिया में जनता के बीच के सम्बन्ध वर्ग-सम्बन्ध क्यों होते हैं। 1975 में प्रकाशित उनके निबन्ध "बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में" में महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक मुद्दे उठाये गये जिनकी विस्तृत चर्चा **'समाजवाद के राजनीतिक अर्थशास्त्र'** के पिछले दो संस्करणों में की गयी।

शंघाई टेक्स्टबुक एक पर्याप्त संश्लेषित और मौलिक रचना है, और विषय की भावी उपयोगिता और जटिलता के मद्देनजर इसमें विचारों को जिस स्पष्ट दृष्टि और तीक्ष्णता से प्रस्तुत किया गया है वह कोई मामूली कार्य नहीं है। यह *टेक्स्टबुक* माओ के नक्शे-कदम पर, समाजवाद की अवधारणा को तीन अन्तर्सम्बन्धित चीजों के रूप में प्रस्तुत करती है। पहली यह कि यह *वर्ग शासन का एक रूप* है जिसके जरिए सर्वहारा वर्ग (जनता के अन्य संस्तरों, खासतौर से तीसरी दुनिया के उत्पीड़ित राष्ट्रों के गरीब किसानों के साथ संश्रय बनाकर) पुराने और नये पैदा होने वाले बुर्जुआ एवं शोषक वर्गों के ऊपर शासन करता है। दूसरी, यह *उत्पादन की एक प्रणाली* है जिसमें उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व का स्थान सामाजिक स्वामित्व ले लेता है तथा निजी मुनाफे का स्थान, सामाजिक उत्पादन के उद्देश्य और उपाय के तौर पर, सामाजिक आवश्यकताएं ले लेती हैं। तीसरी, यह *संक्रमण का एक काल* होता है जो तीखे वर्ग संघर्ष और गहराते रूपान्तरण से अभिचिन्हित होता है, जिसका लक्ष्य, विश्व स्तर पर तथा क्रान्ति की एक विश्वव्यापी प्रक्रिया के तौर पर, वर्गों और वर्ग-विभेदों का खात्मा करना होता है।

इसके आरम्भिक अध्याय में स्पष्ट किया गया है कि मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की जांच-पड़ताल का विषय उत्पादन के सम्बन्ध हैं और इस पुस्तक में चीन के इन्हीं सम्बन्धों की जांच-पड़ताल की गयी है। आर्थिक विकास में राजनीति, विचारधारा और संस्कृति की भूमिका की जांच-पड़ताल की गयी है। चीन के औद्योगिक और कृषि क्षेत्रों के उत्पादन के साधनों के समाजीकरण के रास्ते और रफ्तार, तथा इन क्षेत्रों के बीच सम्बन्धों का सर्वेक्षण किया गया है। इन अध्यायों में जिन विषयों की चर्चा की गयी है वे हैं कार्यस्थल के भीतर श्रम के सामाजिक विभाजन का

20. इससे आगे का विवरण पीयर मोलर क्राइस्टेन्सन और जॉर्गेन डेलमैन के आलेख "ए थिअरी ऑफ ट्रांजिशनल सोसायटी ऐण्ड माओ जे दोङ ऐण्ड द शंघाई स्कूल" पर आधारित है जो बुलेटिन ऑफ कंसर्न्ड एशियन स्कॉलर्स" में अप्रैल-जून, 1981 में पृष्ठ 2-15 पर प्रकाशित हुआ। यह निबन्ध शंघाई टेक्सबुक के इतिहास के पुनर्सृजन में बहुत सहायक सिद्ध हुआ है।

रूपान्तरण (तथा सामाजिक उत्पादन को महज तकनीकी कार्य मानने के बजाय, सामाजिक सम्बन्धों से युक्त मानकर काफी गहराई से विवेचन किया गया है), नियोजन का प्रणालीविज्ञान; उजरत भुगतान के रूप और समाज में उत्पादित मालों के वितरण के रूप, और साथ ही साथ जनता के जीवन-स्तरों को लगातार ऊपर उठाने एवं लोगों के बीच अधिकाधिक समानता पैदा करते जाने के लक्ष्य; और मुद्रा एवं मौद्रिक गणना की भूमिका और खतरे। पूरी पुस्तक में, माओवादियों के शब्दों में, "तीन बड़े अन्तरों", अर्थात उद्योग और कृषि के बीच, शहर और देहात के बीच तथा मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच अन्तरों को कम करते जाने और अन्ततः समाप्त कर देने का कार्यभार एक सैद्धान्तिक सूत्र की भांति पिरोया हुआ है। पुस्तक किसी भी तरह से अपनी पहुंच में फार्मूलेबाजी और जड़सूत्रता की शिकार नहीं है। इसमें बहुत ही विचारोत्तेजक सवाल उठाये गये हैं : मसलन, कैसे सर्वहारा वर्ग कुछ निश्चित अधिकार जनप्रतिनिधियों को सौंप सकता है और इसके बावजूद कैसे इन प्रतिनिधियों द्वारा इन अधिकारों के दुरुपयोग और इन पर अपना एकाधिकार जमा लेने और इस प्रकार उत्पादन के साधनों पर से अपना नियंत्रण गंवा देने को रोक सकता है? और राजकीय स्वामित्व की वास्तविक प्रकृति का निर्धारण कैसे किया जा सकता है?

1975 वाले इस संस्करण में "बुर्जुआ अधिकार का मुद्दा उठाया गया है जो खासतौर से महत्वपूर्ण है। समाजवादी समाज के भीतर बुर्जुआ अधिकार पूंजीवाद का एक "जन्मचिन्ह" होता है। बुर्जुआ अधिकार का सम्बन्ध, कानून और नीति में घनीभूत, उन आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों से होता है जो औपचारिक रूप से तो समानता के समर्थक होते हैं, परन्तु वास्तव में उनके भीतर असमानता के तत्व निहित होते हैं। वितरण का समाजवादी सिद्धान्त – "प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार और प्रत्येक को उसके कार्य के अनुसार"–एक ऐसा ही उदाहरण है, एक तरफ तो सबके लिए एक मानक लागू किया गया जाता है, जबकि दूसरी तरफ न तो सबकी आवश्यकताएं समान होती हैं और न ही हर कोई समान उत्पादकता से कार्य कर सकता है – और इस प्रकार यह समान मानक वास्तव में असमानता बढ़ाने का ही कार्य करता है। यह पुस्तक बुर्जुआ अधिकार के अस्तित्वमान होने के रूपों और बुर्जुआ अधिकार के विचारधारात्मक प्रभाव की ओर ध्यान आकर्षित करती है (इस शब्द को अधिक व्यापक रूप से समाजवादी समाज के उन सभी सम्बन्धों को इंगित करने के लिए इस्तेमाल किया गया है जिन में पूंजीवादी माल तथा पूंजीवादी सामाजिक सम्बन्धों के बीज निहित होते हैं)। उस वक्त चीन में एक राष्ट्रव्यापी अभियान जनता को यह शिक्षित करने के लिए चलाया जा रहा था कि क्यों बुर्जुआ अधिकार पूंजीवाद को पैदा करने की जमीन होता है। पूंजीवादी पथगामी बुर्जुआ अधिकार का विस्तार करके सामाजिक और आर्थिक अन्तरों को और बढ़ाने की कोशिश करते हैं। और कि क्यों इसको प्रतिबन्धित और अन्ततः रूपान्तरित करना आवश्यक है – जिसके तहत, वितरण के मामले में, "प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार, और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार" के कम्युनिस्ट सिद्धान्त को लागू किया जाना अपेक्षित होता है।[21]

1975 के संस्करण वाली *शंघाई टेक्स्टबुक* उस विकसित समझदारी को लेकर चलती है जिसे माओवाद ने समाजवादी समाज की उन भौतिक और विचारधारात्मक दशाओं से विकसित किया था जो नयी विशेषाधिकार प्राप्त शक्तियों और पूंजीवादी सम्बन्धों को जन्म दे रही थीं। लेकिन इसमें समाजवाद के अन्तर्गत नये बुर्जुआ वर्ग की प्रकृति और अवस्थिति के बारे में माओ द्वारा किये गये बाद के विश्लेषण को शामिल नहीं किया गया है। इस पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व तक दक्षिणपंथियों और संशोधनवादियों को आमतौर पर बुर्जुआ और सामन्ती वर्गों के *एजेण्टों या प्रतिनिधियों* के रूप में ही देखा जाता था। लेकिन इस पुस्तक के प्रकाशन के कई माह बाद, माओ ने लगातार कई वक्तव्य दिये जिनमें यह स्पष्ट किया गया कि समाज में बुर्जुआ वर्ग का कोर पार्टी और राज्य के संचालक अंगों के उच्चतम स्तरों में अवस्थित था। इन अन्तर्दृष्टियों के मार्गदर्शन में, माओ के अनुयायियों ने अपने अनुसंधान को और आगे बढ़ाया, और इस बात का पक्का सबूत है कि यह सैद्धान्तिक विकास **'समाजवाद का राजनीतिक अर्थशास्त्र'** के 1976 वाले संस्करण में सारगर्भित रूप से इंगित किया गया था।

यह पुस्तक उस समय की चीन की अर्थव्यवस्था के निष्पादन या नीति सम्बन्धी विवादों का विश्लेषण करने के इरादे से नहीं तैयार की गयी थी। फिर भी, इसमें चीन के समाजवादी विकास की आवश्यकताओं के मद्देनजर व्यापक समृद्धि और विकास की प्रवृत्तियों और साथ ही क्रान्तिकारी और संशोधनवादी पंहुचों के बीच बुनियादी विभाजन रेखाओं के बारे में चर्चा अवश्य की गयी है। इस पुस्तक की एक सशक्त बात खासतौर से यह है कि यह चीन की समाजवादी क्रान्ति से समृद्ध सबक निकालती है। बेशक ये सबक इसके अनुभवसिद्ध बिन्दुओं को संदर्भित करते हैं। लेकिन कुल मिलाकर ये पुस्तक का वृहत्तर उद्देश्य पूरा करते हैं : समाजवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का एक विस्तृत सैद्धान्तिक विवरण प्रस्तुत करते हैं।

इस सैद्धान्तिक योगदान के अतिरिक्त, *शंघाई टेक्स्टबुक* कई अन्य स्तरों पर भी पढ़ी जा सकती है। यह पुस्तक सरल-सीधी और गैर अकादमिक भाषा में इस ढंग से तैयार की गयी थी कि यह ऐसे पाठकों द्वारा भी समझी जा सके जो आवश्यक रूप से पेशागत प्रशिक्षण नहीं प्राप्त किये हुए थे। यह 1972 से 1976 तक एक युवा स्वयं-शिक्षा माला के अन्तर्गत प्रकाशित होने वाली कई पुस्तकों में एक थी। इस पुस्तक ने माओवादी चीन में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। सांस्कृतिक क्रान्ति का एक कुंजीभूत लक्ष्य एक ऐसी शिक्षा प्रणाली तैयार करना था जो विशिष्ट वर्गीयता (इलीटिसिज़्म) को प्रश्रय देने के बजाय उस पर प्रहार करती। इसी प्रयास के तौर पर, "नीचे देहात तक, और ऊपर पहाड़ तक" का अभियान चलाया गया। कोई एक करोड़ बीस लाख नौजवान, जिनमें से अधिकतर शहरी क्षेत्रों के कालेजों में पढ़ने वाले छात्र थे, ऐसी शिक्षा प्रणाली के कार्यभारों को लेकर चीन के उन ग्रामीण क्षेत्रों की ओर चल पड़े थे, जहां भारी आबादी निवास करती थी। यह पुस्तक इन्हीं नौजवानों के लिए लिखी गयी थी। वे दर्शन, साहित्य, सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञान, तथा कृषि तकनोलॉजी की पुस्तकें पढ़ने के साथ-साथ इसका भी अध्ययन करते थे, ताकि वे अपने आपको देहाती क्षेत्र में काम करने और राजनीतिक संघर्ष चलाने योग्य बना सकें। इस प्रकार, इस पुस्तक से हमें यह सीख मिलती है कि कैसे एक नई पीढ़ी समाजवादी समाज को देखने-समझने के लिए प्रशिक्षित की जा रही थी। और हमें इस बात का भी बोध होता है कि कैसे मार्क्सवादी सिद्धान्त को व्यापक पाठकों तक पहुंचाया जा रहा था इसका तरीका यह था कि जहां एक तरफ किसान इस सिद्धान्त की जानकारी हासिल करने में सहभागिता कर रहे थे, वहीं इसी के साथ, दूसरी तरफ, छात्र भी किसानों से सीख रहे थे। इस प्रकार राजनीतिक अर्थशास्त्र के साथ-साथ, सिद्धान्त का व्यापक सार्वजनिक अध्ययन और उस पर विचार विमर्श माओवादी चीन के राजनीतिक जीवन की महत्वपूर्ण विशेषता बन चुके थे।

इस पुस्तक की विषय सामग्री का एक-एक हिस्सा वाद-विवाद की शैली से अनुप्राणित है। यदि हम इसकी पृष्ठभूमि को याद करें, तो इसका कारण स्पष्ट हो जाता है : उस वक्त चीन में एक महत्वपूर्ण संघर्ष शक्ल ले रहा था – और जो लोग पूंजीवाद की पुनर्स्थापना चाह रहे थे उन्हें परास्त कर दिया गया था। इस प्रकार यह पुस्तक एक और भी स्तर पर पठनीय है। यह स्पष्ट करती है कि कैसे चीनी क्रान्तिकारी संघर्ष की तैयारी

21. वितरण के मामले में बुर्जुआ अधिकार को प्रतिबन्धित करने के तहत जो उपाय किये जाने शामिल हैं वे हैं : उपभोग के अपेक्षाकृत अधिक सामाजिक रूपों का विकास, व्यक्ति की आय पर ध्यान दिये बगैर सबको स्वास्थ्य रक्षा जैसी महत्वपूर्ण सेवाएं सुलभ कराना, पुरुषों और स्त्रियों के बीच असमानताएं दूर करने की सामाजिक पहलकदमी करना, तथा उजरती अन्तरों को कम करना।

कर रहे थे, कैसे वे जनता को समाजवादी समाज के भीतर की उन संरचनाओं और प्रक्रियाओं को पहचानने के लिए प्रशिक्षित कर रहे थे जिनका रूपान्तरण आवश्यक था, और इस बात को समझने का भी प्रशिक्षण दे रहे थे कि जो चीज अन्ततः दांव पर लगी हुई थी – वह थी क्रान्ति को जारी रखना या उसे पराजित होते और उलट जाते देखना।

शंघाई टेक्स्टबुक तुलनात्मक अर्थशास्त्र, और चीन सम्बन्धी एवं तीसरी दुनिया के विकास सम्बन्धी जानकारी हासिल करने वाले छात्रों और अध्येताओं के लिए एक मूल्यवान स्रोत सामग्री मुहैया करने वाली पुस्तक है। यह उन लोगों के लिए खासतौर से दिलचस्प पुस्तक है जो आमूल परिवर्तन की तीव्र आकांक्षा रखते हैं। इसमें जो एक चीज और अविस्मरणीय है वह यह कि इस सैद्धान्तिक कृति को तैयार करते समय चीनी क्रान्तिकारियों का इरादा यह था कि इससे मजदूर वर्ग और उत्पीड़ित जनता के अन्तरराष्ट्रीय संघर्ष को बल मिले। यह पुस्तक दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों में क्रान्तिकारी संघर्ष में संलग्न लोगों को समाजवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रयोजन और कार्यभार को स्पष्ट करने में और दरहकीकत समाज का सम्पूर्ण समाजवादी रूपान्तरण करने में मददगार सिद्ध होगी। और संघर्ष का द्वंद्वात्मक विज्ञान और ज्ञान अपने आप को और प्रकट करता जायेगा। निश्चय ही ऐसी एक या अनेक विजयिनी क्रान्तियों से 'समाजवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र' की अगली पाण्डुलिपि भी प्रकाश में आयेगी। (जून, 1994)

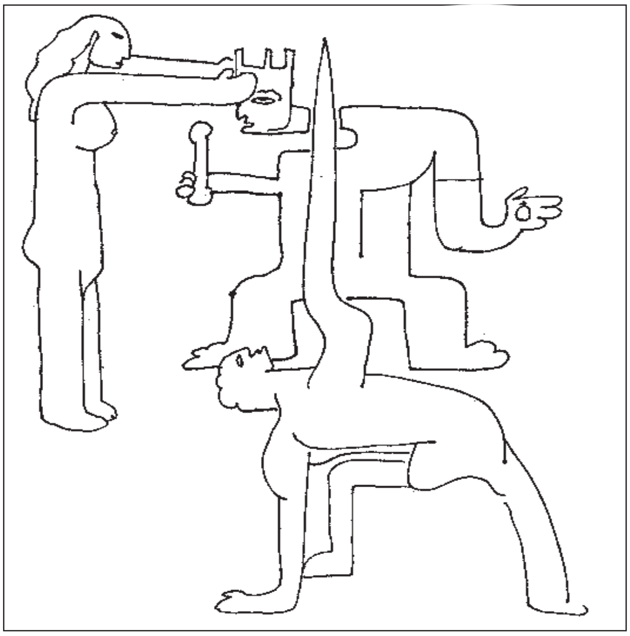

अनुवाद : **विश्वनाथ मिश्र**

दायित्वबोध यहां से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश • संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, **गोरखपुर** • जनचेतना, जाफरा बाजार, **गोरखपुर** • विजय इन्फार्मेशन सेंटर, कचहरी बस स्टैण्ड, **गोरखपुर** • राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, **लखनऊ** • जनचेतना स्टाल, निकट काफी हाउस, हजरतगंज, **लखनऊ** (शाम पांच से साढ़े सात) • सत्यम वर्मा, यूनीवार्ता, काजमी चैम्बर्स, 5, पार्क रोड, **लखनऊ** • ओ.पी. सिन्हा, 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, **लखनऊ** • डी. सी. वर्मा बी–118, आजादनगर, कैम्पवेल रोड, **लखनऊ** • इण्डियन बुक डिपो, अमीनाबाद, **लखनऊ** • शहीद पुस्तकालय, द्वारा, डा. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवा सदन, **मर्यादपुर, मऊ** • विश्वनाथ मिश्र, चेतना कार्यालय, **बड़हलगंज, गोरखपुर** • प्रो. प्यारे लाल, 139, फूलबाग कालोनी, पंतनगर कृषि विश्वविद्यालय, **पंतनगर** • डा. डी. के. सचान, कृषि विज्ञान केन्द्र, जिला पंचायत भवन, **रामपुर** • ललित सती, द्वारा विजय कुमार, 55/3 ई.डब्ल्यू.एस., आवास विकास, **रुद्रपुर** • श्री. ए. के. त्रिपाठी, 21, विश्वविद्यालय मार्ग, **इलाहाबाद** • श्री राम धीरज, स्वराज्य स्टेशनर्स, प्रयाग चुंगी, मोती लाल नेहरू मार्ग, **इलाहाबाद** • अमृत लाल पाण्डेय, निकट प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, **बसखारी, अम्बेडकरनगर** • करेंट बुक डिपो, 18/53, माल रोड, (फूलबाग के सामने), **कानपुर** • प्रतिभा प्रकाशन, (पेप्सी होटल के नीचे), स्टेशन रोड, **बलिया** • राजेन्द्र प्रसाद, रेणु मेडिकल की गली, मुख्य सड़क, रेणुकूट, **सोनभद्र** • नेशनल न्यूज एजेन्सी, पल्टन बाजार, **देहरादून**

बिहार • समकालीन प्रकाशन , पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, **पटना** • राजकमल प्रकाशन, साइंस कालेज के सामने, अशोक राजपथ, **पटना** • पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, पटना कालेज के सामने, **पटना** • अविनाश कुमार सिन्हा/रणजीत कुमार श्रीवास्तव, द्वारा, शैलेन्द्र श्रीवास्तव, बरियारी चक, पो. **मेंहसी, पूर्वी चम्पारण** • मैत्रेयी साहित्य संगम, (सर्वे आफिस के सामने), लाल बाग के. डी.ए, **दरभंगा** • विजय कुमार आर्य, सचिव – 'मजदूर संगठन समिति', गुरारू चीनी मिल्स, गुरारू, पो.– **गुरारू**, जि.–**गया** • वी. प्रशान्त, कन्हौली (बी.एम.पी. 6 से पूरब), **मुजफ्फरपुर** • दीपशिखा पत्रिका मण्डप, द्वारा श्री शिवदास पाण्डेय, पानी टंकी चौकी, क्लब रोड, **मुजफ्फरपुर** • रामपुकार सिंह, ग्रा.–पो.–भदई, जि.–**मुजफ्फरपुर** • विद्यानन्द सिंह वार्ड न. 4, **सुपौल** • श्री भुवन वेणु, 'प्रतीक्षा', मधुबनी–चूनापुर रोड, **पूर्णियां**

दिल्ली • शिव रतन सी–2/27, न्यूकोण्डली, जे.जे. कालोनी • एतकाद अहमद, डिपार्टमेण्ट ऑफ फाउण्डेशन आफ एजुकेशन, जामिया मिल्लिया इस्लामिया • सेंट्रल न्यूज एजेन्सी, 29/30, कनाट सर्कस • बुक कार्नर, श्रीराम सेंटर, सफदर हाशमी मार्ग, मण्डी हाउस • गीता बुक सेण्टर, शापिंग काम्प्लेक्स, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय • जवाहर बुक सेण्टर, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय • बोधन लाल एण्ड कम्पनी, निकट क्लॉक , शिवाजी स्टेडियम • पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, मरीना होटल की इमारत, कनाटप्लेस

महाराष्ट्र • परिदृश्य प्रकाशन, 6, दादी संतुक लेन, इंजीनियर हाउस, धोबी तालाब, **मुम्बई** • सतीश कालसेकर, पीपुल्स बुक हाउस, मेहर हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट, फोर्ट, **मुम्बई** • शैलेश वाकड़े, विजयालक्ष्मी नगर, टीचर्स कालोनी, बल्लारपुर, **चन्द्रपुर** • सूर्यदेव उपाधयाय, लेनिन लाइब्रेरी, उल्हास नगर, जि.–**ठाणे**

गुजरात • डा. हरियश राय, ए–205, सुजल अपार्टमेण्ट, सेटेलाइटरोड, रामदेवनगर, **अहमदाबाद**

हिमाचल प्रदेश • एस.आर. हरनोट, हिमांचल पर्यटन विकास निगम, रिट्ज एनेक्सी, **शिमला**

हरियाणा • नरभिंदर सिंह, द्वारा, डा. सुखदेव हुंदल, ग्रा.–पो. – संतनगर, जि.–**सिरसा** • राजीव रंजन, द्वारा पाश पुस्तकालय, पुलिस लाइन, **करनाल** • सुरेश जांगिड़, अक्षर धाम, सुकीर्ति प्रिंटर्स, डी. सी. निवास के सामने, करनाल रोड, **कैथल**

राजस्थान • हंसा प्रकाशन, 316, खूंटेटों का रास्ता, किशन पोल बाजार, **जयपुर** • संजय श्रीवास्तव, 221, उत्तरी सुन्दरवास, गंगा फ्लोर मिल, **उदयपुर**

उड़ीसा • गाला बुक्स, 61–62 बस स्टैण्ड, **अस्का**, जिला–गंजम

असम • शर्मा बुक स्टाल, थाना रोड, चराली, **तिनसुकिया** • दिनकर कुमार, चाणक्य पथ, जी एस रोड, दिसपुर, **गुवाहाटी**

पं. बंगाल • श्याम अविनाश, •. 'सरोकार', साहेब बांध रोड, **पुरुलिया** • राकेश गोरखा, सरस्वती पुस्तक मन्दिर प्रधान नगर, सिलीगुड़ी, **दार्जीलिंग** • बुक मार्क, 6, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, **कलकत्ता** • जनार्दन थापा, लुकसान बाजार, पो.आ. – केरन, जि. – **जलपाईगुड़ी**

आन्ध्र प्रदेश • गोविन्द अक्षय, 'सारस्वत सदन', 13/6/411/2, रामसिंहपुरा, कारवान, **हैदराबाद**

मध्यप्रदेश • जयप्रकाश जायसवाल, 'पितृछाया,' अमृत सागर कालोनी, एम.आई.जी. 96–97 **रतलाम** • चिंचोलकर बुक हाउस, बस स्टैण्ड, **जगदलपुर, बस्तर**

नेपाल • पुस्तक पत्र–पत्रिका बिक्री वितरण केन्द्र, डिल्ली बाजार, उकालो, **काठमाण्डू** • जलजला पुस्तक सदन, धमबोजी चौक, **नेपालगंज, बांके** • विशाल पुस्तक सदन, अस्पताल लाइन, **बुटवल** • विशाल पुस्तक सदन, विजुवार बाजार, प्यूठान, **राप्ती अंचल**

शिक्षानीति

उच्च शिक्षा : रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट

शिक्षकों को परेशान करने और उनकी समस्त रचनात्मकता को कुन्द कर लालफीताशाही में जकड़ डालने का एक गहरा साजिशाना इन्तजाम

यह एक सुस्थापित सच्चाई है कि समाज का जो वर्ग समाज की सत्ताधारी भौतिक शक्ति होता है वही उसकी सत्ताधारी बौद्धिक शक्ति भी होता है। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कह सकते हैं कि हर शासन-व्यवस्था की अपनी एक शिक्षा-नीति होती है जो उसी की सेवा में समर्पित होती है और जो व्यवस्था की बढ़ती सकारात्मकता या नकारात्मकता के अनुसार ही सकारात्मक या नकारात्मक होती है।

यह बात उच्च शिक्षा के बारे में हाल में प्रस्तुत **रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट** (अध्यक्ष: आर.पी. रस्तोगी) पर भी पूरी तरह लागू होती है। अधिक स्पष्ट रूप से कहें तो, वर्तमान दशक के आरम्भ से "उदारीकरण" और "संरचनात्मक समायोजन" की नीतियों के तहत घुटने टेककर साम्राज्यवाद का कनिष्ठ साझीदार बन चुकी भारतीय व्यवस्था अपनी समस्त सकारात्मकता खोकर, अपनी विवशताओं और जरूरतों के चलते, विकासशील देशों पर अभूतपूर्व रूप से निरन्तर बढ़ती जा रही साम्राज्यवादी आक्रामकता का वाहक और उपकरण बनकर, उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी उतनी ही आक्रामक हो उठी है। और **रस्तोगी कमेटी** रिपोर्ट इसी आक्रामकता की प्रतिध्वनि है।

रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट में एक मंगल-भाषित सूक्ति की भांति, अकादमिक पेशे को "सभी पेशों की जननी" कहते हुए, उच्च शिक्षा के क्षेत्र में "विश्व के सर्वोत्तम स्नातकों और अनुसंधानकर्ताओं की बराबरी करने वाले स्नातकों और अनुसंधानकर्ताओं को पैदा करने" की बात तो कही गयी है, परन्तु वास्तव में, व्यवस्था-निर्दिष्ट निहितार्थ को केन्द्र में रखकर, इसके लिए उच्च शिक्षा के अनुशासन का जो चक्रव्यूह रचा गया है उसमें शिक्षकों को अति पेचदार रास्तों से निरन्तर और कभी न खत्म होने वाली अर्हता-अर्जन की बाधा-दौड़ में दौड़ाते-दौड़ाते थका मारने, और एक निहायत खूसट किस्म के ऊबाऊ और गैर-रचनात्मक ही नहीं, बल्कि रचनात्मकता-विरोधी रुटीन-कार्य में फँसाकर, उनकी सारी रचनात्मक प्रतिभा को कुन्द कर डालने, और उन्हें अफसरशाहों, बैंकरों एवं अन्य प्रशासनिक बुद्धिजीवियों से नीचे, लालफीताशाही में जकड़ डालने का एक गहरा साजिशाना इन्तजाम कर डाला गया है।

वेतनमानों का पुनरीक्षण और प्रोन्नति-विधान की विसंगतियां:

वेतनमान के पुनरीक्षण की बुनियादी नीति के तौर पर, **रस्तोगी कमेटी** ने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत बुद्धिजीवियों के लिए जो दृष्टिकोण अख्तियार किया है, वह सन्' 70 के दशक में प्रस्तुत **सेन कमेटी रिपोर्ट** और सन् 80 के दशक में प्रस्तुत **मेहरोत्रा कमेटी रिपोर्ट** में अख्तियार किये गये दृष्टिकोणों की तुलना में, कहीं अधिक संकीर्ण है। उदाहरण के लिए, **सेन कमेटी रिपोर्ट** में साफतौर पर कहा गया था कि "विश्वविद्यालय-शिक्षकों के वेतनमान अखिल भारतीय सेवाओं के सदस्यों के वेतनमानों से कम नहीं होने चाहिए।" इसी बात को दुहराते हुए, **मेहरोत्रा कमेटी रिपोर्ट** में कहा गया था कि विश्वविद्यालय-शिक्षकों के वेतनमान "भारतीय प्रशासनिक सेवा या कम से कम संगठित केन्द्रीय सेवा ग्रुप 'A' के वेतनमानों के समान होने चाहिए।" अब, इनकी तुलना में, **रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट** में प्रस्तुत दृष्टिकोण की संकीर्णता देखिए: "....शिक्षकों के वेतनमान वैसे ही पेशे में लगे हुए लोगों के वेतनमानों से यदि बेहतर नहीं तो, उनसे तुलनीय होने चाहिए।" कहने की आवश्यकता नहीं कि **सेन कमेटी रिपोर्ट** और **मेहरोत्रा कमेटी रिपोर्ट** में स्पष्टत: उल्लिखित कोटियों, जैसे "अखिल भारतीय सेवा", "भारतीय प्रशासनिक सेवा" और "संगठित केन्द्रीय सेवा ग्रुप 'A' के विपरीत, इस **रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट** में किसी कोटि का स्पष्टत: उल्लेख न कर, "वैसे ही पेशों" जैसी घालमेल की अस्पष्ट शब्दावली का उल्लेख अकारण नहीं, बल्कि इरादतन और व्यवस्था-निर्दिष्ट है। इसे आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट में प्रस्तावि वेतनमानों और प्रोन्नति के टाइम फ्रेम को सारणी 1 में दिखाया गया है, तथा तुलना के लिए, केन्द्रीय सेवाओं के ग्रुप 'A' और ग्रुप 'B' के लिए **पांचवें केन्द्रीय वेतन आयोग** द्वारा प्रस्तावित वेतनमानों और प्रोन्नति के *टाइम-फ्रेमों* को सारणी 2 में दर्शाया गया है।

उपरोक्त दोनों सारणियों की परस्पर तुलना करने पर, यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है कि केन्द्रीय सेवाओं के ग्रुप 'A' के ग्रेड 3 तक के संस्तुत वेतनमान और **रस्तोगी कमेटी** द्वारा शिक्षकों के लिए संस्तुत वेतनमान तो लगभग समान हैं, परन्तु केन्द्रीय सेवाओं के ग्रुप 'A' के अफसरों के ग्रेडो की संख्या इतनी अधिक है और उनकी समयबद्ध प्रोन्नति की रफ्तार इतनी तेज है कि वे चार वर्ष बाद ही बिना पीएच.डी. वाले नियुक्त शिक्षकों से अधिक वेतन पाने लगेंगे, जबकि बिना पीएच.डी. वाले नियुक्त शिक्षक सात वर्ष बाद ही उनके समयकक्ष वेतनमान पाने के दावेदार बन सकेंगे, और इस प्रकार वे, केन्द्रीय सेवाओं के ग्रेड 'A' के अफसरों के मुकाबले, अपनी दो वर्षों की अतिरिक्त सेवा-अवधि के बावजूद, कुल मिलाकर, लगभग 16 लाख 31 हजार रुपये के घाटे में ही रहेंगे, जैसा कि **टी रवि कुमार** और **बद्री रैना** ने हिसाब लगाया है (देखें इकॉनमिक एण्ड

सारणी 1 : शिक्षकों के वर्तमान और **रस्तोगी कमेटी** द्वारा संस्तुत वेतनमान और प्रोन्नति-विधान

प्रोन्नति ग्रेड	पद वेतनमान	**वर्तमान** अर्हता के लिए **सेवा-वर्ष** पीएच.डी. के साथ	बिना पीएच.डी. के	**रस्तोगी कमेटी द्वारा संस्तुत** वेतनमान	अर्हता के लिए **सेवा-वर्ष** पीएच.डी. के साथ	बिना पीएच.डी. के
प्रवेश ग्रेड लेक्चरर	Rs.22000-75 2800-100-4000	प्रवेश	प्रवेश	Rs. 8000-275 135000	प्रवेश	प्रवेश
1.लेक्चरर (सीनियरस्केल)	Rs.3000-100-3500-125-	5	8	Rs.10000-325 -15200	4	7
2. सेलेक्शन ग्रेड रीडर	Rs. 3700-125-4950-150-	13	16	Rs. 12000-375 - 18000	10	13
3. प्रोफसर	Rs. 4500-150-5700-200-7300	23	–	Rs. 14300-450 - 22400	20	–

*स्रोत : **रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट**, 1997 के आधार पर तैयार किया गया*

पालिटिकल वीकली, 2-8 अगस्त, 1997, पृ.1985 और 1987)। अत: रस्तोगी कमेटी द्वारा "वैसे ही पेशों" के वेतनमानों से "तुलनीय" वेतनमान दिये जाने की संस्तुति, नवनियुक्त पीएच.डी. रहित शिक्षकों के शुरुआती चार वर्षों को छोड़कर, बाकी अवधि के लिए एक सरासर झूठ और गुमराह करने वाली बात है।

रस्तोगी कमेटी द्वारा संस्तुत वेतनमानों और पांचवे केन्द्रीय वेतन आयोग द्वारा संस्तुत वेतनमानों के बीच अगर कोई तुलनीयता हो सकती है तो वह सिर्फ केन्द्रीय सेवाओं के ग्रुप 'B' के वेतनमानों के साथ ही हो सकती है। प्रकटत: तो इस ग्रुप के लिए संस्तुत वेतनमानों और **रस्तोगी कमेटी** द्वारा शिक्षकों के लिए संस्तुत वेतनमानों के प्रोन्नति के ग्रेडो की संख्या समान यानी चार है, और यहां तक कि शिक्षकों के लिए प्रोन्नति की समयबद्धता और वेतनवृद्धि की तस्वीर भी कुछ बेहतर ही प्रतीत होती है, परन्तु यह याद रखना चाहिए कि जहां ग्रुप 'B' में समयबद्ध प्रोन्नतियों में कोई बाधा नहीं आने वाली है, वहीं उसके विपरीत, शिक्षकों को अपनी समयबद्ध प्रोन्नति के लिए कम से कम दो रिफ्रेशर कोर्सों, अन्य अकादमिक उपलब्धियों, छात्रों द्वारा मूल्यांकन, दो बाहरी विशेषज्ञों द्वारा मूल्यांकन, और फिर एक चयन-समिति के समक्ष साक्षात्कार की कई अग्नि *परीक्षाओं* से होकर गुजरना पड़ेगा, और उस पर भी कोई गारण्टी नहीं कि अगले ग्रेड में प्रोन्नति मिल ही जायेगी-और, सर्वोपरि तौर पर, शैक्षणिक अफसरशाही की जीहजूरी करने से लेकर "पूजा-भेट" देने तक की जरूरतें तो इसमें अन्तर्निहित तौर पर हमेशा बनी रहेंगी।

अनुसंधान को हतोत्साहन :

यह उप-शीर्षक चौंकाने वाला लग सकता है, क्योंकि **रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट** में "दुनिया के सर्वोत्तम ... अनुसंधानकर्ताओं के बराबर" अनुसंधानकर्ता पैदा करने वाली उच्चतर शिक्षा प्रणाली "सुनिश्चित करने" की बात कही गयी है। परन्तु यही तो साजिशाना इन्तजाम या *चक्रव्यूह* रचा गया है इस रिपोर्ट में, जिसमें प्रकटत: कहा कुछ गया है और निहितार्थ कुछ है। यहां तनिक विस्तार से इसका खुलासा करने की जरूरत है।

रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट में उच्चतर शिक्षा में शिक्षक बनने के दो विकल्प हैं-न्यूनतम स्नातकोत्तर योग्यता के साथ, या डॉक्टरेट कर लेने के बाद। बिना डॉक्टरेट किये नवनियुक्त शिक्षकों को अगले ग्रेडों में 7 वर्षों और 13 वर्षों के बाद प्रोन्नति के अवसर दिये गये हैं, जबकि डॉक्टरेट कर चुके नवनियुक्त शिक्षकों के लिए ये अवसर 4 और 10 वर्षों बाद ही मिल जाने की गुंजाइश है। यह स्थिति प्रकटत: तो अनुसंधान पूरा कर चुके नवनियुक्त शिक्षकों के पक्ष में है तथा उच्च

सारणी 2 : **पांचवे केन्द्रीय वेतन आयोग** द्वारा केन्द्रीय सेवाओं के ग्रुप 'A' और ग्रुप 'B' के लिए संस्तुत वेतनमान और प्रोन्नतिविधान

प्रोन्नति ग्रेड	ग्रेड	**ग्रुप 'A'** वेतनमान	अर्हता के लिए सेवा-वर्ष	ग्रेड	**ग्रुप 'B'** वेतनमान	अर्हता के लिए सेवा-वर्ष
प्रवेश ग्रेड	जूनियर टाइमस्केल	Rs. 8000-275 13500	प्रवेश	IV	Rs. 8000-275 13500	प्रवेश
1.	सीनियर टाइमस्केल	Rs. 10000-375 15200	4	III	Rs. 10000-375 15200	8
2.	जूनियर प्रशासकीय ग्रेड	Rs. 12000-375 16500	8	II	Rs. 12000-375 165000	13
3.	जूनियर प्रशासकीय सेलेक्शन ग्रेड	Rs. 14300-400-18300	13	I	Rs. 14300-400-18300	18
4.	सीनियर प्रशासकीय ग्रेड	Rs. 18400-500-22400	16			
5.	उच्चतर प्रशासकीय ग्रेड	(अ) Rs. 22400-24500 (ब)Rs. 22400-26000 (स)Rs. 24500-26000	24			

स्रोत : **पांचवां केन्द्रीय वेतन आयोग**, 1997, भारत सरकार, के आधार पर तैयार किया गया।

शिक्षा में शिक्षक बनने से पहले अनुसंधान पूरा कर लेने को प्रोत्साहित करती प्रतीत होती है, पर **रस्तोगी कमेटी** की वेतनमान और प्रोन्नति सम्बन्धी संस्तुतियों का जो अंतर्निहित आर्थिक तर्क है, वह कुल मिलाकर, अनुसंधान को हतोत्साहित ही करने वाला है- चाहे शिक्षक नियुक्ति से पहले डॉक्टरेट करना चाहे या नियुक्ति के बाद सेवारत रहते हुए डॉक्टरेट करना चाहे। रस्तोगी कमेटी ने समय के साथ वेतन के जो *प्रोफाइल-ग्राफ* प्रस्तुत किये हैं, उनसे यह बात पूरी तरह से स्पष्ट हो जाती है। **टी रवि कुमार** और **बद्री रैना** ने इन *प्रोफाइल-ग्राफों* के अध्ययन से जो नतीजे निकाले हैं, उनके अनुसार, विश्वविद्यालयों या डिग्री कालेजों में नियुक्ति पाने से पहले डॉक्टरेट कर चुके शिक्षकों को, डॉक्टरेट रहित शिक्षकों के मुकाबले, पूरी सेवा-अवधि के दौरान, कुल 8 लाख 36 हजार रुपये तथा सेवारत रहते हुए डॉक्टरेट करने वाले शिक्षकों को, डॉक्टरेट रहित शिक्षकों के मुकाबले, पूरी सेवा-अवधि के दौरान, कुल 21 हजार 300 रुपये का नुकसान उठाना पड़ेगा (सन्दर्भ : *इकॉनमिक एण्ड पालिटिकल वीकली*, 2-8 अगस्त 1997, पृ. 1986)। फलत:, आर्थिक दृष्टि से, कोई क्यों चाहेगा कि उच्च शिक्षा में शिक्षक बनने के पहले या सेवा-काल के दौरान अपनी डॉक्टरेट पूरी करे? और इतना ही नहीं, सेवा-काल के दौरान डॉक्टरेट करने की परिस्थितियों को भी इस **रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट** में पहले से कहीं अधिक प्रतिकूल बनाकर, हतोत्साहित ही किया गया है। अध्ययन-अवकाश की अवधि को पांच वर्ष से घटा कर 3 वर्ष करते हुए **रस्तोगी कमेटी** का कहना है कि अनुसंधान के लिए अध्ययन-अवकाश "एक बार में दो वर्षों से अधिक के लिए मंजूर नहीं किया जायेगा-" और कि "पूरे सेवा-काल के दौरान अधिकतम स्वीकार्य अध्ययन-अवकाश तीन वर्षों से अधिक का नहीं होगा।" यह भी कहा गया है कि "किसी के सेवा-काल के दौरान अध्ययन-अवकाश दो बार से अधिक नहीं मंजूर किया जायेगा", और कि "शिक्षक को दूसरी बार अध्ययन-अवकाश हेतु अर्ह्य होने के लिए कम से कम पांच वर्ष बिताने होंगे।" अब जरा इसकी विडम्बना पर सोचें कि पहली बार दो वर्षों के लिए मिले अध्ययन-अवकाश का एक वर्ष तो प्राय: अनुसंधान का विषय निर्धारित करने, मौजूदा सन्दर्भों का सिंहावलोकन करने, अनुसंधान प्रणाली तय करने, सम्बन्धित सामग्री एवं आंकड़े एकत्र करने आदि में ही गुजर जायेगा-और इतने सारे काम भी बिना किसी अपरिहार्य वस्तुगत व्यवधान के, युद्ध-स्तर पर करके ही पूरे किये जा सकते हैं। फिर शेष एक वर्ष, और उसके बाद पांच वर्ष बिताकर मिलने वाले अतिरिक्त एक वर्ष (जो सचमुच निर्विघ्न मिल ही जाये तो), में थीसिस तैयार करके प्रस्तुत कर देनी होगी। यह घोर अव्यवहारिक और सच कहें तो, वही अनुसंधान को हतोत्साहित करने वाली बात है। इसमें, यह भी गौरतलब है कि ज्यादातर विश्वविद्यालय डॉक्टरेट के लिए रजिस्ट्रेशन देने से पूर्व एक वर्ष का "ग्राउण्ड वर्क" या **एम.फिल.** कोर्स पूरा करने की शर्त रखते हैं। तब तो **रस्तोगी कमेटी** द्वारा

सुझायी गयी शर्तों के अनुसार अनुसंधान पूरा कर लेना और भी कठिन, बल्कि व्यवहारतः असंभव ही हो जायेगा। हां, डॉक्टरेट की खरीद- बिक्री का बाजार और भी गर्म हो सकता है, जिसके लिए कई विश्वविद्यालय पहले ही से बदनाम हैं।

सेवा-काल के दौरान अनुसंधान के लिए इतना हतोत्साहित करने वाला *चक्रव्यूह* रचने के बाद, रस्तोगी कमेटी एक और तरह से ऐसे अनुसंधान को हतोत्साहित करने का कुचक्र रचती है। **रिपोर्ट** में कहा गया है कि यदि मंजूर किये गये अध्ययन-अवकाश के दौरान कोई शिक्षक अपना डॉक्टरेट पूरा नहीं करता है, तो जुर्माने के तौर पर उसकी अवकाश-अवधि की कुल तनख्वाह का आधा काट कर वापस विश्वविद्यालय भेज दिया जायेगा। इस प्रकार, रस्तोगी कमेटी के युक्ति-जुगाड़ के अनुसार तो तीन वर्षों में डॉक्टरेट कर पाना ही व्यावहारिक नहीं लगता, और ऊपर से जुर्माना देने का खतरा अलग से है। भला, तब कौन शिक्षक सेवारत होते हुए डॉक्टरेट करने की जुर्रत करेगा-सिवाय जोड़-तोड़ करके और पैसे के बलबूते डॉक्टरेट की डिग्री खरीद लेने की हिमाकत करने वाले चन्द एक 'सामर्थी'(!) शिक्षकों के?

सेवारत रहते हुए अनुसंधान-कार्य करने में एक और बाधा **रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट** ने यह खड़ी कर दी है कि अब प्रत्येक शिक्षक को प्रति सप्ताह 40 घण्टे कार्य करना होगा, तथा एक खूसट रूटीन कार्य की तरह अपनी दैनन्दिन गतिविधियों को सम्बन्धित अधिकारी (विभागाध्यक्ष प्राचार्या/आदि) को रोजाना रिपोर्ट करना होगा। यह वास्तव में, शिक्षक की रचनात्मक प्रतिभा को कुन्द कर शैक्षणिक अफसरशाही की जकड़ में कैद कर डालने का ही एक कुचक्र है।

छात्रों द्वारा शिक्षकों का मूल्यांकन और प्राचार्य के वेतनमान:

रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट में छात्रों द्वारा शिक्षकों के मूल्यांकन और उस मूल्यांकन को शिक्षक की प्रोन्नति की अर्हता के मूल्यांकन के लिए आवश्यक बना दिया गया है सिद्धान्ततः तो इसमें कोई बुरी बात नहीं, कारण कि जो छात्र फीस देकर पढ़ते हैं उनकी फीस के एवज में शिक्षक उन्हें कितने सार्थक ढंग से पढ़ाता है, यह मूल्यांकन करने का उनका जनतांत्रिक अधिकार बनता ही है। परन्तु जब हम इसके व्यावहारिक पहलुओं तथा प्राचार्यों के लिए संस्तुत वेतनमानों को एक साथ रखकर देखते हैं तो इसके शिक्षक-विरोधी और शिक्षा-विरोधी नतीजों की अनिवार्यता से इंकार नहीं किया जा सकता। कौन नहीं जानता कि अधिकतर भारतीय विश्वविद्यालयों और डिग्री कालेजों में, खासतौर से, कला वर्ग में, भेड़ियाधसान की तरह प्रत्येक कक्षा में इतने छात्र (कई-कई सौ तक) दाखिल कर लिये जाते हैं, कि न तो उनके बैठने के लिए किसी कमरे की क्षमता होती है और ही ऐसे ठसाठस माहौल में पढ़ने-पढ़ाने का ठीक माहौल रह जाता है। ऐसे में ज्यादातर छात्र तो कक्षा में आते ही नहीं, या आते भी है तो एक हड़बोंग ही मचा रहता है। परन्तु इस सारी विषम परिस्थिति को दरकिनार कर, एकमात्र शिक्षक का ही छात्रों द्वारा मूल्यांकन किये जाने की बात **रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट** में कही गयी है, जिसका व्यावहारिक परिणाम शिक्षक-विरोधी ही निकल सकता है। इसके अतिरिक्त, तमाम ऐसे तत्व जो पढ़ाई की गरज से नहीं, बल्कि दूसरी दिलचस्पियों के तहत, प्रवेश के भेड़ियाधसान में छात्र बन जाते हैं - या वे भी जो किन्हीं व्यक्तिगत द्वेषवश किसी शिक्षक से खार खाये होते हैं - सिर्फ बदले की भावना से भी शिक्षक का "मूल्यांकन" कर सकते हैं। ऐसे में छात्रों द्वारा शिक्षकों के मूल्यांकन की बात सिद्धान्ततः सही होते हुए भी एक विद्रूप प्रहसन बनकर ही रह जाने वाली है।

और इस संभावित विद्रूप प्रहसन को और भी हवा तब मिलने लगेगी, जब **रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट** के अनुसार प्राचार्यों के वेतनमान लागू होंगे। इस **रिपोर्ट** में प्राचार्यों के तीन वेतनमान सुझाये गये है: एक, 1000 से कम छात्र-संख्या वाले विद्यालय के प्राचार्यों के लिए, दूसरा, 2000 से कम, और तीसरा, 2000 से अधिक छात्र-संख्या वाले प्राचार्यों के लिए। अब, भला कौन प्राचार्य नहीं चाहेगा कि अधिक से अधिक छात्रों का दाखिला ले लें, ताकि वह अधिकतम वेतनमान प्राप्त कर सके। ऐसे में फिर वही भेड़ियाधसान, और फिर वही स्थिति हो सकती है जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट की शिक्षक-विरोधी और अनुसंधान विरोधी नीतियों का रहस्य क्या है?

इस आलेख का उपसंहार करते हुए हम इस बात का पुनः दुहरा दे कि **रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट** अपनी पूरी अन्तर्वस्तु और भावना में साम्राज्यवाद के आगे अपनी विवशताओं और जरूरतों के चलते घुटने टेककर उसी कनिष्ठ साझीदार बन चुकी भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था के चरित्र की ही प्रतिध्वनि प्रस्तुत करती है। वस्तुतः यह चरित्र भारत का ही नहीं, तीसरी दुनिया के सभी देशों का बन चुका है, और इसकी शुरुआत 1985 के बाद से ही होने लगी थी। यह वही समय है, जब भारत समेत तीसरी दुनिया के अन्य सभी देशों की अर्थव्यवस्थाएं अभूतपूर्व तेजी से संकट ग्रस्त होने लगी थीं, और तदनुरूप ही साम्राज्यवादी अन्तरराष्ट्रीय फण्डिंग संस्थाओं, जैसे **अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष** और विश्वबैंक, की आर्थिक नव-उपनिवेशवादी नीतियों की आक्रामक काली छायाएं उन्हें घेरने लगी थीं। इन्हीं की दबावकारी पृष्ठभूमि में, और साथ ही अपनी जरूरतों के चलते, भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था ने मानव को पूंजीवादी मुनाफे का संसाधन बनाते हुए शिक्षा मंत्रालय का नाम बदलकर **मानव संसाधन विकास मंत्रालय** कर दिया था, और तथाकथित "नयी शिक्षा नीति" लागू करने की शुरुआत की थी, जो अब अपनी पूरी आक्रामकता के साथ, भारतीय अर्थव्यवस्था के वर्तमान "उदारीकरण" और "संरचानात्मक समायोजन" के दौर में, खासतौर से, उच्च शिक्षा के क्षेत्र में, **रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट** के रूप में सामने आ चुकी है। वस्तुतः तीसरी दुनिया के विकासशील देशों के लिए ऐसी आक्रामक नीतियों की पृष्ठभूमि तो साम्राज्यवादी हितों की प्रतिनिधि संस्था, **विश्वबैंक**, के तत्वावधान में, पिछले दशक के उत्तरार्द्ध में हुए **बैंकाक सम्मेलन** में ही तैयार कर दी गयी थी। इसमें यह स्पष्ट सुझाव दिया गया था कि गरीबी में डूबे तीसरी दुनिया के विकासशील देशों को उच्च शिक्षा पर संसाधन खर्च करने की जरूरत नहीं है, और कि अनुसंधान कार्यों को प्रोत्साहित और उन पर पैसा खर्च करना संसाधनों को बर्बाद करने की बेवकूफी करना है, कारण कि "विकसित" **पश्चिम से तकनोलॉजी, बौद्धिक सम्पदा अधिकार** की शर्तों पर सौदा करके, आयात की जा सकती है (सन्दर्भ के लिए देखें, विश्वबैंक (1986): *फण्डिंग एड्यूकेशन इन डेवलपिंग कण्ट्रीज*, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लन्दन)। (यहां उल्लेखनीय है कि विकासशील देशों को आयात हेतु विकसित देशों की प्रायः वही तकनोलॉजी उपलब्ध होती है जो उनके यहां पुरानी पड़ चुकी होती है।) इस प्रकार, **बैंकाक सम्मेलन** से लेकर अबतक, तीसरी दुनिया के विकासशील देशों के साहूकार बन चुके साम्राज्यवादी देशों के हितों की हिफाजत और वृद्धि करने के लिए जिम्मेदार **कोष-बैंक** जैसी संस्थाओं ने, विकासशील देशों में उच्च शिक्षा को अपने साम्राज्यवादी हितों का उपक्रम बना देने का पूरा इन्तजाम करा डाला है, जिसमें भारतीय शासक वर्ग जूनियर पार्टनर बन चुके हैं, जो कुल मिलाकर भारतीय अफसरशाही और अल्पसंख्यक विशिष्ट उपभोक्ता वर्ग के ही हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। **रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट** उच्च शिक्षा के क्षेत्र में इसी की अभिव्यक्ति है।

रस्तोगी कमेटी रिपोर्ट का व्यापक विरोध अनिवार्य है और निश्चय ही होगा - भी छिटपुट शुरुआत भी हो ही चुकी है। परन्तु इसका कारगर विरोध तो इस समूची भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था के विरोध के साथ ही जुड़ा हुआ है। व्यवस्था-विरोध की लड़ाई से जोड़े बगैर सिर्फ इस **रिपोर्ट** के विरोध की लड़ाई को सफलता की मंजिल तक नहीं पहुंचाया जा सकता।

- विश्वनाथ मिश्र

कृषि नीति – एक

"टिकाऊ खेती" : एक साम्राज्यवादी सुरक्षा जाल

❑ **अरुण किशोर नवल**

आजकल सारी दुनिया में, और खासतौर से, विकासशील देशों में, कृषि विकास के आजतक चले आ रहे 'उच्च निवेश और पूंजी सघन तकनोलॉजी' वाले मॉडल के विरोध और उसके विकल्प में "टिकाऊ खेती" (Sustainable agriculture) की खूब गर्मागर्म चर्चाएं हो रही हैं। इतना ही नहीं, और व्यापक तौर पर, उद्योग, चिकित्सा-सेवा आदि क्षेत्रों के लिए भी इसी तरह की चर्चाएं जोरों पर हैं।

बेशक इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि सारी दुनिया के पैमाने पर उद्योग, कृषि, चिकित्सा-सेवा आदि क्षेत्रों में, खासतौर से 'औद्योगिक क्रान्ति' के बाद से, विकास का जो रास्ता चुना गया उसके अभूतपूर्व प्रतिघात अब अपनी पूरी भयंकरता के साथ प्रकट हो चुके हैं : दुनिया की लगभग सारी प्रमुख नदियां प्रदूषित हो चुकी है;भूमि, जल और वातावरण प्रदूषित हो चुके हैं; जहां द्वितीय विश्वयुद्ध तक यह आमतौर पर माना जाता था कि प्रकृति के संसाधन असीमित और अक्षरणीय हैं वहीं अब उनकी तीव्र विनाशलीलाओं ने बहुतेरे पर्यावरणविदों को यहां तक कह देने के लिए मजबूर कर दिया है कि यदि हालात ऐसे ही चलते रहे तो आने वाले पचास-सौ वर्षों में यह ग्रह आदमी के जीने लायक नहीं रह जायेगा।

समस्याएं सचमुच बहुत विकराल हैं। परन्तु स्थिति बहुत विडम्बनापूर्ण है। कारण कि आज जो लोग "टिकाऊ खेती" या व्यापकता में "टिकाऊ विकास" (Sustainble development) की वकालत कर रहे हैं, वे समस्या की बुनियादी जड़ों में न जाकर, जाने-अनजाने उसी चीज की वकालत कर रहे हैं जो साम्राज्यवाद की अपनी जरूरत है। दरअसल इस चीज की शुरुआत तो तभी होने लगी थी जब साम्राज्यवादी नीतियों के तहत, तीसरी दुनिया के विकासशील देशों में, सन्' 60 के दशक में चालू की गयी तथाकथित "हरित क्रान्ति" के प्रतिघात और दुष्परिणाम सामने आने लगे थे: एक-फसली खेती (मोनोकल्चर) के फलस्वरूप जैव-विविधता के नष्ट होने, बेतहाशा रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग होने से भूमि में लवणीयता-क्षारीयता एवं अन्य रासायनिक असन्तुलन पैदा होने, तथा जल-जमाव आदि की समस्याओं के रूप में। इस तथाकथित "हरित क्रान्ति" के पीछे यह दलील दी गयी थी कि इससे दुनिया में अन्न के अभाव और भूख का नामोनिशान मिट जायेगा। इसके लिए तथाकथित "अधिक उपज देने वाली जातियां" (हाई यील्डिंग वेराइटीज, या संक्षेप में, एच. वाई. वी.) खूब जोर-शोर से प्रचारित एवं प्रसारित करवायी गयीं। परन्तु, वास्तविकता में, ये अधिक उपज देने वाली नहीं, बल्कि खूब खाद-पानी के अनुसार परिणाम देने वाली जातियां (हाई रिस्पांसिव वेराइटीज़ या संक्षेप में एच. आर. वी.) ही थीं, क्योंकि इनके कुल बायोमांस से कतई अधिक नहीं, बल्कि कम ही था। यदि सरल शब्दों में कहें तो, यह उच्च निवेश तकनोलॉजी (हाई इनपुट टेक्नोलॉजी) थी जो साम्राज्यवाद और खासतौर से, अमेरिकी साम्राज्यवाद, द्वारा तीसरी दुनिया के देशों में अपनी तकनोलॉजी, बीज, खाद, कीट एवं खरपतवार नाशक रसायनों एवं कृषि-यंत्रों के निर्यात हेतु अपने बाजार बनाने की नीयत से चालू की गयी थी। इसने विकासशील देशों के थोड़े से सिंचित क्षेत्रों के मुट्ठीभर साधन-सम्पन्न पूंजीवादी फार्मरों एवं कुलकों को तो परिमाणात्मक रूप से जरूर लाभ पहुंचाया, परन्तु विशाल असिंचित क्षेत्रों के बहुसंख्यक साधनहीन गरीब, सीमान्त एवं छोटे किसानों को और तबाह करते हुए हाशिए पर फेंक दिया। इस तरह, इस उच्च निवेश तकनोलॉजी की 'टी. ओ. टी. एप्रोच' (अर्थात ट्रांसफर ऑफ टेक्नोलॉजी एप्रोच) या 'ट्रिकल डाउन थिअरी' की कलई खुल गयी , जिसमें कहा गया था कि यह तकनोलॉजी जो, एक मॉडल के तौर पर, सिंचित क्षेत्रों के साधनसम्पन्न धनी किसानों के फार्मों पर सफल होगी, अपने नतीजो के तौर पर 'रिस-रिस कर' गरीब किसानों तक भी पहुंचेगी। इस धुंआधार साम्राज्यवादी प्रचार-प्रसार में, निश्चय ही एक निहित साम्राज्यवादी स्वार्थ के तहत, इस अकाट्य सच्चाई को कभी सामने नहीं लाया गया कि यह उच्च निवेश तकनोलॉजी निवेश की क्षमता से रहित बहुसंख्यक किसान आबादी में निवेश की क्षमता नहीं पैदा कर सकती थी, बल्कि उन्हें उनकी परम्परागत खेती से भी वंचित कर उन्हें और भी बदहाल ही बना सकती थी। और यही हुआ भी। लेकिन इस सम्भावित कटु सच्चाई पर जानबूझ कर पर्दा डालते हुए, अमेरिकी कृषि-वैज्ञानिक नॉरमन अर्नेस्ट बोरलॉग को "बौनी गेहूं का ब्रह्मा" कहा गया, और उसे शांति के नोबेल पुरस्कार से नवाजा गया। भारत में उसका सबसे बड़ा भोंपू बना एम. एस. स्वामीनाथन जो अपनी हैसियत और औकात के मुताबिक साम्राज्यवादी संस्थाओं द्वारा सम्मानित और पुरस्कृत भी होता रहा – बावजूद इसके कि उसने 'शरबती सोनोरा' में लाइसिन का "उच्च" प्रतिशत रिपोर्ट कर एक भारी फ्राड ही किया था, जिस पर भारत समेत दुनिया के तमाम देशों के वैज्ञानिकों द्वारा उठायी गयी विरोधी आवाजों को साम्राज्यवादी प्रभाव से दबाकर बेअसर कर दिया गया।

सन् 70 के दशक का मध्य आते-आते तथाकथित "हरित क्रान्ति" की उच्च निवेश तकनोलॉजी के दुष्परिणाम इतने भीषण रूप में प्रकट होने लगे कि अब इसकी वकालत करने वालों के लिए इसका पक्ष लेना सम्भव नहीं रह गया। तब साम्राज्यवाद ने एक दूसरी रणनीति अपनायी। 1979 में, रोम में, कृषिसुधार और ग्रामीण विकास पर एक विश्व सम्मेलन (वर्ल्ड कान्फ्रेंस ऑन एग्रेरियन रिफार्म एण्ड रूरल डेवलपमेंट, या संक्षेप में डब्ल्यू. सी. ए. आर. आर. डी.) हुआ, जिसमें टी. ओ. टी. एप्रोच की विफलता को "स्वीकार" किया गया, तथा साधनहीन छोटे एवं सीमान्त किसानों को कृषि की "नयी तकनोलॉजियों का विकास एवं हस्तांतरण" करने वाली संस्थाओं और परियोजनाओं में भागीदारी करने की दिशा में उन्मुख करने के प्रयास शुरू करने की घोषणा की गयी।

इसी पृष्ठभूमि से दुनिया भर की – खासतौर से तीसरी दुनिया की - बहुसंख्यक गरीब किसान आबादियों के लिए "टिकाऊ खेती" की वकालत की जाने लगी। इस "नयी सोच" के तहत तीसरी दुनिया के देशों में जन भागीदारी कार्यक्रम (पीपल्स पार्टिसिपेशन प्रोग्राम या संक्षेप में पी. पी. पी.) फार्मिंग सिस्टम्स रिसर्च (संक्षेप में एफ.एस.आर.) आदि नामों से ढेर सारी योजनाएं, हजारों की तादाद में, उन तथाकथित गैर सरकारी संगठनों द्वारा चलायी जा रही हैं, जो भारी रूप में, साम्राज्यवादी वित्तीय संस्थाओं द्वारा सीधे या परोक्ष में, अनुदानित तो हैं ही, साथ ही, तीसरी दुनिया के देशों की पूंजीवादी संस्थाओं द्वारा भी उन्हें तरह-तरह की आर्थिक एवं गैर-आर्थिक सहायता और सुविधाएं प्राप्त हैं। सातवीं योजना में तो भारत सरकार ने इनके लिए और भी चौड़े दरवाजे खोल दिये हैं। बहरहाल इनकी कुत्सित साम्राज्यवाद-परस्त भूमिका पर चर्चा हम थोड़ी देर बाद करेंगे। पहले आइए, हम देखें कि अबतक के प्रचलित कृषि विकास

के मॉडल के विरोध में तथा "टिकाऊ खेती" के पक्ष में, जो तथाकथित वैज्ञानिक दलीलें दी जा रही हैं, उनकी असलियत क्या है।

निस्सन्देह अबतक के प्रचलित कृषि-विकास (एवं व्यापकता में समस्त विकास) के मॉडल के व्यापक प्रतिघातों और दुष्परिणामों को अनदेखा नहीं किया जा सकता। इनकी जड़ें कहां हैं? यही असली सवाल है। परन्तु आज की एक बहुत बड़ी विडम्बना जो यह है कि स्वयं वैज्ञानिकों के भीतर से ही एक ऐसा समुदाय मुखर हो उठा है जो इन प्रतिघातों और दुष्परिणामों की जड़ें स्वयं विज्ञान में ही तलाश रहा है। उदाहरण के तौर पर, जहां एडिनबरा एवार्ड से सम्मानित विश्वविख्यात वैज्ञानिक रिचर्ड लेविन्स इन प्रतिघातों और दुष्परिणामों को सिर्फ विज्ञान के मत्थे मढ़कर उसे ही "नाकाम विज्ञान" घोषित कर देते हैं[1] वहीं भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान (आइ.ए.आर.आइ.) के कृषि-वैज्ञानिक पी. नारायण इनकी जड़ें कार्टेनियाई विसर्जनवाद और न्यूटनीय यांत्रिकी में देखते हैं।[2] बेशक रिचर्ड लेविन्स एक "समग्र कृषि" के लिए "पूंजी आधारित मॉडल से हटने" की बात करते हैं, और इसी तरह पी. नारायण भी एक "डायलेक्टिकल एप्रोच" की बात करते हैं, परन्तु दोनों ही उस मुनाफा-केन्द्रित पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली की तनिक भी चर्चा नहीं करते जिसने विज्ञान और तकनोलॉजी को इन प्रतिघातों और दुष्परिणामों के लिए अभिशप्त किया है।

बहरहाल बात सिर्फ इन दो वैज्ञानिकों की ही नहीं है। ऐसे बहुतेरे वैज्ञानिक हैं जो वैज्ञानिक इतिहास दृष्टि के अभाव के चलते यह नहीं देख पाते कि इतिहास की जो वर्ग-शक्तियां भौतिक सत्ता पर राज करती हैं, वे ही विज्ञान समेत समस्त बौद्धिक सत्ता पर भी राज करती हैं, कि वे ही वैज्ञानिक विकास का सामान्य दिशा-निर्देशन एवं वैज्ञानिक उपलब्धियों का इस्तेमाल भी करती हैं। आज सारी दुनिया की शासक बुर्जुआ शक्तियां यही कर रही हैं। यहां, प्रसंगवश, बर्तोल्त ब्रेख्त के गैलीलियो नाटक की प्रस्तावना के रफ़ ड्राफ्ट का यह अंश खासतौर से स्मरणीय है कि "बुर्जुआ वर्ग विज्ञान को वैज्ञानिक के दिमाग में विलग कर देता है, उसे एक अपने आप में स्वतंत्र टापू-क्षेत्र के रूप में प्रस्तुत करता है, ताकि वह उसे अपनी राजनीति, अपनी अर्थव्यवस्था, अपनी विचारधारा के रथ में जोत सके।"[4] इस प्रकार वर्तमान विश्व-पूंजीवादी व्यवस्था में विज्ञान को कोसने वाले अधिकतर वैज्ञानिक ठीक इसी दृष्टि-अंधता के शिकार हैं। और तब, जैसा कि जे.डी. बर्नाल ने लिखा है, "विज्ञान का प्रयोग - वर्तमान पूंजीवादी प्रणाली में - एक असमाधेय नैतिक विभ्रम में डाल देता है। नतीजतन या तो हम विज्ञान छोड़ें या नैतिकता, या दोनो ही छोड़ दें। उसके बुनियादी आधार, आर्थिक प्रणाली, को कभी ध्यान में नहीं रखा जाता।"[5] आज "टिकाऊ खेती" के समर्थक वैज्ञानिक इसकी विभ्रम के शिकार हैं, जो नतीजतन, "आर्गेनिक फार्मिंग", "परमाकल्चर" आदि-आदि नामों से वस्तुत: परम्परागत खेती को फिर से जीवित करने की वकालत कर रहे हैं। यह वर्तमान में अतीत को पुनर्जीवित करने का वैसा ही अनैतिहासिक यूटोपियाई ख्याल है जैसा रिपब्लिक में प्लेटो ने दिया था।

आज प्रचलित उच्च निवेश तकनोलॉजी वाले कृषि-विकास के मॉडल के जिन प्रतिघातों और दुष्परिणामों का दोष स्वयं विज्ञान एवं तकनोलॉजी के मत्थे मढ़ा जा रहा है, उनके लिए स्वयं विज्ञान एवं तकनोलॉजी नहीं, बल्कि सारी दुनिया में प्रभुत्वशाली पूंजीवादी व्यवस्था और उनकी मुनाफा केन्द्रित उत्पादन-प्रणाली ही जिम्मेदार है, ये सारे के सारे प्रतिघात और दुष्परिणाम "पूंजीवादी प्रगति" के ही दूषण हैं, जिसका बहुत स्पष्ट एवं मार्मिक चित्रण तो कार्ल मार्क्स ने **'पूंजी' खण्ड 1** के कुंजीभूत अध्याय "मशीनरी और बड़े पैमाने के उद्योग" के अन्तर्गत बहुत पहले ही कर दिया था:

''पूंजीवादी खेती की सारी प्रगति केवल मजदूरों को लूट लेने वाली कला की ही नहीं, बल्कि भूमि को लूट लेने वाली कला की भी प्रगति है, भूमि की उर्वरता को एक निश्चित समय के लिए बढ़ाने की सारी प्रगति उस उर्वरता के चिरस्थायी स्रोतों को बर्बाद कर डालने की ही प्रगति है। एक देश अपने विकास की पृष्ठभूमि के तौर पर बड़े पैमाने के उद्योग के आधार पर, जितना ही आगे की ओर बढ़ता है, जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका के मामले में हो रहा है, विनाश की यह प्रक्रिया भी उतनी ही तेज होती जाती है। इस प्रकार, पूंजीवादी उत्पादन सम्पूर्ण सम्पदा के आदि स्रोतों - भूमि और मजदूर को भीतर से खोखला करते हुए केवल तकनीकों और उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया के संयुक्तीकरण का केवल परिमाणात्मक विकास ही करता है।"[6]

कहने का मतलब यह है कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अन्तर्गत चाहे बड़े पैमाने के उद्योग हों या बड़े पैमाने की खेती-दोनों ही मजदूरों एवं अन्य मेहनतकश जनसमुदायों को बर्बाद करते जाने के साथ-साथ "भूमि की प्राकृतिक शक्ति" को भी नि:शेष करते जाते हैं। इसीलिए "इतिहास की शिक्षा" जैसा कि मार्क्स ने कहा था,

"यह है कि पूंजीवादी प्रणाली एक विवेकसंगत खेती के विपरीत कार्य करती है, अथवा यह कि विवेकसंगत खेती पूंजीवादी प्रणाली के साथ असंगत ही है (भले ही पूंजीवादी प्रणाली खेती में तकनीकी उन्नति को प्रोत्साहित क्यों न करती हो।)..."[7]

वस्तुत: "विवेकसंगत खेती" या यदि आज की ही प्रचलित शब्दावली इस्तेमाल करें तो, "टिकाऊ खेती" इस प्रभावी पूंजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था में सम्भव ही नहीं है। इस पर बात करने और अमल करने की पहली पूर्वशर्त तो यह है कि पहले इस पूंजीवादी व्यवस्था और उसकी मुनाफा केन्द्रित उत्पादन-प्रणाली को ही उखाड़ फेंका जाये। यह निश्चय ही एक क्रान्तिकारी व्यवस्था परिवर्तन-समाजवादी क्रान्ति–की मांग है। इसे पूरा करके ही ऐसा विकास सम्भव किया जा सकेगा जो वर्तमान की आवश्यकताओं को तो पूरा करे ही साथ ही भावी पीढ़ियों की भी आवश्यकताएं पूरी करने का मार्ग प्रशस्त करता रहे।

लेकिन आज जब इसी लुटेरी और विनाशकारी पूंजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत "टिकाऊ खेती" की खूब जोर-शोर से चर्चा की जा रही है तो यह अवश्य सोचने की बात है कि ऐसी "चर्चाओं" का 'थिंक टैंक' कहां स्थित है। यह जानना न तो कोई अबूझ पहेली बूझना है, न ही इसके लिए बहुत अधिक दिमाग लड़ाने की जरूरत है। कौन नहीं जानता कि आज इसकी सर्वाधिक चर्चा साम्राज्यवादी संस्थाओं और उनके द्वारा वित्तपोषित और अनुदानित गैर-सरकारी संगठनों द्वारा ही की जा रही है। आक्सफैम (यू.के), केयर (यू.एस) नोविब (नीदरलैण्ड्स), एवं साम्राज्यवादी देशों की अन्य हजारों संस्थाएं अरबों डालर हर साल पानी की तरह तीसरी दुनिया के देशों में "टिकाऊ खेती" के नाम पर बहा रही है, और इनके चाकर एन जी ओ एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के देशों में कुकुरमुत्तों की भांति छा गये हैं। अकेले अफ्रीका में ही ऐसे कोई 80,000 एन जी ओ काम कर रहे हैं। इन्हें अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक, एफ ए ओ आदि अन्तराष्ट्रीय साम्राज्यवादी संस्थाओं से भी सीधे या परोक्ष में भारी वित्तीय एवं तकनीकी सुविधाएं प्राप्त हो रही हैं। साथ ही "भूमण्डलीकरण" के इस दौर में साम्राज्यवाद के आगे घुटने टेककर उसका छुटभैया साझीदार बन चुकी तीसरी दुनिया के देशों की पूंजीवादी व्यवस्थाएं और सरकारें भी उन्हें भारी मदद पहुंचा रही हैं।

वस्तुत: यह सबकुछ एक बहुत ही सुनियोजित साजिश के तहत, विश्वव्यापी पैमाने पर, साम्राज्यवाद द्वारा फैलाया गया एक सुरक्षा जाल है, जिसे "टिकाऊ खेती" नाम दिया गया है। यहां स्मरणीय है कि सत्तर के दशक के अन्त से ही साम्राज्यवाद का आन्तरिक संकट उत्तरोत्तर घनीभूत होता गया और वह उसे उत्तरोत्तर आक्रामकता के साथ तीसरी दुनिया के विकासशील देशों पर फेंकता जा रहा है – कोष-बैंक, गैट और अब डब्ल्यू टी ओ की नीतियां इसी के सबूत हैं। ऐसे में तीसरी दुनिया के देशों की मेहनतकश गरीब आबादियों, खासतौर से, बहुसंख्यक गरीब ग्रामीण आबादियों को अभूतपूर्व तेजी से तबाही और बर्बादी के हाशिए पर धकेला जा रहा है। परन्तु उनके भीतर से विद्रोह का लावा कभी न फूटे, सुरक्षा-कवच के तौर पर उन्हें अपने सीमित साधनों के अन्तर्गत किसी भांति जीते रहने और उसे ही अपनी नियति मानते रहने के लिए "टिकाऊ खेती" का ठंडा पाठ पढ़ाया जा रहा है, जिसमें ढेरों बुद्धिजीवी और वैज्ञानिक जाने या अनजाने लगे हुए हैं। "टिकाऊ खेती" की यही असलियत है।

सन्दर्भ

1. रिचर्ड लेविन्स : "नाकाम विज्ञान", दैनिक जागरण, साप्ताहिक परिशिष्ट, रविवार, 9 फरवरी, 1997

2. पीं नारायण : "ए डायलेक्टिकल पर्सपेक्टिव ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च फॉर सस्टेनेबल डेवलपमेन्ट", जर्नल ऑफ न्यूक्लियर एग्रीकल्चर एण्ड बायोलॉजी, वाल्यूम 21, नं. 3, सितम्बर, 1992, पृ. 140

3. पीं नारायण "ए डायलेक्टिकल पर्सपेक्टिव ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च", द हिन्दू, 1 मई, 1997

4. वी. तोल्सताइरख द्वारा "गैलिलियो वर्सस गैलीलियो" में उद्धृत, साइन्स एण्ड मॉरलिटी, प्रोग्रेस पब्लिार्सस, मास्को, 1975, पृ. 225.

5. जे डी बर्नाल : "द एब्डिकेशन ऑफ साइन्स", द मार्डन क्वाटरली, खण्ड 8, संख्या 1, शरद, 1952-1953, पृ. 45-46.

6. कार्ल मार्क्स : कैपिटल, खण्ड 1, पृ. 637-38.

7. कार्ल मार्क्स : जॉन बेलामी फॉस्टर द्वारा "मार्क्स एण्ड इनवाइरनमेन्ट" में उद्धत, मंथली रिव्यू, खण्ड 47, संख्या 3, जुलाई-अगस्त 1995. दायित्वबोध, सितम्बर-अक्टूबर 1996, पृ.22

जनता, और केवल जनता ही दुनिया के इतिहास का निर्माण करने वाली प्रेरक शक्ति होती है।

– माओ त्से-तुङ

कृषि नीति – दो

भारतीय कृषि का भूमण्डलीयकरण

❑ ए. सी. मिनोचा

सी. एच. हनुमन्त राव और अशोक गुलाटी ने ('भारतीय कृषि: उभरते परिप्रेक्ष्य और नीतिगत मुद्दे' ई पी डब्ल्यू, 31 दिसम्बर, 1994 में) भारतीय कृषि को विश्व-बाजार के साथ एकीकृत करने की जोरदार वकालत की है और यह तर्क दिया है कि इस प्रक्रिया से कृषि-व्यापार की स्थिति में सुधार होगा, जिसके लाभ रिस-रिस कर गरीबों तक भी पहुंचेंगे। इस मकसद को मद्देनजर इन लेखकों ने कृषि-विकास की एक रणनीति का सुझाव दिया है, जिसके अन्तर्गत आपूर्ति सम्बन्धी कारकों में व्यापक नीतिगत बदलाव तथा खाद्यान्न-उत्पादन से हटकर अनुकूल घरेलू एवं निर्यात सम्बन्धी मांग वाली नयी गतिविधियों, जैसे डेयरी एवं अन्य पशु उत्पादों तथा फलों एवं फूलों की खेती, पर जोर देने की बातें शामिल हैं, ताकि कृषि प्रोसेसिंग को त्वरान्वित किया जा सके। उनका यह दृष्टिकोण इस तर्क पर आधारित है कि खाद्यान्नों की घरेलू मांग में वृद्धि की दर गिरती गयी है और यह दीर्घकालिक खाद्यान्न उत्पादन की 2.6% वार्षिक वृद्धि-दर से अधिक नहीं हो सकती। इसका बुनियादी कारण है ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापक पैमाने पर गैर-खाद्यान्न वस्तुओं और शहरी उपभोग की वस्तुओं की उपलब्धता, और इसलिए कृषि-विकास को आत्म-निर्भरता के लक्ष्य के भीतर कैद रखने की अब और अधिक आवश्यकता नहीं है, बल्कि अब इसे सकल विकास-दर को बढ़ाने के लिए व्यापार से लाभ उठाना चाहिए। इस दृष्टिकोण पर इस आधार पर सवाल उठाया जा सकता है कि अल्पसंख्यक आबादी द्वारा गैर-खाद्यान्नों एवं शहरी उपभोग की वस्तुओं की खपत में भले ही बढ़ोत्तरी हुई हो, लेकिन भारी बहुसंख्यक ग्रामीण आबादी द्वारा उपभोग की जाने वाली उन चीजों, जिसमें कि मुख्यत: अनाज ही शामिल है, उनकी खपत में निश्चित ही बढ़ोत्तरी नहीं हुई है। बुनियादी उपयोग की वस्तुओं की बढ़ती कीमतों के फलस्वरूप, तेजी से घटती जा रही क्रयशक्ति के कारण उनकी खपत कम ही होती जा रही है। खाद्यान्नों की घटती मांग का कारण अंशत: बहुसंख्यक आबादी की क्रयशक्ति में गिरावट ही है। लगभग दो-तिहाई ग्रामीण आबादी छोटे एवं सीमान्त किसानों और भूमिहीन मजदूरों की है। इस आबादी की भोजन की आवश्यकता पूर्णरूपेण पूरी नहीं हो पाती और वे बाजार में शुद्ध खरीदार हैं। ग्रामीण आबादी का यह विशाल हिस्सा कृषि के भूमण्डलीकरण में कोई भागीदारी नहीं कर सकता। चूंकि 'खाद्यान्न की 'अधिकता' वास्तविक नहीं है, इसलिए बढ़ती आबादी और गरीब आबादी की बढ़ती मांग को देखते हुए खाद्य सम्बन्धी आत्मनिर्भरता आगे भी कृषि-नीति के लक्ष्यों में से एक लक्ष्य बनी रहेगी।

कृषि में विविधता लाने और इस क्षेत्र में वृद्धि को त्वरान्वित करने सम्बन्धी इन लेखकों के दृष्टिकोण से किसी का मतभेद नहीं हो सकता, लेकिन आत्म-निर्भरता के लक्ष्य को कृषि के भूमण्डलीकरण के लक्ष्य में तब्दील कर देने के दृष्टिकोण से अधिकांश अपने को असहमत ही पायेंगे। आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत कृषि की उपेक्षा के कारण, तथा नतीजतन कृषि में घटते निवेश और कृषि-उत्पादन की अस्थिरता के कारण, खाद्यान्नों में मामले में 2.6% की वृद्धि-दर को भी बनाये रखना सम्भव नहीं हो सकेगा। हम हरित क्रान्ति के बाद एक लम्बी अवधि के विकास को पहले ही देख चुके हैं जिसके लाभ रिसकर गरीबों तक नहीं पहुंच सके हैं। अब हम क्या यह विश्वास कर सकते हैं कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के नतीजे रिस-रिस कर गरीबों तक पहुंचेंगे?

इन लेखकों द्वारा सुझायी गयी कृषि-विकास की रणनीति बड़े फार्मरों और बहुराष्ट्रीय निगमों को ही लाभ पहुंचा सकती है जो हमारे प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के लिए स्थानीय फर्मों के साथ साझीदारी स्थापित कर सकते हैं। लेकिन भूमण्डलीकरण का लक्ष्य हासिल करने के लिए कृषि का आधुनिकीकरण और दिशापरिवर्तन करने का उनका तर्क, हमारी कृषि की प्रकृति और ग्रामीण आबादी की सामाजिक-आर्थिक विशिष्टताओं की दृष्टि से, गले के नीचे उतरने लायक नहीं है।

हनुमन्त राव ने अपने लेख, 'स्ट्रक्चरल एडजस्टमेण्ट: लेसन्स फ्रॉम ईस्ट एशियन एक्सपीरिअन्स' (द टाइम्स ऑफ इण्डिया, 10 फरवरी'95), में यह स्वीकार किया है कि गरीब, जो संसाधनों के अभाव से ग्रस्त हैं और कुपोषण के शिकार हैं तथा जिनके पास न तो संसाधन हैं और न ही कार्यकुशलता, वे बाजार के अवसरों का लाभ नहीं उठा सकते। पूर्वी एशियाई देशों का अनुभव एक क्लासिकीय उदाहरण प्रस्तुत करता है कि कैसे कमजोर तबकों की सामाजिक आर्थिक स्थिति सुधारने की दिशा में निर्दिष्ट संरचनात्मक परिवर्तनों से बाजार को उनके अनुकूल बनाकर गरीबी और असमानताओं में एक उल्लेखनीय कमी

लायी गयी और इसके साथ ही साथ विकास दरों को भी एक बहुत ऊंचे स्तर तक उठाया जाता रहा। लेखक की यह तजबीज सही है कि: "यदि संरचनात्मक समायोजन वाले आर्थिक सुधारों द्वारा आर्थिक और सामाजिक रूप से अभाव-ग्रस्त एवं उपेक्षित भारी आबादी को और अधिक हाशिये पर नहीं फेंक देना है, तो संरचनात्मक परिवर्तन के उपायों, अर्थात ऐसे उपायों को, जो बाजार को गरीबों के पक्ष में मोड़ने के लिए तैयार किये जायें, उच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए।"* लेकिन, दूसरी तरफ, यही लेखक ई पी डब्ल्यू में, कृषि-विकास की एक ऐसी रणनीति की वकालत कर रहा है जो गरीबों को निश्चय ही और अधिक हाशिए पर फेंक देने वाली है।

भारतीय कृषि कुछ ऐसी संरचनात्मक खामियों से ग्रस्त है जिनके चलते यह अर्थव्यवस्था के उदारीकरण की प्रक्रिया से कोई भी लाभ उठा पाने में पूरी तरह असमर्थ है। कृषि में से करीब 76 प्रतिशत जोतें तो ऐसी हैं कि उनमें से प्रत्येक जोत दो हेक्टेयर से छोटी ही है और उनमें से भी दो-तिहाई जोतें ऐसी हैं जिनमें प्रत्येक जोत एक हेक्टेयर से भी छोटी है। ये जोतें भी तेजी से 0. 39 हेक्टेयर के औसत आकार में टूटती हुई, बेकार और अलाभकर बनती जा रही हैं। दो-तिहाई से ज्यादा किसान कृषिगत मालों और यहां तक कि खाद्यान्नों के भी शुद्ध खरीदार है। प्रतियोगी बाजार में उच्चतर कीमतें उनके हितों के खिलाफ ही जाने वाली हैं। इस तथ्य को ये लेखक स्वीकार करते हैं जब वे कहते हैं कि "चूंकि खाद्यान्नों के मामले में बाजार को खोल देने से घरेलू कीमतों का बढ़ना अवश्यंभावी है, इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि मौजूदा गरीबी-उन्मूलन कार्यक्रमों और खाद्यान्नों एवं अन्य आवश्यक मालों की सार्वजनिक वितरण प्रणाली के क्रियान्वयन को और मजबूती से लागू करते हुए तथा इन्हें सही मायने में सिर्फ इनके पात्र लोगों को ही मुहैया करने का लक्ष्य बनाकर, गरीबों के लिए एक समुचित सुरक्षा जाल तैयार किया जाय।" हम यह तो पहले से ही जानते हैं कि सरकार की नीति रह-रहकर खाद्यान्न की सरकारी कीमतों में बढ़ोत्तरी करके, खाद्यान्नों की खुले बाजार में कीमतों और सरकारी कीमतों के बीच के अन्तर को कम करने की रही है, जिसका नतीजा सरकारी खाद्यान्न भण्डार से अनाज की निकासी में गिरावट के रूप में ही सामने आता रहा है। हमारे पास खाद्यान्नों के भण्डार और विदेशी मुद्रा के भण्डार के लाभकारी इस्तेमाल की कोई नीति नहीं है।

भारतीय कृषि के विश्व बाजार के साथ एकीकरण के नतीजे वस्तुत: उस दिशा में मिलने वाले नहीं हैं, जिस दिशा में इन लेखकों ने कल्पना की है।

दरअसल, इस प्रकार के एकीकरण के व्यापक और दूरगामी निहितार्थों पर इन लेखकों ने गौर ही नहीं किया है और इसका कारण यह नहीं है कि लेखक इनसे वाकिफ नहीं थे बल्कि इसका कारण यह है कि वे भारतीय कृषि के भूमण्डलीकरण के प्रवक्ता होने के नाते तसवीर का केवल सुहावना पक्ष ही प्रस्तुत करना चाहते हैं। ऐसे एकीकरण के दूरगामी और व्यापक निहितार्थों के बारे में, मीरा नन्दा ने अपने लेख, 'ट्रांसनेशनलाइजेशन ऑफ थर्ड वर्ल्ड स्टेट एण्ड अनडूईंग ऑफ ग्रीन रिवोल्यूशन' (ई पी डब्ल्यू, 28 जनवरी'95) में , पूरे विस्तार के साथ चर्चा की है। इस शोधपरक लेख में आत्म-निर्भर और गरीबों की पक्षधर कृषि नीतियां बना सकने की तीसरी दुनिया के देशों की क्षमता पर कृषि-व्यापार के अन्तरराष्ट्रीयकरण के इस दौर के प्रभाव की गहरी छानबीन की गयी है, और इस बात को स्पष्ट किया गया है कि कृषि के आधुनिकीकरण की प्रारंभिक नीतियां यानी तथाकथित हरित क्रान्ति की तुलना में, यह वर्तमान चरण इस बात की अनुमति देने वाला नहीं है कि कृषि नीतियां राष्ट्र से निर्धारित प्राथमिकताओं द्वारा निर्देशित हों। इस लेखिका की तजबीज एकदम सही है कि "यह नयी कृषि 'नयी कृषि वाले देशों' को स्थानीय उत्पादन-सम्बन्धों को, एक समय की औपनिवेशक कृषि की तुलना में, कहीं अधिक घनिष्ठता के साथ, विश्व अर्थव्यवस्था के साथ नत्थी कर देने और इस प्रकार, स्थानीय आबादी की आवश्यकताओं से कृषि को कहीं अधिक गहराई से विच्छिन्न कर देने का काम कर रही है।" नयी गैट-व्यवस्था, सदस्य देशों के भीतर कृषि को दी जाने वाली घरेलू सहायता पर रोक लगाने, कृषिगत आयातों के लिए बाजार की खुली छूट देने तथा बीज, खाद और कीटनाशकों में बौद्धिक सम्पदा अधिकार लागू करने के निर्णय के जरिये उनकी घरेलू नीतियों में हस्तक्षेप करके इस प्रवृत्ति को और अधिक बल प्रदान कर रही है। लेखिका ने कई ऐसे देशों का अनुभवसिद्ध सबूत पेश किया है जो अपने राष्ट्रीय विकास के बहुत ही महत्वपूर्ण नीतिगत क्षेत्रों को ठेका-कृषि और यहां तक कि यू. एस. ए. आइ. डी. और ब्रिटिश कामनवेल्थ डेवलपमेण्ट कारपोरेशन्स जैसी बहुराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के मार्फत अन्तरराष्ट्रीयकृत कृषि-उद्योग के हवाले कर चुके हैं। ब्रिटिश कॉमनवेल्थ डेवलपमेण्ट कारपोरेशन ने विश्व बैंक के साथ मिलकर एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका में पाम ऑयल, कोका और रबड़ की खेती की ठेका प्रणाली चालू कर दी है। ठेका-खेती का एक ऐसा ही उदाहरण पंजाब में पेप्सी कम्पनी ने प्रस्तुत किया है।

मीरा नन्दा ने बहुतेरे विकासशील देशों में इस ठेका-कृषि के दुष्परिणामों की ओर हमारा ध्यान खींचा है। स्वयं हमारे देश में, सरकार हिन्दुस्तान लीवर तो पहले ही से झींगा-खेती में लगा हुआ था, तथा अब दूसरी कम्पनियां भी उच्च तकनोलॉजी वाले प्रोसेसिंग संयंत्र लगा रही हैं, जिनमें से कुछ ने तो तकनीकी समझौते भी कर रखे हैं और विश्व बैंक से उन्हें अनुदान भी प्राप्त हो रहा है। यह तथाकथित नीली क्रान्ति मछुआरों की रोजी-रोटी छीन लेगी, तथा निर्यात-निर्दिष्ट नीतियां पारिस्थितिकीय विनाश की समस्या की और स्थानीय मछुआरों के हाशिए पर फेंक दिये जाने की समस्या को और भी भीषण बना देंगी।

राव और गुलाटी द्वारा प्रस्तावित विश्वअर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण की नीति भारतीय कृषि के हितों को संकट में डाल देगी, और खास तौर से उस भारी बहुसंख्यक ग्रामीण आबादी को, पंगु बना कर रख देगी जो एकीकरण की प्रक्रिया में शरीक होने की दृष्टि से बहुत ही अक्षम है। हरित-क्रान्ति वाले काल के विपरीत, कृषि व्यापार के अन्तरराष्ट्रीयकरण की यह रणनीति हमारे देश की आत्म-निर्भरता एवं गरीबों के हितों पर आधारित नीतियां बनाने की क्षमता को ही बाधित कर देगी। इन लेखकों ने तसवीर का सिर्फ एक ही पहलू पेश किया है जो कि गलत मानदण्डों पर आधारित है। वास्तविकताओं पर आधारित तसवीर के दूसरे पहलू को मीरा नन्दा ने प्रस्तुत किया है।

[इकनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली 15 अप्रैल, 1995 से साभार]

अनुवाद : **प्रो. प्यारेलाल**

***** *ए. सी. मनोचा और हनुमन्त राव बाजार को गरीबों के पक्ष में मोड़ने की सम्भावना के बारे में यहां जो विचार प्रस्तुत करते हैं, हम उससे सहमत नहीं हैं। बुर्जुआ वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत और बुर्जुआ सामाजिक आर्थिक संरचना में बाजार की स्वतंत्र गति और आन्तरिक अन्तरविरोधों को शासक वर्ग यदि चाहें भी तो, मनोनुकूल ढंग से नियंत्रित, निर्देशित नहीं कर सकता। पूर्वी एशियाई देशों के जिस अनुभव को क्लासिकी उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है, वह महज एक वायुपूरित बैलून साबित हुआ जो अब पिचक चुका है। दूसरे, जब इनकी "चकाचौंधपूर्ण प्रगति" को बहुत उछाला जा रहा था, उस समय भी, इसके पीछे आंकड़ों की बाजीगरी का भी एक महत्वपूर्ण हाथ था। वस्तुत: इन देशों में, श्रम का "कैजुअलाइजेशन" और "अनौपचारिकीकरण" करके मजदूर वर्ग को बुरी तरह निचोड़ा जा रहा था। उच्च प्रगति के बावजूद यह प्रक्रिया आबादी के एक हिस्से को जीने की न्यूनतम जरूरतें ही जैसे-तैसे मुहैया हो पा रही हैं। - सम्पादक*

रियो सम्मेलन के पांच वर्ष :

पर्यावरणीय विनाश की तान पर पर्यावरणीय सुरक्षा का भ्रमर-गुंजन

पांच वर्ष पूर्व, रियो डि जेनेरो में, धरती के पर्यावरण की सुरक्षा और "टिकाऊ विकास" (सस्टेनेबल् डेवलपमेण्ट) के नाम पर "पृथ्वी शिखर सम्मेलन" हुआ था। इसमें 100 से अधिक देशों के राष्ट्राध्यक्षों, प्रधानमंत्रियों, पर्यावरण मंत्रियों, पर्यावरणविदों एवं तमाम गैर-सरकारी संगठनों के प्रतिनिधियों और पर्यावरणवादियों ने भाग लिया था। इस सम्मेलन में बड़े ऊंचे-ऊंचे लक्ष्य निर्धारित किये गये थे और प्रस्ताव पास किये गये थे। सम्मेलन की सफलता की खुशी में 'रियो नाइट' का जश्न मनाया गया था; रतालू की सैण्डविचें खायी गयी थीं; गाजर-जूस की काकटेले उड़ायी गयी थी; ब्राजील के उन्मुक्त समलिंगियों के मदमस्त नगाड़े बजे थे, जिसकी धुन पर दुनिया भर से आये हरितवादी और पर्यावरणवादी क्यूबाई कोंगा नर्तकों की भांति झूम उठे थे, और छक कर धरती की सेहत के जाम पिये थे।

लेकिन इतने उम्दा जश्न में किये गये इतने उम्दा वायदों का इन पांच वर्षों में क्या हुआ है? जंगल-कटाई की दर जो 1991 में 11,000 वर्ग किमी. प्रति वर्ष थी, अब बढ़कर 15,000 वर्ग किमी. प्रति वर्ष से अधिक हो चुकी है। वायुमण्डल में 112 अरब टन कार्बन डाइ ऑक्साइड और ठेल दी गयी है और इस तरह वायुमण्डल में कार्बन डाइ ऑक्साइड का संकेन्द्रण 2% और बढ़ गया है। ब्राजील के अमेजन क्षेत्र में एग्रोफॉरेस्ट्री, मिलवॉ फसलों की खेती और स्थानीय वनस्पतियों की जैव-विविधता को बढ़ावा देने कि लिए विश्वबैंक द्वारा प्रस्तावित रोण्डोनिया परियोजना को जहां एक "नया प्रबोधनकारी प्रयास" कहकर खूब सराहा गया था, विश्व बैंक ने खुद ही खटाई में डाल दिया, क्योंकि वह वहां की राज्य-सरकार द्वारा स्वीकृत शर्तों को लागू करने पर तैयार नहीं हुआ, और उल्टे हुआ यह कि इसके लिए निर्धारित 167 मिलियन डॉलर की धनराशि में से 11 मिलियन डॉलर ऐसे खा लिए गये कि जिसका काई हिसाब नहीं। रियो सम्मेलन में यह स्वीकार किया गया था कि धनी राष्ट्र अपने **सकल घरेलू उत्पाद** (**जी डी पी**) का कम से कम 0.7% पर्यावरण के स्वास्थ्य के लिए खर्च करेंगे। परन्तु इसका उल्टा हश्र यह हुआ है कि इस मद में उनका योगदान घटकर 0. 27% से भी कम रह गया है।

फिर भी, पर्यावरण विनाश की तान पर पर्यावरण सुरक्षा का भ्रमर-गुंजन जारी है। दिसम्बर 1996 में बढ़ते मरुस्थलीकरण की समस्या को लेकर एक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन हुआ, जिसे "रियो प्लस-5" सम्मेलन कहा गया। परन्तु इसमें न वित्तीय उपायों का मसला हल हो पाया, न ही कोई उत्साह या आशावाद ही नजर आया। यह इतना वाहियात रहा कि एक गैर-सरकारी संगठन, **ग्रीनपीस इण्टरनेशनल** के राजनीतिक सलाहकार क्लिफ कर्टिस के अनुसार, "यह एकदम स्पष्ट हो गया कि वे एक ठोस भविष्य की खातिर अपने अल्पकालिक राष्ट्रीय हितों के साथ समझौता करने में असमर्थ या अनिच्छुक थे।" लिहाजा इस सम्मेलन को "रिया माइनस-5" का दुर्नाम मिला।

बहरहाल, पर्यावरण सुरक्षा का फिर एक नया भ्रमर-गुंजन पिछले जून के आखिरी हफ्ते में न्यूयार्क स्थित राष्ट्रसंघ मुख्यालय में हुआ, जिसमें 170 से अधिक राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। गौरतलब है कि इसी वर्ष रियो क्षेत्र में तेजाबी बारिश भी हुई। परन्तु इस सम्मेलन में इस पर कोई चर्चा नहीं हुई। यह सम्मेलन रियो सम्मेलन के बाद की पांच वर्ष की गतिविधियों का लेखा-जोखा लेने ओर भूमण्डलीय तापन, बढ़ते मरुस्थलीकरण तथा वित्तीय सहायता सम्बन्धी उपायों पर एक "राजनीतिक वक्तव्य" तैयार करने के लिए अयोजित किया गया था। परन्तु इसमें विकसित राष्ट्र बनाम विकासशील राष्ट्र और यहां तक कि स्वयं विकसित राष्ट्रों का आपसी विवाद इतना उलझ गया कि कोई सार्थक निर्णय न लिया जा सका। उल्लेखनीय है कि दुनिया की मात्र 4% आबादी वाला परन्तु दुनिया का 20% ग्रीन हाउस उत्सर्जन करने वाला देश अमेरिका इस उत्सर्जन में कोई कटौती करने के वायदे से साफ मुकर गया, और राष्ट्रपति क्लिंटन ने यह कहकर मसले को टाल दिया कि इसपर अमेरिकी जनता और अमेरिकी कांग्रेस को विश्वास में लेना होगा। बेशक उपराष्ट्रपति अल गोरे ने विकासशील देशों को पांच वर्ष की अवधि में पर्यावरण सुरक्षा के नाम पर एक अरब डॉलर की तुच्छ सहायता देने का वायदा किया, परन्तु इसकी भी असलियत वर्तमान में जारी सहायता के महज चतुराई भरे आवंटन तक ही सीमित थी। अमेरिका और जापान तथा अन्य समृद्ध राष्ट्रों ने इस प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया कि सन् 2010 तक ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में 15% तक कमी करके उसके स्तर को 1990 के स्तर से नीचे ला देने का फैसला किया जाये।

ले-देकर इस सम्मेलन में सिर्फ यही "राजनीतिक वक्तव्य" पास हो पाया कि विकसित देश "ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन में महत्वपूर्ण कमी लाने हेतु कानूनी तौर पर बाध्यकारी, सार्थक, यथार्थवादी और समुचित लक्ष्यों" पर विचार करें। इस तथाकथित राजनीतिक वक्तव्य में किसी विशिष्ट लक्ष्य और समयबद्धता की बात नहीं कही गयी। बस इतना ही संकेत किया गया कि लक्ष्यों के लिए 2005, 2010 और 2020 तक की समयबद्धताओं के बारे में सोचा जाना चाहिए।

कहना न होगा कि ऐसा "राजनीतिक वक्तव्य" 20 से 22 जून तक हुए उस डेन्वर शिखर सम्मेलन के घोषणा-पत्र से भी एक कदम पीछे है, जो अपनी तमाम अस्पष्टताओं के बावजूद, ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन में सन् 2010 तक कमी लाने की वचनबद्धता जाहिर कर चुका था।

अब पर्यावरण सुरक्षा का अगला भ्रमर-गुंजन "जलवायु शिखर सम्मेलन" के नाम से जापान के नेतृत्व में अगले दिसम्बर में, जापान के ही शहर क्योतो में होने वाला है। उसमें भी क्या होगा, इसका पूर्वानुमान सहज ही किया जा सकता है।

दरअसल पूंजीवाद और पर्यावरणीय सुरक्षा दोनों एक साथ चल ही नहीं सकते। मुनाफाखोरी की अंधी हवस में प्रकृति और प्राकृतिक संसाधनों का अनियंत्रित दोहन और शोषण पूंजीवाद की अभिलाक्षणिक विशिष्टता है। विकास के पूंजीवादी फ्रेम में "टिकाऊ विकास" (सस्टेनबल डेवलपमेण्ट) का जितना भी भ्रमर-गुंजन हो रहा है वह सिर्फ एक पूंजीवादी साम्राज्यवादी भ्रमजाल है, जिसे फैलाना वर्तमान विश्वपूंजीवाद की एक रणनीतिक आवश्यकता है : "भूमण्डलीकरण" के दौर में प्रकृति के साथ-साथ विशाल मेहनतकश मानवता पर आज वह जिस अभूतपूर्व आक्रामकता के साथ तबाही का कहर बरपा करने की दिशा में अग्रसर है, उसके प्रतिक्रियास्वरूप विश्व की, और खासतौर से, तीसरी दुनिया की, विशाल मेहनतकश आबादी क्रान्तिकारी संघर्षों का ज्वालामुखी-विस्फोट न करे, इसी सुरक्षा-कवच के तहत उसके दार्शनिक और राजनीतिक प्रवक्ता पर्यावरण-सुरक्षा और "टिकाऊ विकास" की ठंडी लोरियां सुना कर उसे गुमराह करने का प्रयास कर रहे हैं। ऐसी ही साजिश के तहत "इतिहास के अन्त" की भी घोषणा की जा चुकी है।

अन्त में, एक बार फिर दुहरा दें कि पर्यावरण सुरक्षा और "टिकाऊ विकास" पूंजीवादी प्रणाली के रहते सम्भव ही नहीं है। फिर भी जो इसी ढांचे में ऐसी कोशिशें कर रहे हैं वे या तो अनजाने में विश्व-पूंजीवादी तंत्र द्वारा फैलाये भ्रमजाल के शिकार हैं, या जानबूझ कर उसकी सेवा में लगे हुए हैं, जैसे तीसरी दुनिया के विकासशील देशों में मकड़जाल की तरह फैल चुके देशी-विदेशी गैर-सरकारी संगठन और यहां तक कि कुछ सरकारी संगठन भी, जिनके लिए विश्व-पूंजीवादी तंत्र अपनी तथाकथित गैर-सरकारी संस्थाओं जैसे नोविब (नीदरलैण्ड) ऑक्सफैम (यूएसए), और तमाम ईसाई धार्मिक संगठनों तथा यहां तक कि विश्वबैंक और अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष के जरिये, सीधे या परोक्ष रूप से अरबों डॉलर प्रतिवर्ष खर्च कर रहा है।

– आलोक रंजन

अध्याय बारह

समाजवादी समाज मानव इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात करता है

समाजवादी समाज और सर्वहारा अधिनायकत्व

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में विश्व सर्वहारा क्रान्ति के शिक्षकों, मार्क्स और एंगेल्स ने पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के उदय, विकास और पतन का विश्लेषण किया था और वैज्ञानिक रूप से निष्कर्ष निकाला था कि सर्वहारा वर्ग निश्चित तौर पर बुर्जुआ वर्ग और सभी शोषक वर्गों को उखाड़ फेंकेगा, कि सर्वहारा अधिनायकत्व निश्चित तौर पर बुर्जुआ अधिनायकत्व का स्थान ले लेगा, कि समाजवाद निश्चित तौर पर पूंजीवाद का स्थान ले लेगा, और कि अन्ततः साम्यवाद निश्चित तौर पर स्थापित होगा। उन्होंने विश्व सर्वहारा वर्ग का आह्वान किया था कि वह व्यापक मेहनतकश जनसमुदायों के साथ एकबद्ध हो और बुर्जुआ राज्य मशीनरी को ध्वस्त करने, सर्वहारा अधिनायकत्व स्थापित करने तथा समाजवाद और साम्यवाद की स्थापना करने के निर्भीक संघर्ष में हथियार लेकर उठ खड़ा हो। पिछले सौ वर्षों से अधिक समय से विश्व सर्वहारा मार्क्सवाद के प्रखर आलोक में कुर्बानियों से बिना डरे लगातार आगे बढ़ता रहा है। उसने वैज्ञानिक समाजवादी आदर्श को विश्व के एक बड़े भाग पर लागू भी कर दिया है। "समाजवादी प्रणाली अन्ततः पूंजीवादी प्रणाली का स्थान ले लेगी। यह एक वस्तुगत नियम है जो मानवीय इच्छा द्वारा परिवर्तनीय नहीं है।"[1] सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत और हिंसक क्रान्ति द्वारा स्थापित समाजवादी समाज शोषणकारी पूंजीवादी प्रणाली और सभी शोषणकारी प्रणालियों का एक बुनियादी निषेध है। यह मानव इतिहास के एक नये युग का सूत्रपात करता है।

सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के उदय की पूर्वशर्त हैं

समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध पूंजीवादी समाज के भीतर नहीं पैदा हो सकते

मानव समाज में एक समाज-रूप का दूसरे में रूपान्तरण उस बुनियादी सामाजिक अन्तरविरोध द्वारा संचालित होता है जो उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच तथा अधिरचना और आर्थिक आधार के बीच होता है। मार्क्स ने कहा था: "एक बार जब एक समाज की भौतिक उत्पादक शक्ति एक निश्चित अवस्था तक विकसित हो जाती है तब यह मौजूदा उत्पादन सम्बन्धों या सम्पत्ति सम्बन्धों (जो उत्पादन सम्बन्धों के लिए महज एक वैधिक शब्दावली भर है) के साथ टकराव में आ जाती हैं। जिनके भीतर अबतक ये काम कर रही थीं। ये सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास के रूपों के बजाय उनकी बेड़ियां बन जाते हैं तब समाजवादी क्रान्ति का युग शुरू होता है। आर्थिक आधार में परिवर्तन के साथ ही समूची विशाल अधिरचना भी कम या अधिक गति से बदल जाती है।" "नवीनतर और उच्चतर उत्पादन सम्बन्ध तबतक नहीं पैदा होते जबतक उनके पैदा होने की उपयुक्त भौतिक दशाएं पुराने समाज के गर्भ में पूरी तरह परिपक्व नहीं हो जाती।"[2] समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के लिए भौतिक दशाओं – पूंजीवाद की कब्र खोदने वालों के तौर पर समाजीकृत उत्पादन और सर्वहारा वर्ग – का पूंजीवादी दशाओं के अन्तर्गत तेजी से विकास होता रहता है। जब पूंजीवाद साम्राज्यवाद में विकसित हो जाता है तब पूंजीवाद की मौत का घण्टा बज जाता है, और सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति की वेला आ जाती है।

हम भली-भांति जानते हैं कि मानव इतिहास में दासप्रथा, सामन्तवाद, और पूंजीवाद सभी के सभी उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व पर आधारित शोषणकारी प्रणालियां ही रहे हैं। इन तीनों सामाजिक और आर्थिक प्रणालियों में से एक का दूसरे द्वारा विस्थापन हमेशा ही एक पुरानी निजी स्वामित्व प्रणाली के स्थान पर एक नयी निजी स्वामित्व प्रणाली के समान ग्रहण करने के रूप में होता रहा है। इन दशाओं के अन्तर्गत, नये उत्पादन सम्बन्ध पुराने समाज के भीतर धीरे-धीरे विकसित होते रहते हैं। उदाहरण के लिए, पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध धीरे-धीरे सामन्ती समाज की अन्तिम अवस्था में पैदा हुए। लेकिन इन दशाओं के अन्तर्गत भी, एक नयी निजी स्वामित्व प्रणाली को, समाज का एक प्रभुत्वशाली आर्थिक आधार बनने के लिए, उसे नये-नये उभर रहे शोषक वर्ग पर आधारित होना आवश्यक होता है जो इस नयी निजी स्वामित्व प्रणाली का प्रतिनिधित्व करने के लिए क्रान्तियां करता है राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करता है, और जीवन-मृत्यु के वर्ग संघर्ष मे संलग्न होता है। यह समय की कसौटी पर सिद्ध होता आया नियम है।

समाजवादी सम्बन्ध सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित उत्पादन सम्बन्ध होते हैं। उनका पूंजीवादी समाज के भीतर पैदा होना सम्भव नहीं। समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व प्रणाली का उस पूंजीवादी स्वामित्व प्रणाली से बुनियादी विरोध होता है जिसमें उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व होता है। उत्पादन के साधनों की समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व प्रणाली लागू करने का मतलब है बुर्जुआ वर्ग के उत्पादन के साधनों का स्वत्वहरण। यह बुर्जुआ अधिनायकत्व वाले पूंजीवादी समाज के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता। बुर्जुआ राज्य मशीनरी और उसकी पूरी अधिरचना पूंजीवादी निजी स्वामित्व प्रणाली की रक्षा में लगी होती है। बुर्जुआ वर्ग कभी नहीं चाहता कि पूंजीवादी समाज के भीतर समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध पैदा हों। नये और पुराने संशोधनवादियों द्वारा दी जाने वाली सारी की सारी गलत दलीलें कि "पूंजीवाद शांतिपूर्वक समाजवाद में तब्दील हो सकता है" पूरी तरह से तथ्य-विरोधी हैं। ये ऐसे "सिद्धान्त" हैं जो पूंजीवादी प्रणाली की सेवा करते हैं और सर्वहारा वर्ग को उठ खडे होने एवं विद्रोह करने से मना करते हैं। लेकिन पूंजीवाद के विकास के साथ ही, समाज के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का मार्ग स्पष्ट हो जाता है : "सर्वहारा वर्ग राज्य सत्ता पर कब्जा करता है और सबसे पहले उत्पादन के साधनों को राजकीय सम्पत्ति के रूप में तब्दील कर देता है।"[3]

क्रान्ति का बुनियादी मुद्दा राजनीतिक सत्ता है। माओ त्से-तुङ ने कहा था कि "राजनीतिक सत्ता बन्दूक की नली से पैदा होती है।"[4] केवल क्रान्तिकारी हिंसा द्वारा बुर्जुआ राज्य मशीनरी को ध्वस्त और सर्वहारा अधिनायकत्व को स्थापित करके ही सर्वहारा वर्ग पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का समाजवादी राष्ट्रीकरण और व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था का समाजवादी रूपान्तरण करने के बाद समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित उत्पादन सम्बन्धों को स्थापित और विकसित कर सकता है। इस प्रकार, सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के उदय की पूर्वशर्तें बन जाते हैं।

1871 का पेरिस कम्यून सर्वहारा वर्ग द्वारा क्रान्तिकारी हिंसा के जरिये पूंजीवादी प्रणाली को उखाड़ फेंकने का प्रथम ऐतिहासिक महान प्रयास था। यद्यपि पेरिस कम्यून विफल हो गया, फिर भी कम्यून के सिद्धान्त जिन्दा रहे। पेरिस कम्यून के अनुभव ने सिद्ध कर दिया कि सर्वहारा वर्ग द्वारा बुर्जुआ राज्य मशीनरी का ध्वस्त किया जाना आवश्यक है, अर्थात, "मजदूर वर्ग बनी बनाई बुर्जुआ राज्य मशीनरी पर कब्जा करके उसे अपने उद्देश्य के लिए इस्तेमाल नहीं कर सकता।"[5]

अक्तूबर क्रान्ति में लेनिन का नेतृत्व हिंसक क्रान्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त का एक देदीप्यमान प्रयोग था। अक्तूबर क्रान्ति के अनुभव ने सिद्ध किया कि साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्ति के दौर में, जबतक एक व्यापक सर्वहारा वर्ग रहेगा, जबतक जनसमुदायों का उत्पीड़न रहेगा, और जबतक एक ऐसी परिपक्व सर्वहारा पार्टी रहेगी जो राष्ट्रीय क्रान्तिकारी दशाओं पर आधारित मार्क्सवादी लाइन को सूत्रबद्ध करने में सक्षम होगी और वर्ग-शत्रु के खिलाफ सारी शक्तियों को संयुक्त करके एक सतत वर्ग-संघर्ष चलाने के लिए सर्वहारा, गरीबों और तकलीफ झेलने वाले किसानों का सही नेतृत्व करने में समर्थ रहेगी, तबतक सबसे पिछड़े देश में भी सशस्त्र क्रान्ति के जरिये बुर्जुआ शासन को उखाड़ फेंकना तथा सर्वहारा नेतृत्व के अन्तर्गत एक समाजवादी देश कायम कर लेना सम्भव रहेगा।

अक्तूबर क्रान्ति की तोपों के धमाकों ने चीनी जनता तक मार्क्सवाद-लेनिनवाद को पहुंचा दिया। महान अध्यक्ष माओ ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद की सार्वभौमिक सच्चाई को चीन की क्रान्तिकारी परिस्थिति के साथ जोड़कर चीन के लिए नयी जनवादी क्रान्ति की एक आम लाइन सूत्रबद्ध की। यह आम लाइन यह थी "यह क्रान्ति सर्वहारा के नेतृत्व में जनता की क्रान्ति होगी जो साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, और नौकरशाहाना पूंजीवाद के विरुद्ध होगी।"[6] इस क्रान्तिकारी लाइन के मार्गदर्शन में, देहात और ग्रामीण क्षेत्रों में मजबूत किलेबन्दी करने और घेरा डालने, तथा अन्ततः शहरी क्षेत्रों पर कब्जा करने के काम को अंजाम दिया गया। एक दीर्घकालिक क्रान्तिकारी युद्ध के बाद, चीनी जनता ने साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और नौकरशाहाना, पूंजीवाद के प्रतिक्रियावादी शासन को उखाड़ फेंका, पुरानी राज्य मशीनरी को ध्वस्त कर दिया, और जनवादी अधिनायकत्व, अर्थात सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत, चीन के जनवादी गणराज्य की स्थापना की। चीन के जनवादी गणराज्य का उदय अक्तूबर क्रान्ति के बाद विश्व इतिहास में दूसरी महान घटना थी।

चीनी क्रान्ति के अनुभव ने दिखा दिया कि साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्ति के दौर में, यदि औपनिवेशिक और अर्द्धऔपनिवेशिक देशों के सर्वहारा मार्क्सवाद-लेनिनवाद की सार्वभौमिक सच्चाई को अपने देशो की वास्तविक क्रान्तिकारी परिस्थितियों के साथ पूरी गम्भीरता के साथ संयुक्त कर लें, जनवादी क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति को गहराई से आत्मसात कर लें, और इस क्रान्ति में जनता का नेतृत्व करते हुए उसे विजय की मंजिल तक ले जायें, तो साम्राज्यवाद-विरोधी और सामन्तवाद विरोधी कार्यभार पूरे कर लेने के तत्काल बाद समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में प्रवेश कर जाना पूरी तरह सम्भव हो सकता है।

अक्तूबर क्रान्ति और चीन में समाजवादी क्रान्ति की विजयें सशस्त्र क्रान्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त की महान विजयें हैं। नये और पुराने संशोधनवादी हमेशा ही कुत्सित भाव से सशस्त्र क्रान्तियों पर प्रहार किया करते हैं। वे "शांतिपूर्ण संक्रमण" की दुहाई देते हैं, जो "उदारतावाद के सिद्धान्त" की नकल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसका उपदेश दार्शनिक कन्फ्यूशियस किया करता था, जो अपने समय के चीन के पतनशील दास-स्वामी वर्ग का प्रवक्ता था। लेकिन "उदारतावाद का सिद्धान्त" कभी भी उदार नहीं रहा है, और बुर्जुआ वर्ग ने हमेशा प्रतिक्रयावादी शक्तियों को सर्वहारा के उत्पीड़न के लिए ही इस्तेमाल किया है। तथाकथित "वफादारी और मेलजोल का तरीका" महज एक बकवास रहा है जिसे शोषक वर्ग मेहनतकश जनता की क्रान्तिकारी चेतना को कुंद कर डालने के लिए इस्तेमाल करता रहा है। कन्फ्यूशियस के आधुनिक लायक चेले लिन पियाओ ने भी ऐसे ही धूलधूसरित हथियारों को चुना है, जैसे "जो सदाचरण करता है वह समृद्ध होता है, जो ताकत इस्तेमाल करता है, वह नष्ट हो जाता है।" इस प्रकार वह सर्वहारा की स्वतंत्रता को प्रतिबन्धित करने का व्यर्थ प्रयास करता है तथा प्रतिक्रयावादी वर्ग के विरुद्ध क्रान्तिकारी हिंसा के इस्तेमाल का विरोध करता है। देशी और विदेशी संशोधनवादियों द्वारा किये जा रहे क्रान्तिकारी हिंसा के विरोध के सन्दर्भ में, माओ ने महत्वपूर्ण रूप से इंगित किया है: "क्रान्ति का केन्द्रीय कार्यभार और महानतम रूप राजनीतिक सत्ता पर सशस्त्र कब्जा करना और मुद्दों का सशस्त्र संघर्ष द्वारा निपटारा करना है। यह मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रान्तिकारी सिद्धान्त सार्वभौमिक रूप से सच है। चाहे चीन में, या बाहर, यही हर हालत में सच है।"[7] यह सर्वहारा क्रान्ति का सार्वभौमिक नियम है।

"उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त" की असलियत सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व का विरोध है

नये और पुराने संशोधनवादियों द्वारा मार्क्सवाद के साथ सबसे बुनियादी विश्वासघात सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व का उनका विरोध है। सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व के विरोध में उनके द्वारा लहरायी जाने वाली फटी पताका वही है जो प्राय: प्रतिक्रियावादी "उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्तों ("या उत्पादकता प्रथम" सिद्धान्त) के रूप में दिखायी देती है।

दूसरे इण्टरनेशनल के संशोधनवादी बर्नस्टीन और काउत्स्की ने इस धारणा को प्रचारित-प्रसारित करने की जीतोड़ कोशिश की कि उत्पादक शक्तियों के विकास के चलते अति विकसित उद्योगों वाले पूंजीवादी देश समाजवादी आर्थिक प्रणाली की ओर "क्रमशः बढ़ेंगे"। इसलिए इन देशों में हिंसक क्रान्ति का पक्ष लेना आवश्यक नहीं। अल्पविकसित उद्योगों वाले पूंजीवादी देशों, उपनिवेशों और पिछलग्गू देशों को सर्वप्रथम यही करना चाहिए कि वे अपनी उत्पादक शक्तियों का "विकास" करें। अति विकसित उत्पादक शक्तियों के बगैर सर्वहारा क्रान्ति नहीं कर सकता। अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में "उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त" का यह एक आरम्भिक रूप था। इस गलती के चलते सामाजिक रूपान्तरण को विशुद्ध रूप से उत्पादक प्रक्रिया के विकास के एक मुद्दे के रूप में लिया गया। इसके तहत उत्पादक शक्तियों के विकास पर उत्पादन सम्बन्धों के प्रभाव तथा आर्थिक मूलाधार पर अधिरचना के प्रभाव को पूरी तरह नजरंदाज कर दिया गया। इसमें ऐतिहासिक भौतिकवाद के इस नियम को ही नजरंदाज कर दिया गया कि वर्ग समाज में सामाजिक रूपान्तरण प्रचण्ड वर्ग संघर्ष से गुजरकर ही सम्भव है।

मार्क्सवाद के संस्थापकों ने संशोधनवादियों के इस "उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त" पर जबर्दस्त प्रहार किया। एंगेल्स ने लिखा :- ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार, ऐतिहासिक प्रक्रिया में निर्धारक तत्व अन्ततः आवश्यक रूप से वास्तविक जीवन-दशाओं का उत्पादन और पुनरुत्पादन ही सिद्ध होता है। न तो मार्क्स ने, और न ही मैंने कभी किसी अन्य कारक पर इससे अधिक जोर दिया है। यदि कुछ लोगों ने यह कहते हुए इसे जानबूझ कर विकृत किया है कि आर्थिक कारक ही एकमात्र

निर्धारक तत्व हैं, तो उन्होंने इस मुद्दे को एक खोखली, अमूर्त और हास्यास्पद शोब्देबाजी में तब्दील कर दिया है।"[8]

रूस की सर्वहारा क्रान्ति में, त्रात्स्की और बुखारिन जैसे लोगों ने इस घिसेपिटे "उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त" को फिर से उठा लिया और पूंजीवादी प्रणाली के विरुद्ध रूसी सर्वहारा की विजयोन्मुख बढ़त का विरोध करने की व्यर्थ कोशिश की। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि पिछड़ा हुआ रूस समाजवाद की स्थापना के योग्य नहीं था। इस तरह की बकवास की लेनिन ने जमकर खिंचाई की। लेनिन ने सवाल उठाया: "हम ऐसा क्यों नहीं कर सकते कि संस्कृति के उस निश्चित स्तर की पूर्वशर्तों को क्रान्तिकारी तरीके से हासिल करने से शुरुआत करें, और इसके बाद, मजदूरों-किसानों की सरकार तथा सोवियत प्रणाली की सहायता से दूसरे देशों को पीछे छोड़ देने के लिए आगे बढ़े?"

चीन की जनवादी और समाजवादी क्रान्तियों के दौरान, चेन तू-सिउ से लेकर लिउ शाओ-ची और लिन पियाओ तक एक के बाद एक संशोधनवादी लाइन के नेता प्रकट हुए, और इन सबों ने दूसरे इण्टरनेशनल के संशोधनवादियों और त्रात्स्की पंथियों से इस प्रतिक्रियावादी "उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त" को उधार लिया। इनका कहना था कि चीन की अर्थव्यवस्था पिछड़ी हुई थी और कि सर्वहारा राजनीतिक सत्ता पर तभी कब्जा कर सकता था जब पूंजीवाद अति विकसित हो जाता। इसका नतीजा यह होता कि चीन की क्रान्ति विलुप्त हो जाती और चीन अपनी उसी अर्द्ध औपनिवेशिक और अर्द्ध-सामन्ती दशा में पड़ा रहता। माओ ने इस अवस्थिति का इस टिप्पणी के साथ विरोध किया: "राजनीतिक सुधार के बगैर, सारी उत्पादक शक्तियां विनष्ट हो जाने के लिए अभिशप्त हैं। यह कृषि के लिए भी सच है और उद्योग के लिए भी सच है।"[10] चीन के पुराने समाज की अर्द्ध-औपनिवेशिक और अर्द्ध-सामंती स्थिति के मद्देनजर, माओ ने बताया कि चीन की क्रान्ति को निश्चय ही दो चरणों में आगे बढ़ना है। पहला चरण नयी जनवादी क्रान्ति है। दूसरा चरण समाजवादी क्रान्ति है। ये दोनों भिन्न परन्तु एक-दूसरे से सम्बन्धित प्रक्रियाएं हैं। जनवादी क्रान्ति समाजवादी क्रान्ति की आवश्यक तैयारी के तौर पर है। समाजवादी क्रान्ति जनवादी क्रान्ति की एक अपरिहार्य प्रवृत्ति है। इससे चेन तू-सिउ जैसे उन लोगों का षडयंत्र पूरी तरह से और एकदम धराशायी हो गया जो प्रतिक्रियावादी "उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त" का पक्ष लेकर क्रान्तिकारी तूफान को रोकने की व्यर्थ कोशिश करते आ रहे थे।

माओ ने कहा: "यह एकदम सच है कि उत्पादक शक्तियां, व्यवहार और आर्थिक अवरचना आमतौर पर निर्णायक भूमिका अदा करने के रूप में प्रकट होती है। जो कोई भी इस तथ्य से इंकार करता है वह भौतिकवादी होने के काबिल नहीं है। लेकिन यह भी स्वीकार करना होगा कि कुछ निश्चित दशाओं में, उत्पादन सम्बन्ध, सिद्धान्त और अधिरचना भी मुख्य और निर्णायक भूमिकाओं में प्रकट होती हैं।"[11] अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास ने दर्शाया है कि राजनीतिक सत्ता के लिए सर्वहारा के संघर्ष में मार्क्सवाद और संशोधनवाद के बीच की विभाजक रेखा इस बात में निहित है कि कोई उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच एकता तथा अधिरचना और आर्थिक अवरचना के बीच एकता के द्वंद्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त पर लगातार अमल करता है या प्रतिक्रियावादी "उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त" को आगे बढ़ाता है।

समाजवादी समाज एक सुदीर्घ ऐतिहासिक चरण है

समाजवादी समाज पतनशील पूंजीवाद और उदीयमान साम्यवाद के बीच संघर्ष की एक अवधि है

सर्वहारा क्रान्ति के जरिए स्थापित समाजवादी समाज किस प्रकार का समाज होता है? इसकी बुनियादी अभिलाक्षणिकताएं क्या हैं?

मार्क्स ने कहा था : "पूंजीवादी समाज और साम्यवादी समाज के बीच एक के दूसरे रूपान्तरण का एक क्रान्तिकारी काल होता है। इस काल के अनुरूप ही एक राजनीतिक संक्रमण का काल होता है। इस काल में राज्य केवल सर्वहारा का क्रान्तिकारी अधिनायकत्व ही हो सकता है।[12] "एक के दूसरे में रूपान्तरण का एक क्रान्तिकारी काल" और "एक राजनीतिक संक्रमण का काल" के रूप में मार्क्स द्वारा वर्णित काल ही समाजवाद का ऐतिहासिक काल है। इस काल में समाज सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत समाजवादी समाज होता है।

समाजवादी समाज में, उत्पादन के साधनों की सार्वजनिक स्वामित्व प्रणाली निजी स्वामित्व प्रणाली का स्थान ले लेती है। मेहनतकश जनता समाजवादी अर्थव्यवस्था की नियति का नियंत्रण करती है और समाज का स्वामी होती है। मार्क्सवादी विचारधारात्मक शिक्षा लाखों-लाख मेहनतकश लोगों को पुराने समाज के प्रभाव से क्रमश: मुक्त करती हुई समाजवादी और साम्यवादी पथों पर अग्रसर करती है। इस दृष्टि से, समाजवादी समाज में साम्यवादी समाज के कुछ बीज पहले ही से निहित होते हैं। फिर भी समाजवादी समाज साम्यवादी समाज की महज एक प्रारंभिक अवस्था भर ही होता है, न कि एक पूर्णत: साम्यवादी समाज। जैसा कि मार्क्स न कहा है: "हम जो यहां वर्णित कर रहे हैं वह एक ऐसा ही साम्यवादी समाज है। अभी यह अपने आधार पर पूर्ण विकसत नहीं हुआ होता है। इसके विपरीत, यह पूंजीवादी समाज के गर्भ से अभी पैदा भर हुआ होता है। इसी लिए, यह जिस पुराने समाज में पैदा ही हुआ होता है, उसके जन्म चिह्न अभी भी इसके आर्थिक, नैतिक, और विचारधारात्मक पहलुओं में देखे जा सकते है।"[13] कहने का मतलब यह है कि समाजवादी समाज के विविध पक्षों में, कुछ पूंजीवादी परम्पराएं और प्रभाव अभी भी बरकरार रहते हैं: बुर्जुआ वर्ग और सभी शोषक वर्ग तो उखाड फेंके जा चुके होते हैं, लेकिन अर्थव्यवस्था, राजनीति, और विचारधारा पर उनका प्रभाव एक लम्बे समय तक बरकरार रहता है। मजदूर और किसान के बीच, शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के बीच, तथा मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच असमानताएं पुराने समाज के अवशेष के रूप में बची रहती हैं, तथा इन असमानताओं को प्रतिबिम्बित करने वाले अवशिष्ट वैधिक अधिकार भी एक लम्बे समय तक बरकरार रहते हैं। फलत:, समाजवादी समाज की पूरी ऐतिहासिक अवस्था "पतनशील पूंजीवाद और उदीयमान साम्यवाद के बीच संघर्ष की एक अवधि के रूप में ही होती है"।[14]

समाजवादी समाज की प्रकृति और अभिलाक्षणिकता यह निर्धारित करती है कि समाजवादी समाज कोई अल्पकालिक और अस्थायी अवधि नहीं हो सकता बल्कि यह एक लम्बी ऐतिहासिक अवस्था होगी।

समाजवादी क्रान्ति से पहले, दासता को सामन्तवाद द्वारा और सामन्तवाद को पूंजीवाद द्वारा विस्थापित करने वाली क्रान्तियों में महज यही होता रहा कि एक नया शोषणकारी तंत्र पुराने शोषणकारी तंत्र का स्थान लेता रहा। परन्तु सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति इनसे बुनियादी तौर पर भिन्न है। यह मनुष्यों के बीच से सारी शोषणकारी प्रणालियों, सारे वर्गों और वर्ग-असमानताओं, तथा इन असमानताओं को प्रतिबिम्बित करने वाले अवशिष्ट बुर्जुआ वैधिक अधिकारों का समूल नाश कर देने वाली है। यह क्रान्ति इतिहास की अन्य किसी भी क्रान्ति से कहीं अधिक समृद्ध, अधिक व्यापक, और अधिक जटिल है। साम्यवाद का लक्ष्य अन्त में केवल दीर्घकालिक संघर्ष के जरिये और क्रमश: अनुकूल दशाएं सृजित करते जाने के द्वारा ही हासिल किया जा सकता है।

वर्गों को खत्म करने के लिए आवश्यक है कि समाजवादी समाज निजी स्वामित्व और पुराने समाज को परम्परागत अवधारणा के सारे परम्परागत प्रभावों से पूर्णत: सम्बन्ध विच्छेद करे। चीन में दो हजार वर्ष पूर्व दुराग्रही ढंग से दास प्रथा का समर्थन करने वाले कन्फ्यूशियस की विरासत को विभिन्न ऐतिहासिक कालों के शोषक वर्गों द्वारा अपने प्रतिक्रियावादी शासन को सुदृढ़ करने के लिए इस्तेमाल किया जाता रहा है। आज भी कन्फ्यूशियस

का प्रतिक्रियावादी चिन्तन बुर्जुआ वर्ग और संशोधनवादियों द्वारा पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के लिए एक विचारधारात्मक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। अत: यह तय करना एक लम्बा और जटिल कार्यभार है कि राजनीतिक विचारधारा के क्षेत्र में समाजवाद या पूंजीवाद में से कौन विजयी होगा। माओ त्से-तुङ ने कहा है: "राजनीतिक और विचारधारात्मक मोर्चों पर भी पर एक व्यापक समाजवादी क्रान्ति की जरूरत है। यहां यह तय होने में काफी समय लगेगा कि समाजवाद और पूंजीवाद के बीच संघर्ष में 'कौन विजयी होगा'। यह कई दशकों में भी नहीं होगा; इसमें एक से लेकर कई शताब्दियां तक लग सकती हैं।"[15]

"एक समाजवादी देश के निर्माण की अंतिम विजय केवल सर्वहारा वर्ग और व्यापक जनता के अपने प्रयासों पर ही निर्भर नहीं करती, बल्कि विश्व क्रान्ति की विजय, मनुष्यों के बीच शोषणकारी प्रणालियों के खात्में, और मानव-जाति की मुक्ति पर भी निर्भर करती है।"[16] हम अभी भी साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्ति के युग में जी रहे हैं। समाजवादी क्रान्ति की अन्तिम विजय दुनिया के पैमाने पर कठिन, जटिल, और दीर्घकालिक वर्ग-संघर्षों की एक श्रृंखला के बाद ही हासिल की जा सकेगी।

समाजवादी समाज की अभिलाक्षणिकताओं की प्रकृति को सही-सही समझना, सही-सही यह समझना कि समाजवादी समाज एक स्पष्टत: सुदीर्घ ऐतिहासिक चरण होता है, तथा वैज्ञानिक समाजवाद और नकली समाजवाद के सभी प्रकारों के बीच विभाजक रेखा खींचना सभी देशों के सर्वहारा के लिए समाजवादी क्रान्ति में उनकी सफलता के लिए तथा क्रान्ति की विजय के बाद पूंजीवादी पुनर्स्थापना को रोकने में भारी महत्व रखता है। दुनिया के एक बड़े क्षेत्रफल पर समाजवाद की विजय इसके शत्रुओं को समाजवादी का छद्मावरण धारण करने पर मजबूर करेगी। अभी वर्तमान समय में ही, ब्रेझनेव जैसे लोग स्वयं अपने देश में मेहनतकश आबादी का अधिकाधिक शोषण-उत्पीड़न करते रहने तथा खुली बेईमानी के साथ पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने की गरज से अपने आप को "विकसित समाजवाद" की आड़ में छिपाने की व्यर्थ आशा कर रहे हैं। और बाहर वे दुनिया पर अपना वर्चस्व कायम करने की अपनी व्यर्थ कोशिश में आक्रमण और विस्तारवाद की राह पर चल रहे हैं। यह तथाकथित "विकसित समाजवाद" नौकरशाहाना एकाधिकारी पूंजीवाद, अर्थात सामाजिक साम्राज्यवाद का एक नया रूप है। लिन पियाओ जैसे लोगों द्वारा "असली समाजवाद की क्षुद्र बकवास भी महज एक छद्म ही थी। उसका प्रतिक्रियावादी कार्यक्रम कन्फ्यूशियस का "आत्मसंयम और कर्मकाण्डों की पुनर्प्रतिष्ठा" था। वह चिल्ला-चिल्ला कर कहता था कि "सभी चीजों में से यही सबसे महत्वपूर्ण है।" उसका इरादा सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत स्थापित चीन की समाजवादी प्रणाली को उलट देने और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना कर डालने के लिए षड़यत्र करने का था। उसका तथाकथित "उसकी समाजवाद" वास्तव में असली पूंजीवाद ही था। गद्दारों की इस मण्डली ने असली का नकली के साथ घालमेंल करने की व्यर्थ कोशिश इसलिए की थी कि जनता के व्यापक समुदायों की क्रान्तिकारी भावना को कुंद किया जा सके। लेकिन मार्क्सवाद वैज्ञानिक समाजवाद के साथ जालसाजी नहीं चल सकती। जब नकली समाजवाद के भांति-भांति के ब्राण्डों की तुलना मार्क्सवाद द्वारा निरूपित समाजवादी समाज की प्रकृति और अभिलाक्षणिकताओं से की जाती है, तब उनका आसानी से पर्दाफाश हो जाता है।

समाजवादी समाज में बुनियादी अन्तरविरोधों का सिद्धान्त सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति को जारी रखने का सैद्धान्तिक आधार है

जब चीन में सर्वहारा अधिनायकत्व स्थापित हो गया, तब अध्यक्ष माओ ने इस संक्रमणकालीन अवधि में पार्टी के लिए एक आम लाइन निर्धारित की कि "देश में समाजवादी औद्योगीकरण धीरे-धीरे एक सुदीर्घ अवधि के भीतर पूरा किया जायेगा, तथा राज्य द्वारा कृषि, दस्तकारी उद्योग, पूंजीवादी उद्योग एवं वाणिज्य का समाजवादी रूपान्तरण भी शनै: शनै: किया जायेगा।"[17] इस आम लाइन के अनुसार, चीन ने 1956 तक उत्पादन के साधनों की स्वामित्व प्रणाली का समाजवादी रूपान्तरण बुनियादी तौर पर पूरा कर लिया। क्या इसका मतलब यह हुआ कि उत्पादन के साधनों के स्वामित्व की प्रणाली के समाजवादी रूपान्तरण का काम बुनियादी तौर पर पूरा हो जाने के बाद समाजवादी समाज अन्तरविरोधों की गति की ऐतिहासिक प्रक्रिया नहीं रह जाता? समाजवादी समाज के बुनियादी अन्तरविरोध क्या हैं? क्या ये अन्तरविरोध मुख्य तौर पर सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के अन्तरविरोध और संघर्ष में ही अभिव्यक्त होते हैं? ठीक इन्हीं सवालों के भीतर मार्क्सवाद और आधुनिक संशोधनवाद के बीच के अन्तर निहित हैं।

सोवियत संशोधनवादी गद्दार गुट इस बात से सीधे इंकार कर देता है कि समाजवादी समाज में शुरू से लेकर अन्त तक अन्तरविरोध मौजूद रहते हैं। यह साफ तौर पर इंकार करता है कि ये अन्तरविरोध मुख्य तौर पर सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच संघर्ष के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यह सीधे इस बात से इंकार कर देता है कि यह विरोधों की एकता और संघर्ष ही है जो समाजवादी समाज के विकास को आगे बढ़ाता है। वस्तुत: इसका उद्देश्य तो पूरी तरह पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने और फासिस्ट तानाशाही लागू करने के कुत्सित इरादे को छिपाना है। लिउ शाओ-ची और लिन पियाओ की मण्डली ने सोवियत संशोधनवादियों के ही पदचिन्हों का अनुसरण किया। चीन में उत्पादन के साधनों की स्वामित्व प्रणाली का समाजवादी रूपान्तरण कर दिये जाने के बाद इन्होंने एक बकवास भरा दावा गढ़ा कि "विकसित समाजवादी प्रणाली और पिछड़ी उत्पादक शक्तियों के बीच एक अन्तरविरोध था।" उन्होंने इस गैर-मौजूद "अन्तरविरोध" को उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच तथा अधिरचना और आर्थिक अवरचना के बीच हमेशा मौजूद रहने वाले अन्तरविरोध को नकारने की गरज से इस्तेमाल करने का व्यर्थ प्रयास किया। चीन में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने के अपने षड़यंत्र पर पर्दा डालने के लिए ही उन्होंने इस बात से इंकार किया कि चीनी समाज का मुख्य अन्तरविरोध मजदूर वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच का अन्तरविरोध था। इस संशोधनवादी प्रतिक्रियावादी धारा का मुकाबला करने के लिए ही माओ ने मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्त एवं अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के संचित अनुभवों के आधार पर समाजवादी समाज के बुनियादी अन्तरविरोधों के बारे में अपना महान सिद्धान्त विकसित किया। माओ ने इंगति किया कि प्रकृति, मानव-समाज, और मानव-चिन्तन का विरोधों की एकता और संघर्ष का सार्वभौमिक नियम समान रूप से समाजवादी समाज पर भी लागू होता है। "समाजवादी समाज में, बुनियादी अन्तरविरोध अभी भी उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच, तथा अधिरचना और आर्थिक मूलाधार के बीच ही होते हैं।"[18] समाजवादी समाज के बुनियादी अन्तरविरोधों के बारे में माओ का सिद्धान्त मार्क्सवाद-लेनिनवाद को आगे बढ़ाता है, उसकी हिफाजत करता है और उसे विकसित करता है। इसने आधुनिक संशोधनवाद पर एक सांघातिक प्रहार किया है तथा प्रभावशाली ढंग से सर्वहारा वर्ग एवं व्यापक मेहनतकश जनता को हथियारबन्द किया है।

समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास के अनुरूप होते हैं। ऐसा होने से उत्पादक शक्तियां जो तीव्र विकास करती हैं वह पुराने समाज में संभव नहीं होता। सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत राज्य प्रणाली और कानून तथा मार्क्सवाद द्वारा निर्देशित समाजवादी विचारधारा जैसी अधिरचनाएं भी समाजवादी आर्थिक मूलाधार, यानी समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों से मेल खाती है। यह एक बुनियादी पहलू है। लेकिन समाजवादी समाज में उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच तथा अधिरचना और आर्थिक मूलाधार के बीच अन्तरविरोधों का एक दूसरा पहलू भी होता है। समाजवादी समाज के बुनियादी अन्तरविरोधों के विविध पहलुओं के बीच परस्पर मेल

और अन्तरविरोध ही समाजवादी समाज को आगे बढ़ाता है।

समाजवादी समाज में एक निश्चित अवधि तक गैर-समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध भी बरकरार रहते हैं। उदाहरण के लिए, स्वामित्व प्रणाली की दृष्टि से, चीन में संयुक्त राजकीय और निजी उद्यम अपनी प्रकृति में बुनियादी तौर पर समाजवादी थे। लेकिन अब भी पूंजीपति को एक निश्चित दर पर ब्याज मिलता रहता था। दूसरें शब्दों में, पूंजीवादी निजी स्वामित्व का शोषण और अवशेष अभी भी बरकरार थे। यह निश्चित ब्याज खत्म कर दिये जाने के बाद भी, शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था के अवशेष अपेक्षाकृत लम्बे समय तक बरकरार रहे। अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों के मामले में, पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करने वाले वर्गों और मेहनतकश जनता के बीच विरोध भी बरकरार रहा। जहां तक व्यक्तिगत उपभोग की वस्तुओं के वितरण की बात थी, तो अभी भी पूंजीवादी और बुर्जुआ विशेषज्ञों को ऊंचे वेतन दिये जा रहे थे और उनकी सेवाएं एक अवधि तक बरकरार रहीं। ये ऊंचे वेतन प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार और प्रत्येक को उसके श्रम के अनुसार के समाजवादी सिद्धान्त के अनुरूप नहीं, बल्कि वास्तव में उन्हें खरीद लेने का एक रूप थे। ये सभी गैर-समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध केवल उत्पादक शक्तियों के विकास के ही विरोध में नहीं थे, बल्कि समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के भी विरोध में थे। समाजवादी निर्माण की विकास प्रक्रिया में, इन गैर-समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों को क्रमश: रूपान्तरित करते जाना आवश्यक होता है।

दूसरी तरफ, समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध भी एक विकास प्रक्रिया से गुजर कर एक अपूर्ण दशा से एक अधिक पूर्ण दशा में तब्दील होते हैं। समाजवादी समाज में "साम्यवाद आर्थिक रूप से पूरी तरह अभी परिपक्व नहीं हुआ रहता है। अभी यह अपने आप को पूंजीवादी परम्परा और प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं कर सकता।"[19] समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व प्रणाली की स्थापना निजी स्वामित्व प्रणाली का एक बुनियादी निषेष है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि इससे स्वामित्व का मुद्दा पूरी तरह से हल हो जाता है। मेहनतकश जनसमुदायों द्वारा समाजवादी राजकीय स्वामित्व प्रणाली और समाजवादी सामूहिक स्वामित्व प्रणाली के सुदृढ़ीकरण और पूर्ण विकास के लिए इनका एक लम्बी प्रक्रिया से होकर गुजरना आवश्यक है जिसके दौरान सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग आर्थिक नेतृत्व के लिए संघर्ष करते हैं। साथ ही, समाजवादी सामूहिक स्वामित्व का एक छोटे पैमाने की सामूहिक स्वामित्व प्रणाली से एक बड़े पैमाने की सामूहिक स्वामित्व प्रणाली और अन्ततोगत्वा एक समाजवादी राजकीय स्वामित्व प्रणाली में संक्रमण की एक प्रक्रिया से भी होकर गुजरना आवश्यक है। समाजवादी उत्पादन में जहां तक अन्तरवैयक्तिक सम्बन्धों की बात है, तो मजदूर और किसान के बीच, शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के बीच, तथा मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच असमानताएं अभी भी मौजूद रहती हैं, तथा पुराने समाज के अवशिष्ट बुर्जुआ कानूनी अधिकार भी मौजूद रहते हैं जो इन असमानताओं को प्रतिबिम्बित करते हैं। श्रम के अनुसार उपभोक्ता वस्तुओं का वितरण भी एक बुर्जुआ कानूनी अधिकार ही होता है जो अभी बरकरार रहते हैं। ये बुर्जुआ कानूनी अधिकार समाजवादी चरण में एक लम्बे समय तक मौजूद रहते हैं। सर्वहारा वर्ग को इन्हें स्वीकार अवश्य करना चाहिए लेकिन इसी के साथ ऐसी अनुकूल दशाएं भी पैदा करनी चाहिए कि इन्हें इतिहास के मंच से हमेशा-हमेशा के लिए अलविदा किया जा सके।

इन सबके साथ-साथ, उत्पादक शक्तियों का तीव्र विकास करते हुए, जब ऐसी दशाएं आ जायें कि समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के कुछ पहलू उत्पादक शक्तियों के साथ संगत न रह जायें, तब उन्हें समय से समायोजित—और सरल एवं कारगर ढंग से निर्दिष्ट करना भी आवश्यक हो जाता है।

लेकिन, अंतिम विश्लेषण में, यह अनिवार्य है कि समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों को अधिकाधिक पूर्णता प्रदान करने का सवाल संघर्ष की एक ऐसी प्रक्रिया बन जाये कि उसमें से उत्पन्न हो रहे कम्युनिस्ट तत्व धीरे-धीरे पतनशील पूंजीवादी परम्परा और प्रभाव पर विजयी होते जायें।

समाजवादी समाज की अधिरचना आर्थिक अवरचना से कैसे मेल खाती है और कैसे उसके साथ एक अन्तरविरोध में भी होती है—इसे समझने के लिए यह भी जरूरी है कि समाजवादी समाज की अधिरचना का एक ठोस विश्लेषण किया जाये। समाजवादी समाज में, बुर्जुआ विचारधारा भी मौजूद होती है। समाजवादी समाज की अधिरचना में, उदाहरण के तौर पर, राज्य के संगठन में, बुर्जुआ वर्ग के कुछ प्रतिनिधियों की मौजूदगी, काम करने की कुछ नौकरशाहाना शैलियों की मौजूदगी, तथा राज्य प्रणाली में मौजूद कुछ अपूर्णताएं - ये सभी के सभी समाजवादी आर्थिक अवरचना के विरोध में टकराती रहती है। इन अन्तरविरोधों को लगातार हल करते हुए ही अधिरचना समाजवादी आर्थिक आधार को सुदृढ़ और विकसित करने की आवश्यकता पूरी कर सकती है।

समाजवादी समाज के बुनियादी अन्तरविरोध, अपनी प्रकृति और दशा में, पुराने समाज के उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच, तथा अधिरचना और आर्थिक अवरचना के बीच के अन्तरविरोधों से बुनियादी तौर पर भिन्न होते हैं। पूंजीवादी समाज के बुनियादी अन्तरविरोध हिंसक विरोधों और प्रहारों में अभिव्यक्त होते हैं। ये अन्तरविरोध केवल सर्वहारा वर्ग की हिंसक क्रान्ति द्वारा, बुर्जुआ अधिनायकत्व को उखाड़ फेंकने, और पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों को खत्म करने के जरिये ही हल हो सकते हैं। लेकिन समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादक शक्तियों के बीच, तथा अधिरचना और आर्थिक अवरचना के बीच के अन्तरविरोधों का मामला इससे एकदम भिन्न है। इन अन्तरविरोधों का निरन्तर उत्पन्न होना और हल किया जाना भी समाजवादी समाज के साम्यवादी समाज में संक्रमण की ही प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में, मजदूर, किसान और मेहनतकश अवाम, जो कि शासक वर्ग होते हैं, किसी विरोधी सत्ता द्वारा नहीं उखाड़ फेंके जाते। वे समाज के स्वामी बने रहते हैं। सार्वजनिक स्वामित्व प्रणाली ध्वस्त नहीं होती, बल्कि एक और उच्चतर चरण में विकसित होती जाती है। इस अर्थ में, समाजवादी समाज के अन्तरविरोध "शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध नहीं होते, तथा स्वयं समाजवादी प्रणाली द्वारा ही निरन्तर हल किये जाते रहते हैं।"[20]

समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच, तथा अधिरचना और आर्थिक अवरचना के बीच संगति और अन्तरविरोध एक ऐसी सतत् द्वंद्वात्मक प्रक्रिया संघटित करते हैं जो समाजवादी समाज को निरन्तर आगे बढ़ाती रहती है। समाजवादी समाज के बुनियादी अन्तरविरोधों के बारे में माओ का सिद्धान्त ही सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत् क्रान्ति का सैद्धान्तिक आधार है। "चीन में, यद्यपि स्वामित्व का समाजवादी रूपान्तरण बुनियादी तौर पर पूरा कर लिया गया है....", फिर भी "उखाड़ फेंके गये भूस्वामी और दलाल वर्गों के अवशेष अभी भी बरकरार हैं। बुर्जुआ वर्ग अभी भी मौजूद है, और निम्न-बुर्जुआ वर्ग भी बस रूपान्तरण की प्रक्रिया में ही है। सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच वर्ग संघर्ष, भिन्न राजनीतिक शक्तियों के बीच वर्ग संघर्ष तथा विचारधारा के क्षेत्र में सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच संघर्ष अभी भी दीर्घकालिक और पीड़ा दायी बना हुआ है और यहां तक कि कभी-कभी अत्यन्त भीषण हो सकती है।"[21] अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के सिद्धान्त और व्यवहार में पहली बार यह सुस्पष्ट निष्कर्ष निकाला गया कि : उत्पादन के साधनों की स्वामित्व प्रणाली के समाजवादी रूपान्तरण के बाद भी वर्ग और वर्ग-संघर्ष मौजूद रहते हैं। अत: सर्वहारा के लिए आवश्यक है कि वह क्रान्ति को जारी रखे तथा इस लक्ष्य के तहत राजनीतिक, आर्थिक, विचारधारात्मक और सांस्कृतिक मोर्चों पर समाजवादी क्रान्ति को आगे बढ़ाये।

समूचे समाजवादी ऐतिहासिक चरण में पार्टी की बुनियादी लाइन पर दृढ़ता से डटे रहो

माओ त्से-तुङ हमें शिक्षा देते है कि "प्रत्येक चीज इस पर निर्भर

करती है कि विचारधारात्मक और राजनीतिक लाइन सही है या नहीं।" सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत् क्रान्ति पर बल देने के लिए सर्वहारा को एक सही लाइन की आवश्यकता होती है।

समाजवादी समाज के बुनियादी अन्तरविरोधों के एक विस्तृत विश्लेषण एवं सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत् क्रान्ति के अपने सिद्धान्त के आधार पर, माओ ने समूचे समाजवादी ऐतिहासिक चरण के लिए हमारी पार्टी की एक बुनियादी लाइन सूत्रबद्ध की:

"समाजवादी समाज एक अपेक्षाकृत सुदीर्घ ऐतिहासिक चरण होता है। समाजवादी ऐतिहासिक चरण में वर्ग, वर्ग अन्तरविरोध, वर्ग संघर्ष, समाजवादी और पूंजीवादी रास्तों के बीच संघर्ष, तथा पूंजीवादी पुनर्स्थापना के खतरे अभी भी मौजूद होते हैं। इन संघर्षों की दीर्घकालिक और जटिल प्रकृति को हमें पूरी तरह अवश्य समझना चाहिए। हमें सतर्क रहना चाहिए। हमें समाजवादी शिक्षा संचालित करनी चाहिए। हमें वर्ग–अन्तरविरोधों और वर्ग संघर्ष को ठीक से समझना और संचालित करना होगा, हमें अपने शत्रुओं के साथ अपने अन्तरविरोधों तथा जनता के आपसी अन्तरविरोधों के बीच के फर्क को ठीक से समझना और तदनुरूप संचालित करना होगा। अन्यथा, हमारा समाजवादी देश गलत रास्ते पर जाकर पतित हो जायेगा, तथा पूंजीवादी पुनर्स्थापना हो जायेगी। अब से हमें हर साल, हर महीने, और हर दिन इस पर चर्चा करनी होगी ताकि हम इस मुद्दे की तथा एक मार्क्सवादी–लेनिनवादी लाइन को स्पष्ट से स्पष्टतर समझ हासिल करते जायें।"[22] अध्यक्ष माओ द्वारा सूत्रबद्ध यह सर्वहारा क्रान्तिकारी लाइन उस वस्तुगत नियम का उद्घाटन करती है जो समाजवादी काल में वर्ग संघर्ष का नियामक है तथा एकमात्र यही पार्टी के बुनियादी कार्यक्रम को व्यवहार में लागू करने की सही लाइन है। यह बुनियादी लाइन एक प्रखर ज्योतिपुंज है जो पूरी पार्टी, पूरे देश तथा सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत पूरी जनता के लिए सतत् क्रान्ति के ऐतिहासिक पथ को आलोकित करती है।

समाजवादी समाज में वर्ग संघर्ष की दीर्घकालिक प्रकृति का कारण उदीयमान कम्युनिस्ट तत्वों तथा पतनशील पूंजीवादी परम्परा एवं प्रभाव के बीच चलने वाला वह संघर्ष है जो वर्ग सम्बन्धों में अपरिहार्यत: प्रतिबिम्बित होता रहता है। उखाड़ फेंका गया शोषक वर्ग अभी भी जीवित रहता है तथा अपने खोये "स्वर्ग" को फिर से पाने के अपने हर सम्भव प्रयास के तहत सर्वहारा वर्ग से निरन्तर जूझता रहता है। चूंकि पूंजीवाद के पैदा होने की जमीन और परिस्थितियां समाजवादी समाज में अब भी मौजूद रहती हैं, इसलिए नये पूंजीवादी तत्व थोक भाव में पैदा होते रहते हैं। माओ ने इंगित किया है, "लेनिन ने कहा था कि 'छोटे पैमाने का पूंजीवादी उत्पादन दिन–प्रतिदिन, घंटा–प्रतिघंटा, लगातार स्वत:स्फूर्त ढंग से, बड़े पैमाने पर पूंजीवाद और पूंजीपति वर्ग को जन्म देता रहता है।" वे मजदूर वर्ग और पार्टी–सदस्यों के एक हिस्से के बीच से भी पैदा होते हैं। सर्वहारा वर्ग की कतारों में और राज्य तथा अन्य संस्थाओं के पदाधिकारियों के बीच ऐसे लोग हैं जो बुर्जुआ जीवन शैली अपना चुके हैं।" अब भी मौजूद बुर्जुआ प्रभाव और संशोधनवाद का प्रभाव नये बुर्जुआ तत्वों का राजनीतिक और विचारधारात्मक स्रोत है। और बुर्जुआ अधिकारों की मौजूदगी उनके पैदा होने के लिए एक महत्वपूर्ण आर्थिक आधार मुहैया करती है। इसी के साथ, साम्राज्यवाद और सामाजिक साम्राज्यवाद हमेशा इस जीतोड़ कोशिश में लगे रहते हैं कि कैसे समाजवादी देशों को पूंजीवादी देशों या यहां तक औपनिवेशिक या अर्द्धऔपनिवेशिक देशों में तब्दील कर दिया जाये। अत: समाजवादी देशों में अन्तरराष्ट्रीय वर्ग संघर्ष का प्रतिबिम्बित होना भी अपरिहार्य ही है।

सर्वहारा वर्ग और उसके नेतृत्व के अन्तर्गत व्यापक जनसमुदाय ही समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के प्रतिनिधि होते हैं। वे दृढ़तापूर्वक समाजवादी मार्ग पर डटे रहते हैं तथा सतत क्रान्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त एवं चरणबद्ध क्रान्तिकारी विकास के सिद्धान्त पर भी हमेशा दृढ़तापूर्वक डटे रहते हैं। वे समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों एवं अधिरचना के सतत् सुदृढ़ीकरण एवं पूर्ण विकास को आगे बढ़ाते रहते हैं। बुर्जुआ वर्ग और कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर इसके एजेण्ट पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के प्रतिनिधि होते हैं। वे पूंजीवादी रास्ते पर चलने का आग्रह करते हैं तथा समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों को पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों में रूपान्तरित कर देने की हमेशा जीतोड़ कोशिश करते रहते हैं। इसप्रकार, समूचे समाजवादी ऐतिहासिक चरण में, सर्वहारा वर्ग पूंजीपति वर्ग के बीच तथा समाजवादी मार्ग और पूंजीवादी मार्ग के बीच संघर्ष वस्तुगत रूप से हमेशा मौजूद रहता है जिसे मानवीय इच्छा द्वारा नहीं बदला जा सकता है। कहने का मतलब यह है कि ये संघर्ष अपरिहार्य है। भले ही लोग इससे बचना चाहें, परन्तु ऐसा सम्भव नहीं हैं सर्वहारा केवल संघर्षों के द्वारा अनुकूल परिस्थितियां निर्मित कर और उनका लाभ उठाकर ही विजय हासिल कर सकता है।

माओ त्से–तुङ ने कहा है: "लेनिन ने बुर्जुआ वर्ग पर अधिनायकत्व लागू करने की बात क्यों की है? इस प्रश्न पर स्पष्ट हो लेना अनिवार्य है। इस प्रश्न पर स्पष्टता का अभाव संशोधनवाद की ओर ले जाएगा। इसे पूरे राष्ट्र को बता दिया जाना चाहिए।" माओ के इस निर्देश का सर्वहारा अधिनायकत्व को सुदृढ़ करने, पूंजीवादी पुनर्स्थापना को रोकने, समाजवाद के निर्माण तथा साम्यवाद की स्थापना में बहुत अधिक तात्कालिक एवं दूरगामी महत्व हैं। क्रान्तिकारी विकास के सभी चरणों और सभी क्षेत्रों में बुर्जुआ वर्ग पर चौतरफा अधिनायकत्व लागू करके तथा ऐसी स्थितियां निर्मित करके, जिनमें बुर्जुआ तथा सभी शोषक वर्गों का जीवित रहना असम्भव हो और नये बुर्जुआ तत्व न पैदा हो सके; सर्वहारा वर्ग सर्वहारा अधिनायकत्व के ऐतिहासिक कार्यभार को पूरा कर सकता है तथा साम्यवाद के महान लक्ष्य तक पहुंच सकता है।

समाजवादी समाज में वर्ग संघर्ष तरंग जैसे गतियों में आगे बढ़ता है जिसमें चढ़ाव और उतार दोनों ही शामिल हैं। इसका कारण वर्ग संघर्ष की मौजूदगी या गैर मौजूदगी में नहीं बल्कि वर्गसंघर्ष की परिस्थितियों में पाये जाने वाले अन्तरों में निहित है। समाजवादी समाज का इतिहास हमें बताता है कि इसमें वर्गशत्रु एवं हर प्रकार के राक्षस और बेढब तत्व प्रकट होते रहते हैं। माओ ने कहा था : "सम्पूर्ण अव्यवस्था के बाद सम्पूर्ण व्यवस्था पैदा होती है। यह चक्र प्रत्येक सात या आठ वर्षों के बाद एक बार आता रहता है। इसमें राक्षस और बेढब तत्व अपने आप प्रकट होते रहते हैं। उनकी वर्ग प्रकृति अनिवार्यत: उन्हें प्रकट करती रहती है।"[23] अत: वर्गसंघर्ष के नियम की ही यह आवश्यकता है कि प्रत्येक कुछ वर्षों पर एक बड़ा संघर्ष हो। केवल बार–बार संघर्ष करके और प्रतिक्रियावादी वर्ग को क्रमश: ह्रासमान करते हुए ही सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग एवं सभी शोषक वर्गों को समाप्त करने का महान ऐतिहासिक कार्यभार अन्तत: पूरा कर सकेगा।

समाज के वर्ग संघर्ष का पार्टी के भीतर भी प्रतिबिम्बित होना अपरिहार्य ही है, जो पार्टी के भीतर दो लाइनों के बीच संघर्ष के रूप में अभिव्यक्त होता है। पार्टी की बुनियादी लाइन का सार ही है "मार्क्सवाद को लागू करना, न कि संशोधनवाद को लागू करना।" पार्टी की यह बुनियादी लाइन हमें बताती है कि संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष एक दीर्घकालिक संघर्ष होता है। पिछले बीस या कुछ अधिक वर्षों में, हमारी पार्टी तथा काओ काङ, जाओ श्यू–शीद, पेङ ते–हुआई, लिऊ शाओ–ची, और लि पियाओ के नेतृत्व में चार पार्टी–विरोधी गुटों, के बीच जो संघर्ष चला था वह संशोधनवाद के विरुद्ध ही एक संघर्ष था। अध्यक्ष माओ ने व्यक्तिगत तौर पर महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का अभियान चलाया और नेतृत्व किया। यह अधिरचना में एक महान क्रान्ति थी, सर्वहारा अधिनायकत्व की परिस्थिति के अन्तर्गत एक महान राजनीतिक क्रान्ति थी। इसे चीन की "दूसरी क्रान्ति" भी कहा जा सकता है। इस महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति में, माओ ने लिऊ शाओ–ची और लिन–पियाओ के अधीनस्थ दो बुर्जुआ नियंत्रणकारी सदर मुकामों को नष्ट करने के लिए पूरी पार्टी, सभी सशस्त्र सेनाओं, और समूची जनता का नेतृत्व किया। गद्दारी और विश्वासघातियों की इस मण्डली ने पार्टी और राज्य को सर्वोच्च सत्ता को हड़प लेने का

षड्यंत्र किया था और मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टी को एक संशोधनकारी फासिस्ट पार्टी में तब्दील कर डालने, सर्वहारा अधिनायकत्व को ध्वस्त कर डालने, और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना कर डालने की गरज से समूचे समाजवादी ऐतिहासिक चरण के लिए निर्धारित पार्टी की बुनियादी लाइन और नीति को आमूलचूल बदल डालने की कोशिश की थी। उनकी संशोधनवादी लाइन का सार धुर दक्षिणपंथ ही था। लेकिन चीन की लाखों-करोड़ों जनता ने उनके प्रतिक्रान्तिकारी षड्यंत्र को कुचल डाला। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति ने एक महान विजय हासिल की। लेकिन क्रान्ति अभी भी विकास के रास्ते पर है, और संघर्ष अभी भी जारी है। समाजवादी समाज के ऐतिहासिक चरण में, पार्टी के भीतर वर्ग संघर्ष को प्रतिबिम्बित करने वाला दो लाइनों का आपसी संघर्ष लम्बे समय तक जारी रहेगा। माओ ने इंगित किया है मौजूदा महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति महज पहली है। अभी आगे और कई ऐसी क्रान्तियां होगी। क्रान्ति में कौन विजयी होगा – इसका निर्धारण केवल एक लम्बे ऐतिहासिक काल के बाद ही हो सकेगा। यदि इसे ठीक से संचालित नहीं किया गया, तो पूंजीवादी पुनर्स्थापना किसी भी समय हो सकती है। सभी पार्टी सदस्यों और पूरी जनता को यह नहीं सोच लेना चाहिए कि एक या दो, या तीन या चार, महान सांस्कृतिक क्रान्तियां कर लेने के बाद ही सारी चीजें एकदम ठीक-ठाक हो जायेंगी। यह पूरी तरह सुनिश्चित रखें कि सतर्कता कभी ढीली न पड़े।[24]

समाजवादी समाज जनता द्वारा सचेतन रूप से इतिहास निर्माण का सूत्रपात करता है

मानव विकास के इतिहास की महान उत्कर्षी छलांग

सर्वहारा वर्ग और मेहनतकश जनता सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति को जारी रखती है ताकि अधिरचना को समाजवादी आर्थिक अवरचना की सेवा में लगा सके, उत्पादन सम्बन्धों को उत्पादक शक्तियों के विकास की सुसंगति में ला सके, तथा समाज और प्रकृति को समाजवाद के आर्थिक नियम के अनुसार सचेत रूप से रूपान्तरित कर सके। मानव-इतिहास में यह एक विराट कदम है।

लिखित मानव इतिहास कई हजार वर्ष पुराना है। लेकिन समाजवादी समाज के उदय से पूर्व, इतिहास का यह लम्बा काल मानव इतिहास में महज एक "प्रागैतिहासिक काल" भर ही रहा है। इसमें उत्पादनकर्ता सिर्फ प्रकृति का ही गुलाम नहीं था बल्कि वह अपने द्वारा निर्मित उत्पादन के साधनों का भी गुलाम था। "उत्पादन के साधनों पर उत्पादक का नहीं, बल्कि उत्पादन के साधनों का ही उत्पादक पर नियंत्रण था।"[25] या यों कहें कि शोषक वर्ग जो उत्पादन के साधनों पर और इस प्रकार राज्य की राजनीतिक सत्ता पर नियंत्रण करता था, वही व्यापक मेहनतकश आबादी का विद्वेषपूर्वक उत्पीड़न और शोषण भी करता था तथा उन्हें अंधकारमय एवं दयनीय जीवन जीने को विवश कर देता था। लेकिन सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति तो बसंत का वह वज्रनाद है जिसने मानव इतिहास को झकझोर दिया है। इसने इस "प्रागैतिहासिक काल" का अन्त कर दिया है और इतिहास के एक ऐसे नये युग का सूत्रपात्र कर दिया है जिसमें जनता सचेत तौर पर इतिहास का निर्माण कर रही है।

मानव इतिहास में इस महान छलांग का भौतिक आधार तब निर्मित हुआ हे जब सर्वहारा और मेहनतकश जनता ने राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करके उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व को समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व में तब्दील किया। समाजवादी समाज में, उत्पादन के साधनों का सार्वजनिक स्वामित्व बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी को राज्य और उद्यमों का स्वामी बना देता है। और जब यह मेहनतकश आबादी सामाजिक सम्बन्धों का स्वामी बन जाती है, तभी वह प्रकृति का स्वामी बन सकती है और तभी वह मार्क्सवाद के मार्गदर्शन में दुनिया को सचेत तौर पर बदल सकती है और इतिहास का निर्माण कर सकती है।

एक विकसित साम्यवादी समाज की तुलना में, यह स्वाभाविक बात है कि समाजवादी समाज अभी उस युग का महज एक आरम्भ ही है जिसमें जनता सचेत तौर पर इतिहास का निर्माण कर रही है। उत्पादक शक्तियों के विकास स्तर और इस भौतिक जगत के हमारे ज्ञान की सीमाओं के अतिरिक्त, समाजवादी समाज की मुख्य बाधा इसमें बुर्जुआ वर्ग और उसके विचारधारात्मक प्रभाव तथा मजदूर और किसान, शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों, एवं मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच असमानताओं की निरन्तर मौजूदगी है। अतः भले ही राज्य की राजनीतिक सत्ता और उत्पादन के साधनों पर सर्वहारा वर्ग और व्यापक मेहनतकश जनता का नियंत्रण हो जाता है, लेकिन दुनिया को बदलने और इतिहास को सृजित करने की उनकी सचेत गतिविधियां अभी भी इतिहास द्वारा प्रतिबंधित होती हैं। फिर भी, "सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि बर्फ तोड़ दी गयी है, रास्ता साफ कर दिया गया है और मार्ग स्पष्ट है।"[26] सर्वहारा वर्ग इस समाजवादी मार्ग पर चलते हुए अन्ततः एक नयी, साम्यवादी दुनिया में प्रवेश करेगा।

अधिरचना की पहलकारी भूमिका का भरपूर इस्तेमाल करो वस्तुगत नियमों का सचेत उपयोग करो

समाजवादी समाज में, जनता सचेत तौर पर अपना इतिहास रचने लगती है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि जनता मनमाना इतिहास रच सकती है। इसका मतलब सिर्फ इतना है कि पहली बार ऐसा सम्भव हुआ है जब समूचे समाज की जनता सर्वहारा वर्ग और व्यापक मेहनतकश आबादी के हितों की सेवा करने वाले वस्तुगत नियम की शिनाख्त कर सकती है और उसे इस्तेमाल कर सकती है।

"स्वतंत्रता में अपरिहार्य का ज्ञान और वस्तुगत जगत का रूपान्तरण दोनो शामिल हैं।"[27] आर्थिक नियम सामाजिक अर्थव्यवस्था का नियमन करने वाले वस्तुगत नियम होते हैं जो मानव इच्छा के अनुसार परिवर्तनीय नहीं हैं। जनता वस्तुगत नियमों को "रूपान्तरित" या "सृजित" नहीं कर सकती। लेकिन जनता वस्तुगत नियमों के आगे एकदम असहाय भी नहीं है। समाजवादी समाज में, जनता उनकी सही शिनाख्त कर सकती है, उन पर भरोसा कर सकती है, उनका उपयोग कर सकती है, तथा कुछ नियमों की विनाशकारी शक्तियों को किसी अन्य दिशा में मोड़ या उनकी क्रियाशीलता की सम्भावना को प्रतिबन्धित कर सकती है। दूसरी तरफ, जो नियम रचनात्मक हैं उन्हें इस वस्तुगत जगत के रूपान्तरण के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए एक व्यापकतर संभावना के साथ इस्तेमाल किया जा सकता है।

भिन्न-भिन्न सामाजिक प्रणालियों के अन्तर्गत जिन-जिन रूपों में ये आर्थिक नियम लागू होते हैं उनकी अभिलाक्षणिकताएं भी भिन्न-भिन्न होती है। पूंजीवादी समाज में, उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व के चलते, उत्पादन का कार्य अंधी प्रतियोगिता और अराजकता की दशाओं में होता है। इसलिए, पूंजीवादी समाज में, आर्थिक नियम भी हमेशा एक विजातीय भूमिका ही निभाते हैं। परन्तु समाजवादी समाज उत्पादन के साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित होता है। इसमें मेहनतकश आबादी ही सामाजिक आर्थिक सम्बन्धों का स्वामी होती है। इसी से जनता द्वारा आर्थिक नियमों का सचेत इस्तेमाल सम्भव हो जाता है। जैसा कि एक बार एंगेल्स ने भविष्यवाणी की थी, "जबतक प्राकृतिक नियमों की भांति, जनता के सामाजिक व्यवहार का नियमन करने वाले नियम जो जनता से विजातीय रहकर भी उसका नियंत्रण और विरोध करते रहे हैं, अब जनता के कौशल से उसके अधीन हो जायेंगे और तब स्वयं उसी के द्वारा नियंत्रित होने लगेंगे।"[28]

उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व की एक प्रणाली स्थापित हो जाने पर जनता द्वारा आर्थिक नियमों की शिनाख्त और उनके अनुसार कार्य करना सम्भव हो जाता है। लेकिन इस सम्भावना को यथार्थ में बदलने के लिए संघर्ष अनिवार्य है। आर्थिक नियमों के अनुसार काम करने की

सर्वहारा वर्ग की कोशिशों और एक साम्यवादी समाज में रूपान्तरण को त्वरान्वित करने की समाज की कोशिशों को निश्चय ही बुर्जुआ वर्ग और अन्य पतनशील सामाजिक शक्तियों के हिंसक प्रतिरोध, और खासतौर से संशोधनवादी लाइन के हस्तक्षेप और तोड़-फोड़ की कार्यवाहियों से जूझना पड़ता है। समाजवादी आर्थिक नियमों के सचेत प्रयोग की प्रक्रिया ही सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच, मार्क्सवादी लाइन और संशोधनवादी लाइन के बीच संघर्ष की प्रक्रिया है। इसके साथ-साथ, जनता को समाजवादी समाज के आर्थिक विकास के वस्तुगत नियम और हमारे मनोगत ज्ञान के बीच के अन्तरविरोध को व्यवहार में हल करने की भी जरूरत पड़ती है।[29] इससे एक दूसरी प्रक्रिया प्रस्तुत हो जाती है। इसके तहत यह आवश्यक हो जाता है कि शुरुआत व्यवहार से की जाये, खोज और अनुसंधान किये जायें, अनुभवहीनता से अनुभव की ओर एवं कम अनुभव से ढेर सारे अनुभव की ओर बढ़ा जाये, तथा धीरे-धीरे अपने आवेगों पर काबू पाते हुए चेतना को उन्नत किया जाये। समझदारी की इस प्रक्रिया में जनता के विश्वदृष्टिकोण के रूपान्तरण के काम को तिलांजलि नहीं दी जा सकती। कारण कि सर्वहारा विश्वदृष्टिकोण से लैस होकर ही जनता समाजवादी अर्थव्यवस्था के विकास का नियमन करने वाले नियमों की अधिक सही शिनाख्त कर सकती है। बुर्जुआ दृष्टिकोण पर दृढ़ता से चिपके रहने वाले समाजवादी अर्थव्यवस्था के विकास का नियमन करने वाले नियमों की कभी भी सही शिनाख्त नहीं कर सकते। इस प्रकार समझदारी की यह प्रक्रिया बुर्जुआ विश्वदृष्टिकोण को नष्ट करने और सर्वहारा विश्वदृष्टिकोण को स्थापित करने की भी प्रक्रिया है। ऐसे दृष्टिकोण गलत हैं जो यह मानते हैं कि समाजवादी समाज में आर्थिक नियमों का सचेत प्रयोग एक ऐसा आसान मामला है जिसमें न तो कठिन श्रम की आवश्यकता पड़ती है, न बुर्जुआ वर्ग के प्रतिरोध और संशोधनवादी लाइन के हस्तक्षेप से निपटने की आवश्यकता पड़ती है, और न ही इन दो विश्व दृष्टिकोणों के बीच संघर्ष की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे दृष्टिकोणों की दलील यह होती है: प्रकृति को अपना काम करने दो, या वर्ग संघर्ष को तिलांजलि दे दो।

समाजवादी समाज में, वस्तुगत आर्थिक नियमों को सचेत ढंग से लागू करने के लिए, यह जरूरी है कि अधिरचना के सक्रिय पक्ष का भरपूर इस्तेमाल किया जाये।

समाजवादी अधिरचना की प्रचण्ड क्षमता मुख्य तौर पर सर्वहारा राजनीतिक पार्टी के नेतृत्व में अभिव्यक्त होती है। यह सर्वहारा राजनीतिक पार्टी मार्क्सवादी क्रान्तिकारी सिद्धान्त और क्रान्तिकारी कार्यशैली के अनुसार स्थापित की जाती है। यह ऐतिहासिक विकास का नियमन करने वाले वस्तुगत नियमों को समझने, जनसमुदायों की बुद्धिमानी को आत्मसात करने, ऐतिहासिक विकास की आम प्रवृत्ति का गहराई से बोध करने, तथा सामाजिक विकास के भिन्न-भिन्न चरणों के लिए वास्तविक परिस्थितियों पर आधारित सही सिद्धान्त, कार्यक्रम, लाइनें, तथा सामान्य और विशिष्ट नीतियां सूत्रबद्ध करने में सक्षम होती हैं। ये सही सिद्धान्त, कार्यक्रम, लाइनें तथा सामान्य और विशिष्ट नीतियां जनता से प्राप्त होती हैं और पुन: जनता की ही वापस कर दी जाती हैं, जो उन्हें अपने संघर्ष में विजय की ओर ले जाती हैं। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी मार्क्सवाद-लेनिनवाद -माओ त्से-तुङ विचारधारा को अपनी मार्गदर्शक विचारधारा के रूप में इस्तेमाल करती है। पार्टी का क्रान्ति का सिद्धान्त, खासतौर से सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत् क्रान्ति के बारे में इसका सिद्धान्त, तथा मार्क्सवादी लाइन और सर्वहारा राजनीतिक पार्टी द्वारा सूत्रबद्ध सामान्य और विशिष्ट नीतियां अजेय हैं, कारण कि ये सिद्धान्त समाज के आर्थिक विकास का नियमन करने वाले वस्तुगत नियमों को सही-सही प्रतिबिम्बित करते हैं। "बिना क्रान्तिकारी सिद्धान्त के, कभी क्रान्तिकारी कार्यवाई नहीं की जा सकती।"[30] इसलिए जरूरी है कि सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत क्रान्ति से सम्बन्धित मार्क्सवादी सिद्धान्त का गम्भीरता से अध्ययन किया जाय, ताकि हमें समाजवादी समाज का नियमन करने वाले आर्थिक नियमों की सही शिनाख्त और तदनुरूप कार्यवाई करने के लिए मार्गदर्शन मिल सके।

पार्टी नेतृत्व अन्तत: मार्क्सवादी लाइन का ही नेतृत्व होती है। विचारधारात्मक दायरे समेत अधिरचना में क्रान्ति करने की गहरी समझ हासिल करके तथा विचारधारात्मक और राजनीतिक लाइनों के सही होने को सुनिश्चित करके ही, एक मार्क्सवादी पार्टी सर्वहारा क्रान्तिकारी उद्यम को विजय से और भी बड़ी विजय की ओर ले जा सकती है।

कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व के अन्तर्गत सर्वहारा राज्य की राजनीतिक सत्ता पार्टी की बुनियादी लाइन को विधिवत लागू करने की गारंटी देने और समाजवादी अर्थव्यवस्था को संगठित करने एवं नेतृत्व देने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। सर्वहारा वर्ग अपने राज्य की राजनीतिक सत्ता का इस्तेमाल करके ही आर्थिक मोर्चे पर समाजवादी क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है, समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों को स्थापित और विकसित कर सकता है, समूची राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का नियोजन, संगठन और नेतृत्व कर सकता है, सामाजिक उत्पादन की शक्तियों को विकसित कर सकता है, तथा समाजवादी अधिरचना को निरन्तर पूर्णता की दिशा में विकसित कर समाजवादी आर्थिक आधार का सुदृढ़ीकरण करने की गरज से राजनीतिक विचारधारात्मक और सांस्कृतिक मोर्चों पर समाजवादी क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत क्रान्ति करने के लिए सर्वहारा अधिनायकत्व वाले राज्य की राजनीतिक सत्ता की इस पहलकारी भूमिका के भरपूर इस्तेमाल की आवश्यकता पड़ती है। ये परिस्थितियां बुर्जुआ अधिनायकत्व के अन्तर्गत नहीं पैदा हो सकतीं। बुर्जआ क्रान्ति तो तभी खत्म हो जाती है जब बुर्जुआ वर्ग राजनीतिक सत्ता हासिल कर लेता है। हालांकि बुर्जुआ वर्ग पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों की रक्षा में राजनीतिक सत्ता तथा अधिरचना के अन्य अंगों के इस्तेमाल की जीतोड़ कोशिश करता है, लेकिन उत्पादन सम्बन्धों का उत्तरोत्तर पुराना पड़ते जाने के साथ ही बुर्जुआ राज्य अपनी क्रान्तिकारी भूमिका खो देता है और उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन तथा उत्पादक शक्तियों के विकास की बेड़ियां बन जाता है। इस प्रकार की रक्षात्मक कार्यवाई सिर्फ एक मरणासन्न संघर्ष ही साबित होती है। लेकिन जहां तक समाजवादी क्रान्ति की बात है, सर्वहारा वर्ग द्वारा राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करना तो क्रान्ति की महज शुरुआत भर है। इसके तहत समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध, उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ-साथ, एक पुनरुत्पादक प्रक्रिया से होकर गुजरते हैं। सर्वहारा अधिनायकत्व वाले राज्य की राजनीतिक सत्ता इस पुनरुत्पादन प्रक्रिया को प्रोत्साहन देती हुई तथा उत्पादक शक्तियों के विकास को आगे बढ़ाती हुई अन्तत: एक ऐसा सर्वशक्तिशाली हथियार सिद्ध होती है जिसकी बदौलत सर्वहारा वर्ग समाजवादी क्रान्ति को जारी रखता है। इस हथियार से लैस होकर अब सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग और अन्य प्रतिक्रियावादी शक्तियों को कुचल सकता है, अपने इर्दगिर्द सम्पूर्ण मेहनतकश जनता को एकबद्ध कर सकता है, वर्ग संघर्ष, उत्पादन संघर्ष, और वैज्ञानिक प्रयोग के तीन महान क्रान्तिकारी आन्दोलनों का विजयोन्मुख मार्ग प्रशस्त कर सकता है, सामाजिक उत्पादन की शक्तियों के तीव्र विकास को प्रोत्साहित कर सकता है, तथा जब तक साम्यवाद का सर्वोच्च लक्ष्य हासिल नहीं हो जाता तबतक पार्टी की बुनियादी लाइन के आधार पर समाजवादी समाज को आगे बढाते रहने के लिए समाजवादी आर्थिक आधार और अधिरचना के तीव्र सुदृढीकरण को प्रोत्साहित कर सकता है।

अध्ययन के लिए प्रमुख सामग्री

मार्क्स, गोथा कार्यक्रम की आलोचना

लेनिन, "सर्वहारा अधिनायकत्व के युग मे अर्थशास्त्र तथा राजनीति"

माओ त्से-तुङ, "जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में"

समीक्षात्मक प्रश्न

1. यह क्यों कहा जाताा है कि हिंसक क्रान्ति सर्वहारा क्रान्ति का सार्वभौमिक नियम है? "उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त" की असलियत क्या है?

2. समाजवादी समाज को कैसे समझा जाए? सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत क्रान्ति के सैद्धान्तिक आधार के तौर पर समाजवादी समाज के बुनियादी अन्तरविरोध के बारे में माओ के सिद्धान्त को कैसे व्याख्यायित करते हैं?

3. यह क्यों कहते हैं कि समूचे समाजवादी ऐतिहासिक चरण में सर्वहारा वर्ग और संशोधनवादी नेताओं के बीच संघर्ष का केन्द्रबिन्दु इस सवाल में निहित है कि क्या पार्टी की बुनियादी लाइन पर अडिगता कायम है या कि उसे बदल दिया गया है? अधिरचना की उत्प्रेरक भूमिका को कैसे इस्तेमाल किया जा सकता है और वस्तुगत आर्थिक नियमों को कैसे लागू किया जा सकता है?

टिप्पणियां

1. माओ त्से-तुङ, सोवियत संघ की सुप्रीम सोवियत द्वारा महान अक्टूबर क्रान्ति की चालीसवीं वर्षगांठ पर आयोजित सम्मेलन पर वार्ता, अंग्रेजी संस्करण, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, 1957, पृ. 5.

2. मार्क्स, **"राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना** की भूमिका," मार्क्स-एंगेल्स की चुनी हुई कृतियां, खण्ड 2, अंग्रेजी संस्करण, वि. भा. प्र. गृ. , 1972, पृ. 82-83.

3. एंगेल्स, **ड्यूहरिंग मत-खण्डन**, मार्क्स-एंगेल्स की **चुनी हुई कृतियां,** खण्ड 2, अंग्रेजी संस्करण, वि. भा. प्र. गह, 1972 पृ. 320.

4. "युद्ध एवं रणनीति सम्बन्धी समस्याएं'' **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं**,भाग दो, अंग्रेजी संस्करण, वि. भा. प्र. गह, 1968 पृ. 512.

5. मार्क्स, "फ्रांस में गृह युद्ध", **मार्क्स-एंगेल्स की चुनी हुई कृतियां**, खण्ड 2, अंग्रेजी संस्करण, वि. भा. प्र. गह, 1972 पृ. 372.

6. "चिन-सुई कार्यकर्ताओं के सम्मेलन में भाषण", **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं,** भाग 4, अंग्रेजी संस्करण, वि. भा. प्र. गह, 1968 पृ. 1211.

7. "युद्ध एवं रणनीति सम्बन्धी समस्याएं", पृ. 506.

8. एंगेल्स, "युएह-पो-लो-हेह के लिए : (21-22 सितम्बर, 1890)", **मार्क्स-एंगेल्स की चुनी हुई कृतियां,** खण्ड 4, अंग्रेजी संस्करण, वि. भा. प्र. गह, 1972 पृ. 477.

9. "हमारे देश की क्रान्ति के बारे में", **लेनिन की सम्पूर्ण कृतियां**, खण्ड 33, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 433-434.

10. "सरकार के बारे में", **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं,** भाग 3, अंग्रेजी संस्करण, वि. भा. प्र. गह, पृ. 981.

11. "अन्तरविरोध के बारे में", **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं**, भाग 1, अंग्रेजी संस्करण, वि. भा. प्र. गृ., 1968 पृ. 300.

12. मार्क्स, गोथा कार्यक्रम की आलोचना, **मार्क्स-एंगेल्स की चुनी हुई कृतियां**, खण्ड 3, अंग्रेजी संस्करण, वि. भा. प्र. गृह, 1972 पृ. 21

13. उपरोक्त , पृ 10.

14. "सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थनीति और राजनीति", लेनिन की सम्पूर्ण कृतियां, खण्ड 4, अंग्रेजी संस्करण, वि. भा. प्र. गृह, 1972 पृ. 84.

15. "ख्रुश्चेव का नकली कम्युनिज्म और विश्व इतिहास के लिए इसके सबक", से उद्धत, अंग्रेजी संस्करण, वि. भा. प्र. गृह, 1964 पृ. 52.

16. ''रेड फ्लैग'' से उद्धत, 1969, अंक 5

17. ''रेड फ्लैग'' से उद्धत, 1971, अंक 7-8

18. ''जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में'', **सेलेक्टेड रीडिंग्स फ्रॉम दि वर्क्स ऑफ माओ त्से-तुङ**, भाग 1, वि. भा. प्र. गृ. 1965, पृ. 336

19. ''राज्य और क्रान्ति'', लेनिन की चुनी हुई कृतियां, **खण्ड 3, अं. सं. ,** वि. भा. प्र. गृ. 1972, पृ. 256.

20. ''जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में'', पृ. 336

21. उपरोक्त, पृ. 352

22. ''रेड फ्लैग'' से उद्धत, 1967, अंक 10

23. ''पार्टी संविधान में संशोधन पर रिपोर्ट'', वाङ हुङ वेन, से उद्धत, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की दसवीं राष्ट्रीय कांग्रेस के दस्तावेज, वि. भा. प्र. गृ. 1973, पृ. 43.

24. ''रेड फ्लैग'' से उद्धत, 1967, अंक 7

25. एंगेल्स, **ड्यूहरिंग मत-खण्डन**, पृ. 330

26. ''अक्टूबर क्रान्ति की चौथी वर्षगांठ'', **लेनिन की चुनी हुई कृतियां, खण्ड 4, अं. सं.,** वि. भा. प्र. गृ. 1972, पृ. 570.

27. अध्यक्ष माओ के उद्धरण, **पीपुल्स डेली** से उद्धत, 11 अप्रैल, 1966.

28. एंगेल्स, **ड्यूहरिंग मत-खण्डन**, पृ. 323.

29. ''जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में'', पृ. 363

30. ''क्या करें'', **लेनिन की चुनी हुई कृतियां, खण्ड 1, अं. सं.,** वि. भा. प्र. गृ. 1972, पृ. 241.

(चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान तैयार की गयी पुस्तक ***फंडामेंटल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी*** *(शंघाई टेक्स्टबुक के नाम से प्रसिद्ध का हिन्दी रूपान्तर। जार्ज सी. वाङ द्वारा सम्पादित तथा M.E. Sharpe Inc. North Broadway, White Plains, New York 10603 से प्रकाशित अंग्रेजी संस्करण से हिन्दी अनुवाद :* ***विश्वनाथ मिश्र****)*

राहुल फाउण्डेशन का एक महत्वपूर्ण प्रकाशन

बिगुल पुस्तिका - एक

कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढांचा

❑ व्ला.ई. लेनिन

मूल्य - पांच रुपए

लेनिन द्वारा प्रतिपादित बुनियादी सांगठनिक उसूलों को सरल रूप में और सूत्रवत् प्रस्तुत करने वाली दुर्लभ पुस्तिका, जिसका न केवल ऐतिहासिक महत्व है, बल्कि जो मजदूर वर्ग तथा कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं के लिए बेहद जरूरी किताब है।

राहुल फाउण्डेशन के अन्य प्रकाशन

दायित्वबोध पुस्तिका - एक

अनश्वर है सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएं

(अप्राप्य, दूसरा संस्करण शीघ्र प्रकाश्य) ■ **दीपायन बोस**

दायित्वबोध पुस्तिका - दो

समाजवाद की समस्याएं, पूंजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति

मूल्य - बारह रुपए ■ शशि प्रकाश

दायित्वबोध पुस्तिका - तीन

क्यों माओवाद?

मूल्य - दस रुपए ■ शशि प्रकाश

प्राप्ति के लिए लिखें अथवा सम्पर्क करें :

- राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वासखण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226010
- जनचेतना स्टाल, हजरतगंज (निकट काफी हाउस) लखनऊ - (सांय 5 से 7.30 बजे तक)
- जनचेतना, जाफरा बाजार, गोरखपुर - 273001

इस वर्ष त्योहारों में पाइए असली धमाका!
Godrej
STORWEL
सैंचुरी
धमाका
धमाकेदार ऑफ़र!
रु. 1000/-* तक की छूट.
गोद्रेज के 100 साल मनाने के लिए.
FCB+ULKA 12925-HIN B
ज़ल्दी! ये आतिशबाज़ी सिर्फ़ 31 अक्तूबर, '97 तक.
* ऑफर सिर्फ होम माडलों पर, और चुने गए माडलों के अनुसार अलग-अलग.

अंधकार को क्यों धिक्कारें
अच्छा है एक दीप जलाएँ
एक एक भी अगर पढ़ाएँ
सारे अनपढ़ पढ़ लिख जाएँ

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन

 पंजीयन संख्या - 56076/92

उ. प्र. आवास एवं विकास परिषद

104, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ

परिषद की वर्तमान उपलब्धियाँ

1. परिषद द्वारा अब तक 1,81156 नग सम्पत्ति जनता के लिए निर्मित की गयी है। जिनमें 1,28,350 नग दुर्बल आय वर्ग के लिए है।
2. परिषद का कार्य क्षेत्र 130 नगरों में है।
3. परिषद द्वारा 8893.79 एकड़ भूमि विकसित की गयी है।
4. परिषद द्वारा 12,783.83 एकड़ भूमि अधिगृहित की गयी है।

परिषद की सम्पत्तियों को फ्री–होल्ड कराने की योजना प्रारम्भ

1. प्रदेश के विभिन्न नगरों में परिषद द्वारा पूर्व में लीज पर भवनों/भूखण्डों को आवन्टित किया गया था। ऐसे सभी भवनों/भूखण्डों को फ्री-होल्ड में परिवर्तित करने की योजना परिषद द्वारा आरम्भ की जा चुकी है।
2. प्रदेश के सभी सम्पत्ति प्रबन्ध कार्यालय में भवनों/भूखण्डों को फ्री-होल्ड कराने सम्बन्धी आवेदन-पत्र, नियम एवं विवरण पुस्तिका उपलब्ध है। अत: समस्त आवन्टी अपने भवन/भूखण्ड को फ्री-होल्ड करा सकते है।

परिषद द्वारा आम जनता को दी जाने वाली सुविधाएं

1. परिषद व हडको के सहयोग से निर्मितीकेन्द्रो की स्थापना की गयी है, जिनको जन आन्दोलन के रूप में चलाया जायेगा।
2. निर्मितीकेन्द्रो के माध्यम से जनता को सस्ते मजबूत तथा उपयोगी घर बनाने की तकनीकी सलाह मुफ्त दी जायेगी।
3. प्रदेश की जनता श्रमिकों एवं कारीगरों को इन केन्द्रों में मुफ्त प्रशिक्षण दिया जायेगा।
4. प्रशिक्षत कारीगरों एवं श्रमिकों को अपने निर्मितीकेन्द्र खोलने के लिए तकनीकी सहायता एवं वित्तीय संस्थाओं तथा शासन से अनुदान उपलब्ध कराने में सहयोग दिया जायेगा।
5. समाज के आश्रयहीन व्यक्तियों की सहकारिता समिति बनवायी जायगी ताकि वे संगठित होकर अपना घर अपनी आवश्यकता के अनुसार स्वयं बना सके।
6. घर बनाने के लिए वित्तीय संस्थाओं जैसे हडको आवास संघ परिषद व अन्य से श्रृण उपलब्ध कराने में सहयोग दिया जायेगा।

आवास आयुक्त

हमारा यही प्रयास-आपका अपना आवास

PUNEET ADVERTISING & MEDIA